प्रकाशक—
पं० सिद्धसेन गोयलीय
अखिल विश्व जैन मिशन
(गुजरात प्रान्तीय केन्द्र)
सलाल (साबरकांठा)
गुजरात

१००० प्रतियां : मूल्य सदुपयोग

मुद्रक—
वीरेन्द्र प्रसाद जैन
महावीर मुद्रणालय (प्रेस)
अलीगञ्ज (एटा)
उ० प्र०

* दो शब्द *

श्री १०८ तपोनिधि, अध्यात्मयोगी, प्रात स्मरणीय, परमकृपालु, दिगम्बर जैन मुनिराज श्रीजयसागरजी महाराजका विहार पाच वर्षसे गुर्जर देशमें हो रहा है। आपके सदुपदेशामृतसे गुजरातमें अनेको स्थानोपर जैन पाठशालाओ और औषधालयोकी स्थापना हुई। मिथ्यात्व तथा उसकी पोपक रूढियोको आपके उपदेश से अनेक श्रावक-श्राविकाओ ने त्याग कर आत्मलाभ किया है। यम-नियमादि से तो शायद ही कोई जीव बचा हो—जो महाराज श्री के दर्शन को आया, वह किसी न किसी रूपमें कुछ लेकर अवश्य गया है।

आप तथा सभी मुनि व अन्य त्यागीगण इन दशभक्त्यादि को प्रतिदिन पढते है, कितनी ही विशेप २ समय पर पढी जाती है। इन भक्तियो को पढते समय यदि इनका अर्थज्ञान हो तो फिर और भी विशेष आनन्द आता है। इसीलिये श्री १०८ मुनि जयसागर जी महाराज की आज्ञा व आग्रहसे यह प्रयास किया गया है। यद्यपि प लालाराम जी शास्त्री "धर्मरत्न" तथा नातेपुते के दि० जैन सरस्वतीभवन द्वारा हिन्दी टीकाये प्रकाशित हुई है परन्तु उनमें भावानुवाद है, अन्वयार्थ नही। अत एक २ शब्द, विभक्ति आदि का परिज्ञान हो जावे—तदर्थ यह एक नवीन प्रकाशन किया है।

इन भक्तियो में अधिकतर भक्तिया पूज्यपाद आचार्य श्री १०८ पूज्यपाद स्वामीकी लिखी हुई है। आचार्य पूज्यपादस्वामी कितने प्रौढ और प्राचीन उद्भट विद्वान् आचार्य थे यह बात प्रायः समाजके समस्त जनसाधारण तक जानते है।

इन भक्तियोकी एक सस्कृत टीका है जो आचार्य प्रभाचन्द्र स्वामी की बनाई हुई है। उस टीकामें चैत्यालयकी टीकाके प्रारभमें लिखा है कि—

श्री वर्द्धमानस्वामिन प्रत्यक्षीकृत्य गौतमस्वामी "जयति भगवान" इत्यादि स्तुतिमाह।

अर्थ—गौतमस्वामीने भगवान् महावीर स्वामीके प्रत्यक्ष दर्शन कर "जयति भगवान्" इन शब्दसे प्रारंभ करते हुये स्तुति की।

बृहद्द्रव्यसग्रहकी सस्कृतटीकामें भी लिखा है।

ततश्च जयति भगवान् इत्यादि नमस्कार कृत्वा जिनदीक्षा गृहीत्वा कचलोचनानन्तरमेव चतुर्ज्ञानसप्तर्द्धिसम्पन्नास्त्रयोपि (गौतम अग्निभूत वायुभूत नामान) गणधरदेवा सजाता। गौतमस्वामी भव्योपकारार्थं द्वादशाग श्रुतरचनाकृतवान्।

तदनन्तर गौतम अग्निभूति वायुभूति इन तीनों विद्वानोने "जयति

भगवान्" इत्यादि शब्दोसे स्तुति करते हुये भगवान् महावीरस्वामीको नमस्कार किया। जिनदीक्षाग्रहणकी और केशलोच करनेके अनन्तर ही मतिज्ञान श्रुतज्ञान अवधिज्ञान और मन पर्ययज्ञान चारो ज्ञान उनको प्रगट हो गये तथा सातो प्रकार की ऋद्धियां प्रगट हो गई। इसप्रकार वे तीनो ही मुनि उसीसमय भगवान् महावीर स्वामी के गणधर हुये। उनमें से गौतम स्वामी ने भव्य जीवोका उपकार करनेकेलिये द्वादशाग श्रुतज्ञानकी रचनाकी।

इन दोनो कथनोसे यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि इन भक्तियो में से चैत्यभक्ति भगवान् महावीर स्वामीके मुख्य गणधर भगवान् गौतमस्वामीकी बनाई हुई है। इससे इसकी प्राचीनता और प्रौढ प्रमाणता भी स्वय सिद्ध हो जाती है।

इस स्तुतिमें कृत्रिम अकृत्रिम चैत्यालयोका भी वर्णन है जिसमें भवनवासी व्यतर ज्योतिषी कल्पवासी आदि सब देवोके चैत्यालयोका तथा मध्यलोकके अकृत्रिम चैत्यालयोका भी वर्णन है। इससे सिद्ध होता है कि यह मूर्ति पूजा जैनियोंने ब्राह्मणोंसे नही ली है किंतु अनादि कालसे चली आरही है। जो लोग मूर्तिपूजा आदिको ब्राह्मणोसे ली हुई बतलाते है उनको इससे शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये। साथमें जो लोग जैनभूगोलको अप्रमाण और टीलो पर वैठकर लिखे हुये बतलाते है उन्हे भी अपने नेत्र खोल लेने चाहिये।

इस ऊपरके कथनसे यह भी सिद्ध हो जाता है कि यह चैत्यभक्ति महावीरस्वामीके केवलज्ञानके समयकी बनी हुई है, अर्थात् चतुर्थकालमें जब तेतीस वर्ष साड़े आठ महीना शेष रह गये थे उस समयकी यह रचना है। ऐसी ऐसी चतुर्थकालकी रचनायें न जाने कितनी है जो अज्ञानताके कारण हमें मालूम नहीं है। बहुतसे लोग कहा करते हैं कि "वर्तमानके समस्त शास्त्र पंचमकालके बने हुये है इसलिये उनमें कहा हुआ विषय भगवान् महावीर स्वामीका कहा हुआ नहीं माना जा सकता" ऐसे लोगोको भी अनर्गल बोलना बंद कर कुछ दिन तक जानकार विद्वानोंसे अध्ययन करना चाहिये।

यह सान्वयार्थ हिंदी टीका मैंने संस्कृत टीकाके आधारसे तथा पं. लालारामजी जैन शास्त्री व जिनवाणी संग्रह नातेपुते की सहायतासे की है।

यह प्रकाशन आजतक उपलब्ध सभी प्रतियोके आधार से किया है तथापि प्रमाद व अज्ञानवश इसमें जो भूल हो—उसे विद्वान सुधार कर पढें।

सलाल (गुजरात)
दीपावली वी०नि०स० २४८१

जिनवचनसेवक—
सिद्धसेन जैन गोयलीय

आभार-प्रदर्शन

दशभक्त्यादि संग्रह के प्रकाशन में निम्नलिखित महानुभावों ने दान देकर जो ज्ञान प्रसार के महती धर्म-कार्य में सहयोग दिया है उसके लिए मिशन उनका अत्यन्ताभारी है:—

१५१ रु०	श्री दिगम्बर जैन समाज	जाम्बुडी
१०१ रु०	श्री दिगम्बर जैन समाज	नवा
१०१ रु०	श्री दिगम्बर जैन समाज	हिम्मतनगर
१०१ रु०	श्री दिगम्बर जैन समाज	भद्रेसर
१०१ रु०	”	कोटडा
१०१ रु०	”	पोशीना
१०१ रु०	”	मऊ
१०१ रु०	”	टाकाटुका
१०१ रु०	स्व० सेठ भोगीलाल नानचंद	ईडर
१०० रु०	दिगम्बर जैन समाज	सावली
५१ रु०	कोटडिया कांतिलाल छबालाल	हिम्मतनगर
५१ रु०	को० मोतीचंद रायचंद	हिम्मतनगर
५१ रु०	दिगम्बर जैन समाज	मुनाई
५१ रु०	”	भीलोडा
५८ रु०	बंधु चतुष्टकय	गोरल
२५ रु०	दिगम्बर जैन समाज	मुडेटी



महान तपस्वी मुनिराज १०८ श्री जयसागर जी महाराज

समर्पण—

परमपूज्य महानतपस्वी
श्री १०८ श्री जयसागरजी मुनिराजके
करकमलोंमें
सादर समर्पित।

—सिद्धसेन जैन

अनुक्रमणिका-

* श्रीवीतरागाय नमः *



दशभक्त्यादि संग्रह

श्री जिनसेनाचार्यकृतं

॥ श्रीजिनसहस्रनामस्तोत्रम् ॥

स्वयंभुवे नमस्तुभ्यमुत्पाद्यात्मानमात्मनि । स्वात्मनैव तथोद्भूतवृत्त-येऽचिंत्यवृत्तये ॥ १ ॥ नमस्ते जगतां पत्ये लक्ष्मीभर्त्रे नमोऽस्तु ते । विदांवर नमस्तुभ्यं नमस्ते वदतांवर ॥ २ ॥ कामशत्रुहणं देवमामनन्ति मनीषिणः । त्वामानुमः सुरेण्मौलिभालाभ्यर्चितविक्रमम् ॥ ३ ॥ ध्याना-नद्रुघणनिर्भिन्नघनघातिमहातरुः । अनन्तभवसन्तानजयादासीदनन्तजित् ॥ ४ ॥ त्रैलोक्यनिर्जयावाप्तदुर्दर्म्यमतिदुर्जयम् । मृत्युराजं विजित्यासी-ज्जिन मृत्युंजयो भवान् ॥ ५ ॥ विधूताशेषसंसारबन्धनो भव्यबांधवः ।

त्रिपुरारिस्त्वमेवासि जन्ममृत्युजरान्तकृत् ॥ ६ ॥ त्रिकालविषयाशेषतत्त्व-
भेदात्त्रिधोत्थितम् । केवलाख्यं दधच्चक्षुस्त्रिनेत्रोऽसि त्वमीशितः ॥ ७ ॥
त्वामन्धकान्तकं प्राहुर्मोहान्धासुरमर्दनात् । अर्द्धं ते नारयो यस्मादर्धनारी-
श्वरोऽस्यतः ॥ ८ ॥ शिवः शिवपदाध्यासाद् दुरितारिहरो हरः । शंकर
कृतश लोके शंभवस्त्वं भवन्सुखे ॥ ६ ॥ वृषभोऽसि जगच्छ्रेष्ठः पुरुः
पुरुगुणोदयैः । नाभेयो नाभिसंभूतेरिक्ष्वाकुकुलनंदनः ॥ १० ॥ त्वमेकः
पुरुषस्कधस्त्व द्वे लोकस्य लोचने । त्वं त्रिधा बुद्धसन्मार्गस्त्रिज्ञस्त्रिज्ञानधा-
रकः ॥ ११ ॥ चतुश्शरणमांगल्यमूर्तिस्त्व चतुरः सुधीः । पञ्चब्रह्ममयो
देव पावनस्त्वं पुनीहि माम् ॥ १२ ॥ स्वर्गावतरणे तुभ्यं सद्यो जातात्मने
नमः । जन्माभिषेकवामाय वामदेव नमोऽस्तु ते ॥ १३ ॥ सुनिःष्क्रान्ता-
वघोराय पद परममीयुषे । केवलज्ञानसंसिद्धावीशानाय नमोऽस्तु ते
॥ १४ ॥ पुरस्तत्पुरुषत्वेन विमुक्तिपदभागिने । नमस्तात्पुरुषावस्थां
भाविनीं तेऽद्य बिभ्रते ॥ १५ ॥ ज्ञानावरणनिर्ह्रासान्नमस्तेऽनन्तचक्षुषे ।
दर्शनावरणोच्छेदान्नमस्ते विश्वदृश्वने ॥ १६ ॥ नमो दर्शनमोहघ्ने
क्षायिकामलदृष्टये । नमश्चारित्रमोहघ्ने विरागाय महौजसे ॥ १७ ॥
नमस्तेऽनन्तवीर्याय नमोऽनन्तसुखात्मने । नमस्तेऽनन्तलोकाय लोका-
लोकावलोकिने ॥ १८ ॥ नमस्तेऽनन्तदानाय नमस्तेऽनन्तलब्धये ।
नमस्तेऽनन्तभोगाय नमोऽनन्तोपभोगिने ॥ १९ ॥ नमः परमयोगाय
नमसतुभ्यमयोनये । नमः परमपूताय नमस्ते परमर्षये ॥ २० ॥ नमः
परमविद्याय नमः परमतच्छिदे । नमः परमतत्त्वाय नमस्ते परमात्मने
॥ २१ ॥ नमः परमरूपाय नमः परमतेजसे । नमः परममार्गाय नमस्ते
परमेष्ठिने ॥ २२ ॥ परमर्द्धिजुषे धाम्ने परमज्योतिषे नमः । नम पारेत-
मःप्राप्तधाम्ने परतरात्मने ॥ २३ ॥ नमः क्षीणकलंकाय क्षीणबंध नमो-
ऽस्तुते । नमस्ते क्षीणमोहाय क्षीणदोषाय ते नमः ॥ २४ ॥ नमः सुगतये
तुभ्यं शोभनां गतिमीयुषे । नमस्तेऽतीन्द्रियज्ञानसुखायानिन्द्रियात्मने
॥ २५ ॥ कायबन्धननिर्मोक्षादकायाय नमोऽस्तु ते । नमस्तुभ्यमयोगाय
योगिनामधियोगिने ॥ २६ ॥ अवेदाय नमस्तुभ्यमकषायाय ते नमः ।

नमः परमयोगीन्द्रवन्दितांघ्रिद्वयाय ते ॥ २७ ॥ नमः परमविज्ञान नमः परमसंयत । नमः परमदृग्दृष्टपरमार्थाय ते नमः ॥ २८ ॥ नमस्तुभ्यमलेश्याय शुक्ललेशांशकस्पृशे । नमो भव्येतरावस्थाव्यतीताय विमोक्षिणे ॥ २९ ॥ संज्ञ्यसंज्ञिद्वयावस्थाव्यतिरिक्तामलात्मने । नमस्ते वीतसंज्ञाय नमः क्षायिक-दृष्टये ॥ ३० ॥ अनाहाराय तृप्ताय नमः परमभाजुषे । व्यतीताशेषदोषाय भवाब्धेः पारमीयुषे ॥ ३१ ॥ अजराय नमस्तुभ्यं नमस्ते स्तादजन्मने । अमृत्यवे नमस्तुभ्यमचलायाक्षरात्मने ॥ ३२ ॥ अलमास्तां गुणस्तोत्रमनन्ता-स्तावका गुणाः ॥ त्वां नामस्मृतिमात्रेण पर्युपासिसिषामहे ॥ ३३ ॥ एवं स्तुत्वा जिनं देवं भक्त्या परमया सुधीः । पठेदष्टोत्तरं नाम्नां सहस्त्रं पापशांतए ॥ १ ॥

॥ इति पीठिका ॥

प्रसिद्धाष्टसहस्त्रेद्धलक्षणं त्वां गिरां पतिम् । नाम्नामष्टसहस्त्रेण तोष्टुमो-ऽभीष्टसिद्धये ॥ १ ॥ श्रीमान्स्वयंभूर्वृषभः शंभवः शंभुरात्मभूः । स्वयंप्रभः प्रभुर्भोक्ता विश्वभूरपुनर्भवः ॥ २ ॥ विश्वात्मा विश्वलोकेशो विश्वतश्चक्षुरक्षरः । विश्वविद्विश्वविद्येशो विश्वयोनिरनश्वरः ॥ ३ ॥ विश्वदृश्वा विभुर्धाता विश्वेशो विश्वलोचनः । विश्वव्यापी विधिर्वेधाः शाश्वतो विश्वतोमुखः ॥ ४ ॥ विश्वकर्मा जगज्ज्येष्ठो विश्वमूर्तिर्जिनेश्वरः विश्वदृग्विश्वभूतेशो विश्वज्योतिरनीश्वरः ॥ ५ ॥ जिनो जिष्णुरमेयात्मा विश्वरीशो जग-त्पतिः । अनन्तचिदचिन्त्यात्मा भव्यबन्धुरबन्धनः ॥ ६ ॥ युगादिपुरुषो ब्रह्मा पञ्चब्रह्ममयः शिवः । परः परतरः सूक्ष्मः परमेष्ठी सनातनः ॥ ७ ॥ स्वयंज्योतिरजोऽजन्मा ब्रह्मयोनिरयोनिजः । मोहारिविजयी जेता धर्मचक्री दयाध्वजः ॥ ८ ॥ प्रशान्तारिरनन्तात्मा योगी योगीश्वरार्चितः । ब्रह्मवि-द्ब्रह्मतत्वज्ञो ब्रह्मोद्याविद्यतीश्वरः ॥ ९ ॥ शुद्धो बुद्धः प्रबुद्धात्मा सिद्धार्थः सिद्धशासनः । सिद्धः सिद्धांतविद्ध्येयः सिद्धसाध्यो जगद्धितः ॥ १० ॥ सहिष्णुरच्युतोऽनन्तः प्रभविष्णुर्भवोद्भवः । प्रभूष्णुरजरोऽजर्यो भ्राजिष्णुर्धी श्वरोऽव्ययः ॥ ११ ॥ विभावसुरसंभूष्णुः स्वयंभूष्णुः पुरातनः । परमात्मा

परंज्योतिस्त्रिजगत्परमेश्वरः ॥ १२ ॥

॥ इति श्रीमदादिशतम ॥ १ ॥

दिव्यभाषापतिर्दिव्यः पूतवाक्पूतशासनः । पूतात्मा परमज्योतिर्धर्माध्यक्षो दमीश्वरः ॥ १ ॥ श्रीपतिर्भगवानर्हन्नरजा विरजाः शुचिः । तीर्थकृत्केवलीशानः पूजार्हः स्नातकोऽमलः ॥ २ ॥ अनन्तदीप्तिर्ज्ञानात्मा स्वयंबुद्धः प्रजापतिः । मुक्तः शक्तो निराबाधो निष्कलो भुवनेश्वरः ॥ ३ ॥ निरञ्जनो जगज्योतिर्निरुक्तोक्तिर्निरामयः । अचलस्थितिरक्षोभ्यः कूटस्थः स्थाणुरक्षयः ॥ ४ ॥ अग्रणीर्ग्रामणीर्नेता प्रणेता न्यायशास्त्रकृत् । शास्ता धर्मपतिर्धर्म्यो धर्मात्मा धर्मतीर्थकृत् ॥ ५ ॥ वृषध्वजोवृषाधीशो वृषकेतुर्वृषायुधः । वृषो वृषपतिर्भर्ता वृषभाङ्को वृषोद्भवः ॥ ६ ॥ हिरण्यनाभिर्भूतात्मा भूतभृद्भूत भावनः । प्रभवो विभवो भास्वान् भवो भावो भवान्तकः ॥ ७ ॥ हिरण्य गर्भः श्रीगर्भः प्रभूतविभवोद्भवः । स्वयंप्रभुः प्रभूतात्मा भुतनाथोजगत्प्रभुः ॥ ८ ॥ सर्वादि· सर्वदृक् सार्व· सर्वज्ञ सर्वदर्शनः । सर्वात्मा सर्वलोकेशः सर्व वित्सर्वलोकजित् ॥ ९ ॥ सुगतिः सुश्रुतः सुश्रुक् सुवाक् सूरिर्बहुश्रुतः । विश्रुतो विश्वतः पादो विश्वशीर्षः शुचिश्रवा· ॥ १० ॥ सहस्रशीर्ष· क्षेत्रज्ञः सहस्राक्षः सहस्रपात् । भूतभव्यभवद्भर्ता विश्वविद्या महेश्वर· ॥ ११ ॥

॥ इति दिव्यादिशतम ॥ २ ॥

स्थविष्ठः स्थविरो ज्येष्ठ पृष्ठः प्रेष्ठोः वरिष्ठधीः । स्थेष्ठोः गरिष्ठो बंहिष्ठः श्रेष्ठो निष्ठोगरिष्ठगीः ॥ १ ॥ विश्वभुट् विश्वसृट् विश्वेट् विश्वभुग्विश्वनायकः विश्वाशीर्विश्वरूपात्मा विश्वजिद्विजितान्तकः ॥ २ ॥ विभवो विभयो वीरो विशोको विजरो जरन् । विरागो विरतोऽसङ्गोविविक्तो वीतमत्सरः ॥ ३ ॥ विनेयजनताबन्धुर्विलीनाशेषकल्मष· । वियोगो योगविद्विद्वान्विधाता सु सुविधि सुधी ॥ ४ ॥ क्षांतिभाक्पृथिवीमूर्ति· शांतिभाक् सलिलात्मक· । वायुमूर्तिरसङ्गात्मा वह्निमूर्तिरधर्मधृक् ॥ ५ ॥ सुयज्वा यजमानात्मा सुत्वा सूत्रामपूजित । ऋत्विग्यज्ञपतिर्यज्ञो यज्ञाङ्गममृतं हवि· ॥ ६ ॥ व्योममूर्ति-

रमूर्तात्मा निर्लेपो निर्मलोऽचलः ; सोममूर्तिः सुसौम्यात्मा सूर्यमूर्तिर्महाप्रभः ॥ ७ ॥ मन्त्रविन्मन्त्रकृन्मन्त्री मन्त्रमूर्तिरनन्तगः । स्वतन्त्रस्तन्त्रकृत्स्वान्तः कृतान्तान्तः कृतान्तकृत् ॥ ८ ॥ कृती कृतार्थः सत्कृत्यः कृतकृत्यक्रितक्रतुः । नित्यो मृत्युंजयोऽमृत्युरमृतात्माऽमृतोद्भवः ॥ ९ ॥ ब्रह्मनिष्ठः परंब्रह्म ब्रह्मात्मा ब्रह्मसम्भवः । महाब्रह्मपतिर्ब्रह्मेट् महाब्रह्मपदेश्वरः ॥ १० ॥सुप्रसन्नः प्रसन्नात्मा ज्ञानधर्मदमप्रभुः । प्रशमात्मा प्रशान्तात्मा पुराणपुरुषोत्तमः ॥ ११ ॥

॥ इति स्थविष्ठादिशतम् ॥ ३ ॥

महाशोकध्वजोऽशोकः कः स्रष्टा पद्मविष्टरः । पद्मेशः पद्मसंभूतिः पद्मनाभिरनुत्तरः ॥ १ ॥ पद्मयोनिर्जगद्योनिरित्यः स्तुत्यः स्तुतीश्वरः । स्तवनार्हो हृषीकेशो जितजेयः कृतक्रियः ॥ २ ॥ गणाधिपो गणज्येष्ठो गण्यः पुण्यो गणाग्रणीः । गुणाकरो गुणांभोधिर्गुणज्ञो गुणनायकः ॥ ३ ॥ गुणाकरी गुणोच्छेदी निर्गुणः पुण्यगीर्गुणः । शरण्यः पुण्यवाक्पूतो वरेण्यः पुण्यनायकः ॥ ४ ॥ अगण्यः पुण्यधीर्गण्य पुण्यकृत्पुण्यशासनः । धर्मारामो गुणग्रामः पुण्यापुण्यनिधरोकः ॥ ५ ॥ पापापेतो विपापात्मा विपाप्मा वीतकल्मपः । निर्द्वन्द्वो निर्मदः शांतो निर्मोहो निरुपद्रवः ॥ ६ ॥ निर्निमेषो निराहारो निष्क्रियो निरुपप्लवः । निष्कलंको निरस्तैना निर्धूतांगो निराश्रयः ॥ ७ ॥ विशालो विपुलज्योतिरतुलोऽचिंत्यवैभवः । सुसंवृतः सुगुप्तात्मा सुभृत्सुनयतत्त्ववित् ॥ ८ ॥ एकविद्यो महाविद्यो मुनिः परिवृढः पतिः । धीशो विद्यानिधिः साक्षी विनेता विहतांतकः ॥ ९ ॥ पिता पितामहः पाता पवित्रः पावनो गतिः । त्राता भिषग्वरो वर्यो वरदः परमः पुमान् ॥ १० ॥ कविः पुराणपुरुषो वर्षीयान्वृषभः पुरुः । प्रतिष्ठाप्रसवो हेतुर्भुवनैक पितामहः ॥ ११ ॥

॥ इति महाशोकध्वजादिशतम ॥ ४ ॥

श्रीवृक्षलक्षणः श्लक्ष्णो लक्षण्यः शुभलक्षणः । निरक्षः पुन्डरीकाक्षः

पुष्कलः पुष्करेक्षणः ॥ १ ॥ सिद्धदः सिद्धसंकल्पः सिद्धात्मा सिद्धसाधनः । बुद्धबोध्यो महाबोधिर्वर्द्धमानो महर्द्धिकः ॥ २ ॥ वेदांगो वेदविद्वेद्यो जातरूपो विदांवरः । वेदवेद्यः स्वसंवेद्यो विवेदो वदतांवरः ॥ ३ ॥ अनादिनिधनो व्यक्तो व्यक्तवाग्व्यक्तशासनः । युगादिकृद्युगाधारो युगादिर्जगदादिजः ॥ ४ ॥ अतीन्द्रोऽतीन्द्रियो धीन्द्रो महेन्द्रोऽतींद्रियार्थदृक् । अनिंद्रियोऽहमिंद्रार्च्यो महेन्द्रमहितो महान् ॥ ५ ॥ उद्भवः कारणं कर्ता पारगो भवतारकः । अगाह्यो गहनं गुह्यं परार्ध्यः परमेश्वरः ॥ ६ ॥ अनंतर्द्धिरमेयर्द्धिरचिंत्यर्द्धिः समग्रधीः । प्राग्र्यः प्राग्रहरोऽभ्यग्र्यः प्रत्यग्रोऽग्र्योऽग्रिमोऽग्रजः ॥ ७ ॥ महातपा महातेजा महोदर्को महोदयः । महायशा महाधामा महासत्त्वो महाधृतिः ॥ ८ ॥ महाधैर्यो महावीर्यो महासंपन्महाबलः । महाशक्तिर्महाज्योतिर्महाभूतिर्महाद्युतिः ॥ ९ ॥ महामतिर्महानीतिर्महाक्षांतिर्महोदयः । महाप्राज्ञो महाभागो महानंदो महाकविः ॥ १० ॥ महामहा महाकीर्तिर्महाकांतिर्महावपुः । महादानो महाज्ञानो महायोगो महागुणः ॥ ११ ॥ महामहपतिः प्राप्तमहाकल्याणपंचकः । महाप्रभुर्महाप्रहातिर्यार्धीशो महेश्वरः ॥ १२ ॥

॥ इति श्रीवृत्तादिशतम् ॥ ५ ॥

महामुनिर्महामौनी महाध्यानी महादमः । महाक्षमो महाशीलो महायज्ञो महामखः ॥ १ ॥ महाव्रतपतिर्मह्यो महाकांतिधरोऽधिपः । महामैत्रीमयोऽमेयो महोपायो महोमयः ॥ २ ॥ महाकारुणिको मंता महामंत्रो महामतिः । महानादो महाघोषोमहेज्यो महसां पति ॥ ३ ॥ महाध्वरधरो धुर्यो महौदार्यो महेष्टवाक् । महात्मा महसां धाम महर्षिर्महितोदयः ॥ ४ ॥ महाक्लेशांकुशः शूरो महाभूतपतिर्गुरुः । महापराक्रमोऽनंतो महाक्रोधरिपुर्वशी ॥ ५ ॥ महाभवाब्धिसंतारी महामोहाद्रिसूदनः । महागुणाकर क्षांतो महायोगीश्वरः शमी ॥ ६ ॥ महाध्यानपतिर्ध्याता महाधर्मो महाव्रतः । महाकर्मारिहात्मज्ञो महादेवो महेशिता ॥ ७ ॥ सर्वक्लेशापहः साधुः सर्वदोषहरो हरः । असंख्येयोऽप्रमेयात्मा शमात्मा प्रशमाकरः ॥ ८ ॥ सर्वयोगीश्वरोऽचिंत्यः

श्रुतात्मा विष्टरश्रवा । दांतात्मा दमतीर्थेशो योगात्मा ज्ञानसर्वगः ॥ ९ ॥ प्रधानमात्मा प्रकृतिः परमः परमोदयः । प्रक्षीणबंधः कामारिः क्षेमकृत्क्षेमशासन ॥ १० ॥ प्रणवः प्रणयः प्राणः प्राणदः प्रणतेश्वरः । प्रमाणं प्रणिधिर्दक्षो दक्षिणोऽध्वर्युरध्वरः ॥ ११ ॥ आनंदो नंदनो नंद्यो वद्योऽनिंद्योऽभिनंदनः । कामहा कामदः काम्यः कामधेनुररिंजय ॥ १२ ॥

॥ इति महामुन्यादिशतम् ॥ ६ ॥

असंस्कृतः सुसंस्कारः प्राकृतो वै कृतांतकृत् । अंतकृत्कांतिगुः कांतश्चिंतामणिरभीष्टदः ॥ १ ॥ अजितो जितकामारिरमितोऽमितशासनः । जितक्रोधो जितामित्रो जितक्लेशो जितांतकः ॥ २ ॥ जिनेंद्रः परमानंदो मुनींद्रो दुंदुभिस्वनः । महेंद्रवंद्यो योगींद्रो यतींद्रो नाभिनंदनः ॥ २ ॥ नाभेयो नाभिजोऽजातः सुव्रतोमनुरुत्तमः । अभेद्योऽनत्ययोऽनाश्वानधिकोऽधिगुरुः सुधीः ॥ ४ ॥ सुमेधा विक्रमी स्वामी दुराधर्षो निरुत्सुकः । विशिष्टः शिष्टभुक् शिष्ट. प्रत्ययः कामनोऽनघः ॥ ५ ॥ क्षेमी क्षेमंकरोऽक्षय्यः क्षेमधर्मपतिः क्षमी । अग्राह्यो ज्ञाननिग्राह्यो ध्यानगम्यो निरुत्तरः ॥ ६ ॥ सुकृती धातुरिज्यार्हः सुनयश्चतुराननः । श्री निवासश्चतुर्वक्त्रश्चतुरास्यश्चतुर्मुखः ॥ ७ ॥ सत्यात्मा सत्यविज्ञानः सत्यवाक्सत्यशासनः । सत्याशीः सत्यसंधानः सत्यः सत्यपरायणः ॥ ८ ॥ स्थेयान्स्थवीयान्नेदीयान्दवीयान्दूरदर्शनः । अणोरणीयाननणुर्गुरुराद्यो गरीयसाम् ॥ ९ ॥ सदायोगः सदाभोगः सदातृप्तः सदाशिवः । सदागतिः सदासौख्यः सदाविद्यः सदोदयः ॥ १० ॥ सुघोषः सुमुखः सौम्यः सुखदः सुहितः सुहृत् । सुगुप्ता गुप्तिभृद्गोप्ता लोकाध्यक्षो दमीश्वरः ॥ ११ ॥

॥ इति असंस्कृतादिशतम् ॥ ७ ॥

बृहन्बृहस्पतिर्वाग्मी वाचस्पतिरुदारधीः । मनीषी धिषणो धीमाञ्छेमुषीशो गिरांपतिः ॥ १ ॥ नैकरूपो नयस्तुंगो नैकात्मा नैकधर्मकृत् । अविज्ञेयोऽप्रतर्क्यात्मा कृतज्ञः कृतलक्षणः ॥ २ ॥ ज्ञानगर्भो दयागर्भो

रत्नगर्भः प्रभास्वरः । पद्मगर्भो जगद्गर्भो हेमगर्भः सुदर्शनः ॥ ३ ॥ लक्ष्मीवांस्त्रिदशाऽध्यक्षो दृढीयानिन ईशिता । मनोहरो मनोज्ञांगो धीरो गभीरशासनः ॥ ४ ॥ धर्मयूपो दयायागो धर्मनेमिर्मुनीश्वरः । धर्मचक्रायुधो देवः कर्महा धर्मघोषणः ॥ ५ ॥ अमोघवागमोघाज्ञो निर्मलोऽमोघशासनः । सुरूपः सुभगस्त्यागी समयज्ञः समाहितः ॥ ६ ॥ सुस्थितः स्वास्थ्यभाक्स्वस्थो नीरजस्को निरुद्धवः । अलेपो निष्कलंकात्मा वीतरागो गतस्पृहः ॥ ७ ॥ वश्येन्द्रियो विमुक्तात्मा निःसपत्नो जितेन्द्रियः । प्रशांतोऽनन्तधामर्षिर्मंगलं मल्हाऽनघः ॥ ८ ॥ अनीदृगुपमाभूतो दिष्टिर्दैवमगोचरः । अमूर्तो मूर्तिमानेको नैको नानैकतत्त्वदृक् ॥ ९ ॥ अध्यात्मगम्योऽगम्यात्मा योगविद्योगिवन्दितः । सर्वत्रगः सदाभावी त्रिकालविषयार्थदृक् ॥ १० ॥ शंकरः शंवदो दान्तो दमी क्षांतिपरायणः । अधिपः परमानन्दः परात्मज्ञः परात्परः ॥ ११ ॥ त्रिजगद्वल्लभोऽभ्यर्च्यस्त्रिजगन्मगलोदयः । त्रिजगत्पतिपूज्यांघ्रिस्त्रिलोकाग्रशिखामणिः ॥ १२ ॥

॥ इति बृहदादिशतम् ॥ ८ ॥

त्रिकालदर्शी लोकेशो लोकधाता दृढव्रतः । सर्वलोकातिगः पूज्यः सर्वलोकैकसारथिः ॥ १ ॥ पुराणपुरुषः पूर्वः कृतपूर्वांगविस्तरः । आदिदेवः पुराणाद्यः पुरुदेवोऽधिदेवता ॥ २ ॥ युगमुख्यो युगज्येष्ठो युगादिस्थितिदेशकः । कल्याणवर्णः कल्याणः कल्यः कल्याणलक्षणः ॥ ३ ॥ कल्याणप्रकृतिर्दीप्तकल्याणात्मा विकल्मषः विकलंकः कलातीतः कलिलघ्नः कलाधरः ॥ ४ ॥ देवदेवो जगन्नाथो जगद्बन्धुर्जगद्विभुः । जगद्धितैषी लोकज्ञः सर्वगो जगदग्रजः ॥ ५ ॥ चराचरगुरुर्गोप्यो गूढात्मा गूढगोचरः सद्योजातः प्रकाशात्मा ज्वलज्ज्वलनसप्रभः ॥ ६ ॥ आदित्यवर्णो भर्माभः सुप्रभः कनकप्रभः । सुवर्णवर्णो रुक्माभः सूर्यकोटिसमप्रभः ॥ ७ ॥ तपनीयनिभस्तुंगो बालार्काभोऽनलप्रभः । संध्याभ्रबभ्रुर्हेमाभस्तप्तचामीकरप्रभः ॥ ८ ॥ निष्टप्तकनकच्छायः कनत्काञ्चनसन्निभः । हिरण्यवर्णः स्वर्णाभः शांतकुम्भनिभप्रभः ॥ ९ ॥ द्युम्नाभो जातरूपाभो

तप्तजाम्बूनदद्युतिः । सुधौतकलधौतश्रीः प्रदीप्तो हाटकद्युतिः ॥ १० ॥ शिष्टेष्टः पुष्टिदः पुष्टः स्पष्टः स्पष्टाक्षरक्षमः । शत्रुघ्नोऽप्रतिघोऽमोघः प्रशास्ता शासिता स्वभूः ॥ ११ ॥ शांतिनिष्ठो मुनिज्येष्ठः शिवतातिः शिवप्रदः । शांतिदः शांतिकृच्छान्तिः कांतिमान्कामितप्रदः ॥ १२ ॥ श्रेयोनिधिरधिष्ठानमप्रतिष्ठः प्रतिष्ठितः । सुस्थितः स्थावरः स्थाणुः प्रथीयान्प्रथितः पृथुः ॥ १३ ॥

॥ इति त्रिकालदर्श्यादिशतम् ॥ ९ ॥

दिग्वासा वातरशनो निर्ग्रन्थेशो निरम्बरः । निष्किञ्चनो निराशंसो ज्ञानचक्षुरमोमुहः ॥ १ ॥ तेजोराशिरनन्तौजा ज्ञानाब्धिः शीलसागरः । तेजोमयोऽमितज्योतिर्ज्योतिमूर्तिस्तमोऽपहः ॥ २ ॥ जगच्चूडामणिर्दीप्तः सर्वविघ्नविनायकः । कलिघ्नः कर्मशत्रुघ्नो लोकालोकप्रकाशकः ॥ ३ ॥ अनिद्रालुरतन्द्रालुर्जागरूकः प्रमामयः । लक्ष्मीपतिर्जगज्ज्योतिर्धर्मराजः प्रजाहितः ॥ ४ ॥ मुमुक्षुर्बंधमोक्षज्ञो जिताक्षो जितमन्मथः । प्रशांतरसशैलूषो भव्यपेटकनायकः ॥ ५ ॥ मूलकर्ताखिलज्योतिर्मलघ्नो मूलकारणः । आप्तो वागीश्वरः श्रेयोञ्छ्रायसोक्तिर्निरुक्तवाक् ॥ ६ ॥ प्रवक्ता वचशामीशो मारजिद्विश्वभाववित् । सुतनुस्तनुनिर्मुक्तः सुगतो हतदुर्नयः ॥ ७ ॥ श्रीशः श्रीश्रितपादाब्जो वीतभीरभयंकरः । उत्सन्नदोषो निर्विघ्नो निश्चलो लोकवत्सलः ॥ ८ ॥ लोकोत्तरो लोकपतिर्लोकचक्षुरपारधीः । धीरधीर्बुद्धसन्मार्गः शुद्धः सूनृतपूतवाक् ॥ ९ ॥ प्रज्ञापारमितः प्राज्ञो यतिर्नियमितेन्द्रियः । भदन्तो भद्रकृद्भद्रः कल्पवृक्षो वरप्रदः ॥ १० ॥ समुन्मूलितकर्मारिः कर्मकाष्ठाशुशुक्षणिः । कर्मण्यः कर्मठः प्रांशुर्हेयादेयविचक्षणः ॥ ११ ॥ अनन्तशक्तिरच्छेद्यस्त्रिपुरारिस्त्रिलोचनः । त्रिनेत्रस्त्र्यम्बकस्त्र्यक्षः केवलज्ञानवीक्षणः ॥ १२ ॥ समंतभद्रः शांतारिर्धर्माचार्यो दयानिधिः । सूक्ष्मदर्शी जितानंगः कृपालुर्धर्मदेशकः ॥ १३ ॥ शुभंयुः सुखसाद्भूतः पुण्यराशिरनामयः । धर्मपालो जगत्पालो धर्मसाम्राज्यनायकः ॥ १४ ॥

॥ इति दिग्वासादिशतम् ॥ १० ॥

॥ इत्यष्टाधिकसहस्रनामावली समाप्ता ॥

धाम्नांपते तवामूनि नामान्यागमकोविदैः। समुच्चितान्यनुध्यायन्पुमान्पूतस्मृतिर्भवेत् ॥ १ ॥ गोचरोऽपि गिरामासां त्वमवाग्गोचरो मतः। स्तोता तथाप्यसंदिग्धं त्वत्तोऽभीष्टफलं लभेत् ॥ २ ॥ त्वमतोऽसि जगद्बन्धुस्त्वमऽतोसि जगद्भिषक्। त्वमतोऽसि जगद्धाता त्वमतोऽसि जगद्धितः ॥ ३ ॥ त्वमेकं जगतां ज्योतिस्त्वं द्विरूपोपयोगभाक्। त्वं त्रिरूपैकमुक्त्यंगं स्वोत्थानंतचतुष्टयः ॥ ४ ॥ पंचब्रह्मतत्वात्मा पंचकल्याणनायकः। षड्भेदभावतत्त्वज्ञस्त्वं सप्तनयसंग्रहः ॥ ५ ॥ त्वं दिव्याष्टगुणमूर्तिस्त्वं नवकेवललब्धिकः। दशावतारनिर्धार्यो मां पाहि परमेश्वरः ॥ ६ ॥ युष्मन्नामावलीदृब्धाविलसत्स्तोत्रमालया। भवंतं वरिवस्यामः प्रसीदानुग्राहाण नः ॥ ७ ॥ इदं स्तोत्रमनुस्मृत्य पूतो भवति भाक्तिकः। यः स पाठं पठत्येनं स स्यात्कल्याणभाजनम् ॥ ८ ॥ ततः सदेदं पुण्यार्थीपुमान्पठति पुण्यधीः। पौरुहूतीं श्रियं प्राप्तुं परमामभिलाषुकः ॥ ९ ॥ स्तुत्वेति मघवा देवं चराचरजगद्गुरुं। ततस्तीर्थविहारस्य व्यधात्प्रस्तावनामिमाम् ॥ १० ॥ स्तुतिः पुण्यगुणोत्कीर्तिः स्तोता भव्यः प्रसन्नधीः। निष्ठितार्थो भवांस्तुत्यः फलं नैश्रेयसं सुखं ॥ ११ ॥ यः स्तुत्यो जगतां त्रयस्य न पुनः स्तोता स्वयं कस्यचित् ॥ ध्येयो योगिजनस्य यश्च नितरां ध्याता स्वयं कस्यचित् ॥ यो नेतॄन् नयते नमस्कृतिमल नन्तव्यपक्षेक्षणः। स श्रीमान् जगतां त्रयस्य च गुरुर्देवः पुरुः पावनः ॥ १२ ॥ तं देवं त्रिदशाधिपार्चितपदं घातिक्षयानन्तरं। प्रोत्थानन्त चतुष्टयं जिनमिमं भव्याब्जिनीनामिनम्। मानस्तंभविलोकनानतजगन्मान्यं त्रिलोकीपतिं। प्राप्ताचिंत्यबहिर्विभूतिमनघं भक्त्या प्रवंदामहे ॥ १३ ॥

॥ इति श्रीजिनसहस्रनामस्तवनं समाप्तम् ॥



॥ सुप्रभातस्तोत्रम् ॥

यत्स्वर्गावतरोत्सवे यदभवज्जन्माभिषेकोत्सवे । यद्दीक्षाग्रहणोत्सवे यदखिलज्ञानप्रकाशोत्सवे ॥ यन्निर्वाणगमोत्सवे जिनपतेः पूजाद्भुतं तद्भवैः । संगीतस्तुतिमंगलैः प्रसरतां मे सुप्रभातोत्सवः ॥ १ ॥ श्रीमन्नतामरकिरीटमणिप्रभाभिरालीढपादयुग ! दुर्द्धरकर्मदूर । श्रीनाभिनन्दन ! जिनाजित ! शम्भवाख्य ! त्वद्ध्यानतोऽस्तु सततं मम सुप्रभातम् ॥ २ ॥ छत्रत्रयप्रचलचामरवीज्यमानदेवाभिनन्दनमुने सुमते जिनेंद्र । पद्मप्रभारुणमणिद्युतिभासुरांग; त्व० ॥ ३ ॥ अर्हन् सुपार्श्व कदलीदलवर्णगात्र प्रालेयतारगिरीमौक्तिकवर्णगौर । चन्द्रप्रभस्फटिकपाण्डुरपुष्पदन्त ! त्व० ॥ ४ ॥ संतप्तकांचनरुचे जिनशीतलाख्य श्रेयान्विनष्टदुरिताष्टकलंकपंक । बन्धूकबन्धुररुचे जिनवासपूज्य; त्व० ॥ ५ ॥ उद्दण्डदर्पकरिपो विमलामलांग स्थेमन्ननंतजिदनंतसुखांबुराशे । दुष्कर्मकल्मषविवर्जित धर्मनाथ; त्व० ॥ ६ ॥ देवामरीकुसुमसन्निभ शांतिनाथ कुंथो दयागुणविभूषणभूषितांग । देवाधिदेव भगवन्नरतीर्थनाथ; त्व० ॥ ७ ॥ यन्मोहमल्लमदभंजनमल्लिनाथ क्षेमंकरावितथशासनसुव्रताख्य । यत्संपदा प्रशमितो नमिनामधेय; त्व० ॥ ८ ॥ तापिच्छगुच्छरुचिरोज्ज्वल नेमिनाथ घोरोपसर्गविजयिन् जिनपार्श्वनाथ । स्याद्वादसूक्तिमणिदर्पणवर्द्धमान; त्व० ॥ ९ ॥ प्रालेयनीलहरितारुणपीतभासं, यन्मूर्तिमव्ययसुखावसथं मुनींद्राः । ध्यायंति सप्ततिशतं जिनवल्लभानां; त्व० ॥ १० ॥ सुप्रभातं सुनक्षत्रं मांगल्यं परिकीर्तितम् । चतुर्विंशतितीर्थानां सुप्रभातं दिने दिने ॥ ११ ॥ सुप्रभातं सुनक्षत्रं, श्रेयः इत्यभिनंदितम् । देवता ऋषयः सिद्धाः सुप्रभातं दिने दिने ॥ १२ ॥ सुप्रभातं तवैकस्य वृषभस्य महात्मनः । येन प्रवर्तितं तीर्थं भव्यसत्त्वसुखावहम् ॥ १३ ॥ सुप्रभातं जिनेंद्राणां ज्ञानोन्मीलितचक्षुषाम् । अज्ञानतिमिरांधानां नित्यमस्तमितो रविः ॥ १४ ॥ सुप्रभातं जिनेंद्रस्य वीरः कमललोचनः । येन कर्माटवी दग्धा शुक्लध्यानोग्रवह्निना ॥ १५ ॥

सुप्रभातं सुनक्षत्रं सुकल्याणं सुमंगलम्। त्रैलोक्यहितकर्तॄणां जिनानामेव शासनम् ॥ १६ ॥

॥ इति सुप्रभातस्तोत्रम् ॥

भूतकालतीर्थङ्कराः।

१ श्रीनिर्वाण २ सागर ३ महासाधु ४ विमलप्रभ ५ श्रीधर ६ सुदत्त ७ अमलप्रभ ८ उद्धर ९ अंगिर १० सन्मति ११ सिंधु १२ कुसुमांजलि १३ शिवगण १४ उत्साह १५ ज्ञानेश्वर १६ परमेश्वर १७ विमलेश्वर १८ यशोधर १९ कृष्णमति २० ज्ञानमति २१ शुद्धमति २२ श्रीभद्र २३ अतिक्रांत २४ शांताश्चेतिभूतकालसंबन्धिचतुर्विंशतितीर्थङ्करेभ्यो नमो नमः ॥

वर्तमानकालतीर्थङ्कराः।

१ ऋषभ २ अजित ३ शंभव ४ अभिनंदन ५ सुमति ६ पद्मप्रभ ७ सुपार्श्व ८ चंद्रप्रभ ९ पुष्पदत १० शीतल ११ श्रेयान १२ वासुपूज्य १३ विमल १४ अनंत १५ धर्म १६ शांति १७ कुन्थु १८ अर १९ मल्लि २० मुनिसुव्रत २१ नमि २२ नेमि २३ पार्श्व २४ वर्द्धमानाश्चेति वर्तमानकालसंबन्धिचतुर्विंशतितीर्थङ्करेभ्यो नमो नमः ॥

भविष्यत्कालतीर्थंकराः।

१ श्रीमहापद्म २ सुरदेव ३ सुपार्श्व ४ स्वयंप्रभ ५ सर्वात्मभूत ६ देवपुत्र ७ कुलपुत्र ८ उदंक ९ प्रोष्ठिल १० जयकीर्ति ११ मुनिसुव्रत १२ अर (अमम) १३ निष्पाप १४ निष्कषाय १५ विमल १६ निर्मल १७ चित्रगुप्त १८ समाधिगुप्त १९ स्वयंभू २० अनिवृत्तिक २१ जय २२ विमल २३ देवपाल २४ अनन्तवीर्याश्चेति भविष्यत्कालसंबन्धिचतु-

-विंशतितीर्थङ्करेभ्यो नमो नमः ॥ ११ ॥

विदेहक्षेत्रस्थविंशतितीर्थङ्कराः।

१ सीमंधर २ युगमंधर ३ वाहु ४ सुवाहु ५ सुजात ६ स्वयंप्रभु ७ वृपभानन ८ अनंतवीर्य ९ सुरप्रभ १० विशालकीर्ति ११ वज्रधर १२ चंद्रानन १३ भद्रवाहु १४ भुजंगम १५ ईश्वर १६ नेमप्रभ (नेमि) १७ वीरसेन १८ महाभद्र १९ देवयश २० अजितवीर्यश्चेति विदेहक्षेत्रस्थविंशतितीर्थङ्करेभ्यो नमो नमः ॥

भक्तामरस्तोत्रम्।

भक्तामरप्रणतमौलिमणिप्रभाणामुद्योतकं दलितपापतमोवितानम्। सम्यक् प्रणम्य जिनपादयुगं युगादावालवनं भवजले पततां जनानां ॥ १ ॥ यः संस्तुतः सकलवाङ्मयतत्वबोधादुद्भूतवुद्धिपटुभिः सुरलोकनाथैः। स्तोत्रैर्जगत्त्रितयचित्तहरैरुदारैः स्तोष्ये किलाहमपि तं प्रथमं जिनेंद्रम् ॥ २ ॥ बुद्ध्या विनापि विवुधार्चितपादपीठ स्तोतुं समुद्यतमतिर्विगतत्रपोऽहं। वालं विहाय जलसंस्थितमिंदुबिंबमन्यः क इच्छति जनः सहसा गृहीतुं ॥ ३ ॥ वक्तुं गुणान्गुणसमुद्र शशांककांतां कस्ते क्षमः सुरगुरुप्रतिमोऽपि बुद्ध्या। कल्पांतकालपवनोधतनक्रचक्रं को वा तरीतुमलमवुनिधिं भुजाभ्यां ॥ ४ ॥ सोऽहं तथापि तव भक्तिवशान्मुनीश कर्तुं स्तव विगतशक्तिरपि प्रवृत्तः। प्रीत्यात्मवीर्यमविचार्यमृगोमृगेंद्रं नाभ्येति किं निजशिशोः परिपालनार्थम् ॥ ५ ॥ अल्पश्रुत श्रुतवतां परिहासधामं त्वद्भक्तिरेव मुखरीकुरुते वालान्माम्। यत्कोकिलः किल मधौ मधुरं विरौति तच्चाम्रचारुकलिकानिकरैकहेतुः ॥ ६ ॥ त्वत्संस्तवेन भवसंततिसंनिवद्धं पापं क्षणात्क्षयमुपैति शरीरभाजाम्। आक्रांतलोकमलिनीलमशेषमाशु सूर्यांशुभिन्नमिव शार्वरमंधकारम् ॥ ७ ॥ मत्वेति नाथ तव संस्तवनं

मयेदमारभ्यते तनुधियापि तव प्रभावात् । चेतो हरिष्यति सतां नलिनी-
दलेषु मुक्ताफलद्युतिमुपैति ननूदबिंदुः ॥ ८ ॥ आस्तां तव स्तवनमस्त-
समस्तदोषं, त्वत्संकथापि जगतां दुरितानि हन्ति । दूरे सहस्रकिरणः कुरुते
प्रभैव, पद्माकरेषु जलजानि विकासभांजि ॥ ९ ॥ नात्यद्भुतं भुवनभूष
णभूत नाथ, भूतैर्गुणैर्भुवि भवंतमभिष्टुवन्तः । तुल्या भवंति भवतो ननु
तेन किं वा, भूत्याश्रितं य इह नात्मसमं करोति ॥ १० ॥ दृष्ट्वा भवंतम-
निमेषविलोकनीयं नान्यत्र तोषमुपयाति जनस्यचक्षुः । पीत्वा पयः शशि-
करद्युतिदुग्धसिन्धोः, क्षारं जलं जलनिधेरसितुं क इच्छेत् ॥ ११ ॥ यैः
शांतरागरुचिभिः परमाणुभिस्त्वं निर्मापितस्त्रिभुवनैकललामभूत । तावंत
एव खलु तेऽप्यणवः पृथिव्यां यत्ते समानमपरं न हि रूपमस्ति ॥ १२ ॥
वक्त्रं क्व ते सुरनरोरगनेत्रहारि, निश्शेषनिर्जितजगत्त्रितयोपमानम् । विम्बं
कलङ्कमलिनं क्व निशाकरस्य यद्वासरे भवति पाण्डुपलाशकल्पम् ॥ १३ ॥
सम्पूर्णमण्डलशशाङ्ककलाकलापशुभ्रा, गुणास्त्रिभुवनं तव लङ्घयन्ति । ये
संश्रितास्त्रिजगदीश्वरनाथमेकं कस्तान्निवारयति संचरतो यथेष्टम् ॥ १४ ॥
चित्रं किमत्र यदि ते त्रिदशाङ्गनाभिर्नीत मनागपि मनो न विकारमार्गम् ।
कल्पान्तकालमरुता चलिताचलेन, किं मन्दराद्रिशिखरं चलितं कदाचित्
॥ १५ ॥ निर्धूमवर्तिरपवर्जिततैलपूरः कृत्स्नं जगत्त्रयमिदं प्रकटीकरोषि ।
गम्यो न जातु मरुतां चलिताचलानां दीपोऽपरस्त्वमसि नाथ जगत्प्रकाशः
॥ १६ ॥ नास्तं कदाचिदुपयासि न राहुगम्यः स्पष्टीकरोषि सहसा युग-
पज्जगन्ति । नाम्भोधरोदरनिरुद्धमहाप्रभावः सुर्यातिशायिमहिमासि मुनीन्द्र
लोके ॥ १७ ॥ नित्योदयं दलितमोहमहान्धकारं गम्यं न राहुवदनस्य न
वारिदानाम् । विभ्राजते तव मुखाब्जमनल्पकान्ति विद्योतयज्जगदपूर्वश-
शाङ्कविम्बम् ॥ १८ ॥ किं शर्वरीषुशशिनाह्नि विवस्वता वा युष्मन्मुखे-
न्दुदलितेषु तमःसुनाथ । निष्पन्नशालिवनशालिनि जीवलोके कार्यं किय-
ज्जलधरैर्जलभारनम्रैः ॥ १९ ॥ ज्ञानं यथा त्वयि विभाति कृतावकाशं
नैवं तथा हरिहरादिषु नायकेषु । तेजो महामणिषु याति यथा महत्त्वं नैवं
तु काचशकले किरणाकुलेऽपि ॥ २० ॥ मन्ये वरं हरिहरादय एव दृष्टा

दृष्टेषु येषु हृदयं त्वयि तोषमेति । किं वीक्षितेन भवता भुवि येन नान्यः
कश्चिन्मनोः हरति नाथ भवान्तरेऽपि ।। २१ ।। स्त्रीणां शतानि शतशो
जनयंति पुत्रान्नान्या सुतं त्वदुपमं जननी प्रसूता । सर्वा दिशो दधति
भानि सहस्ररश्मिं प्राच्येव दिग्जनयति स्फुरदंशुजालम् ।। २२ ।। त्वामा-
मनन्ति मुनयः परमं पुमांसमादित्यवर्णममलं तमसः परस्तात् । त्वामेव
सम्यगुपलभ्य जयंति मृत्यु नान्यः शिवः शिवपदस्य मुनींद्र पंथाः ।। २३ ।।
त्वामव्यय विभुमचिन्त्यमसङ्ख्यमाद्यं ब्रह्माणमीश्वरमनन्तमनङ्गकेतुम् ।
योगीश्वरं विदितयोगमनेकमेक ज्ञानस्वरूपममल प्रवदन्त सन्तः ।। २४ ।।
बुद्धस्त्वमेव विबुधार्चितबुद्धिबोधात्त्वं शङ्करोऽसि भुवनत्रयशङ्करत्वात् ।
धातासि धीर शिवमार्गविधेर्विधानाद्व्यक्तं त्वमेव भगवन्पुरुषोत्तमोऽसि
।। २५ ।। तुभ्यं नमस्त्रिभुवनार्तिहराय नाथ तुभ्यं नमः क्षितितलामलभू-
षणाय । तुभ्यं नमस्त्रिजगतः परमेश्वराय तुभ्यं नमो जिन भवोदधिशो-
षणाय ।। २६ ।। को विस्मयोऽत्र यदि नाम गुणैरशेषैस्त्वं संश्रितो
निरवकाशतया मुनीश । दोषैरुपात्तविबुधाश्रयजातगर्वैः स्वप्नान्तरेऽपि न
कदाचिदपीक्षितोऽसि ।। २७ ।। उच्चैरशोकतरुसंश्रितमुन्मयूखमाभाति रूप-
ममलं भवतो नितान्तम् । स्पष्टोल्लसत्किरणमस्ततमोवितानं बिम्बं रवेरिव
पयोधरपार्श्ववर्ति ।। २८ ।। सिंहासने मणिमयूखशिखाविचित्रे विभ्राजते
तव वपु कनकावदातम् । बिम्बं वियद्विलसदंशुलतावितान तुङ्गोदयाद्रि-
शिरसीव सहस्ररश्मे ।। २९ ।। कुन्दावदातचलचामरचारुशोभं विभ्राजते
तव वपुः कलधौतकान्तम् । उद्यच्छशाङ्कशुचिनिर्झरवारिधारमुच्चैस्तटं सुर-
गिरेरिव शातकौम्भम् ।। ३० ।। छत्रत्रय तव विभाति शशाङ्ककान्तमुच्चैः
स्थितं स्थगितभानुकरप्रतापम् । मुक्ताफलप्रकरजालविवृद्धशोभं प्रख्यापय-
त्रिजगतः परमेश्वरत्वम् ।। ३१ ।। गम्भीरताररवपूरितदिग्विभागस्त्रैलोक्य-
लोकशुभसङ्गमभूतिदक्षः । सद्धर्मराजजयघोषणघोषकः सन्खे दुन्दुभिर्ध्वनति
ते यशसः प्रवादी ।। ३२ ।। मन्दारसुन्दरनमेरुसुपारिजात सन्तानकादिकुसु-
मोत्करवृष्टिरुद्धा । गन्धोदबिन्दुशुभमन्दमरुत्प्रयाता दिव्या दिवः पतति ते
वयसां ततिर्वा ।। ३३ ।। शुम्भत्प्रभावलयभूरिविभा विभोस्ते लोकत्रये

द्युतिमतां द्युतिमाक्षिपन्ती । प्रोद्यद्दिवाकरनिरन्तरभूरिसंख्या दीप्त्या जय-
त्यपि निशामपि सोमसौम्याम् ॥ ३४ ॥ स्वर्गापवर्गगममार्गविमार्गणेष्टः
सद्धर्मतत्त्वकथनैकपटुस्त्रिलोक्याः। दिव्यध्वनिर्भवति ते विशदार्थसर्वभाषा-
स्वभावपरिणामगुणप्रयोज्यः ॥ ३५ ॥ उन्निद्रहेमनवपङ्कजपुञ्जकान्ती
पर्युल्लसन्नखमयूखशिखाभिरामौ । पादौ पदानि तव यत्र जिनेंद्र धत्तः
पद्मानि तत्र विबुधाः परिकल्पयन्ति ॥ ३६ ॥ इत्थं यथा तव विभूतिर-
भूज्जिनेंद्र । धर्मोपदेशनविधौ न तथापरस्य । यादृक्प्रभा दिनकृतः प्रह-
तान्धकारा तादृक्कुतो ग्रहगणस्य विकासिनोऽपि ॥ ३७ ॥ श्च्योतन्मदा-
विलविलोलकपोलमूलमत्तभ्रमद्भ्रमरनादविवृद्धकोपम् । ऐरावताभमिभमु-
द्धतमापतन्तं दृष्ट्वा भयं भवति नो भवदाश्रितानाम् ॥ ३८ ॥ भिन्नेभकु-
म्भगल दुज्ज्वलशोणिताक्तमुक्ताफलप्रकरभूषितभूमिभागः । बद्धक्रमः
क्रमगतं हरिणाधिपोऽपि नाक्रामति क्रमयुगाचलसंश्रितं ते ॥ ३९ ॥
कल्पान्तकालपवनोद्धतवह्निकल्पं दावानलं ज्वलितमुज्ज्वलमुत्स्फुलिङ्गम् ।
विश्व जिघत्सुमिव सम्मुखमापतन्तं त्वन्नामकीर्तनजलं शमयत्यशेषम्
॥ ४० ॥ रक्तेक्षणं समदकोकिलकण्ठनीलं क्रोधोद्धतं फणिनमुत्फणमापत
न्तम् । आक्रामति क्रमयुगेन निरस्तशङ्कस्त्वन्नामनागदमनी हृदि यस्य
पुंसः ॥ ४१ ॥ वल्गत्तुरंगगजगर्जितभीमनादमाजौ बलं बलवतामपि भूप-
तीनाम् । उद्यद्दिवाकरमयूखशिखापविद्धं त्वत्कीर्तनात्तम इवाशु भिदामुपैति
॥ ४२ ॥ कुन्ताग्रभिन्नगजशोणितवारिवाहवेगावतारतरणातुरयोधभीमे ।
युद्धे जयं विजितदुर्जयजेयपक्षास्त्वत्पादपङ्कजवनाश्रयिणो लभन्ते ॥ ४३ ॥
अम्भोनिधौ क्षुभितभीषणनक्रचक्रपाठीनपीठभयदोल्वणवाडवाग्नौ । रङ्गत्त-
रङ्गशिखरस्थितयानपात्रास्त्रासं विहाय भवतः स्मरणाद्व्रजन्ति ॥ ४४ ॥
उद्भूतभीषणजलोदरभारभुग्नाः शोच्यां दशामुपगताश्च्युतजीविताशाः ।
त्वत्पादपङ्कजरजोमृतदिग्धदेहा मर्त्या भवंति मकरध्वजतुल्यरूपाः ॥ ४५ ॥
आपादकण्ठमुरुशृङ्खलवेष्टिताङ्गा गाढं बृहन्निगडकोटिनिघृष्टजङ्घाः । त्वन्ना-
ममन्त्रमनिशं मनुजाः स्मरन्तः सद्यः स्वयं विगतबन्धभया भवंति ॥ ४६ ॥
मत्तद्विपेन्द्रमृगराजदवानलाहिसंग्रामवारिधिमहोदरबन्धनोत्थम् ॥ तस्याशु

नाशमुपयाति भयं भियेव यस्तावकं स्तवमिमं मतिमानधीते ॥ ४७ ॥
स्तोत्रस्रजं तव जिनेन्द्र गुणैर्निबद्धां भक्त्या मया विविधवर्णविचित्रपुष्पाम्
धत्ते जनो य इह कण्ठगतामजस्रं तं मानतुङ्गमवशा समुपैति लक्ष्मीः ॥ ४८ ॥

॥ इति श्रीमानतुङ्गाचार्यविरचित भक्तामरस्तोत्रम ॥

श्रीसिद्धसेनदिवाकरप्रणीत

कल्याणमन्दिरस्तोत्रम् ।

कल्याणमन्दिरमुदारमवद्यभेदि भीताभयप्रदमनिन्दितमंघ्रिपद्मम् ।
संसारसागरनिमज्जदशेषजन्तुपोतायमानमभिनम्य जिनेश्वरस्य ॥ १ ॥
यस्य स्वयं सुरगुरुर्गरिमाम्बुराशेः स्तोत्रं सुविस्तृतमतिर्न विभुर्विधातुम् ।
तीर्थेश्वरस्य कमठस्मयधूमकेतोस्तस्याहमेष किल संस्तवनं करिष्ये ॥ २ ॥
(युग्मम्) सामान्यतोऽपि तव वर्णयितुं स्वरूपमस्मादृशाः कथमधीश भव-
न्त्यधीशाः । धृष्टोऽपि कौशिकशिशुर्यदि वा दिवान्धो रूपं प्ररूपयति किं
किल घर्मरश्मेः ॥ ३ ॥ मोहक्षयादनुभवन्नपि नाथ मर्त्यो नूनं गुणान्गण-
यितुं न तव क्षमेत । कल्पान्तवान्तपयसः प्रकटोऽपि यस्मान्मीयेत केन जलधे-
र्ननु रत्नराशिः ॥ ४ ॥ अभ्युद्यतोऽस्मि तव नाथ जडाशयोऽपि कर्तुं स्तवं लस-
दसंख्यगुणाकरस्य । बालोऽपि किं न निजबाहुयुगं वितत्य विस्तीर्णतां
कथयति स्वधियाम्बुराशेः ॥ ५ ॥ ये योगिनामपि न यान्ति गुणास्तवेश
वक्तुं कथं भवति तेषु ममावकाशः । जाता तदेवमसमीक्षितकारितेयं
जल्पन्ति वा निजगिरा ननु पक्षिणोऽपि ॥ ६ ॥ आस्तामचिन्त्यमहिमा
जिन संस्तवस्ते नामापि पाति भवतो भवतो जगन्ति । तीव्रातपोपहतपान्थ-

जनाविदाघे प्रीणाति पद्मसरसः सरसोऽनिलोऽपि ॥ ७ ॥ हृद्वर्तिनि त्वयि विभो शिथिलीभवंति जन्तोः क्षणेन निविडा अपि कर्मबन्धा । सद्यो भुजंङ्गममया इव मध्यभागमभ्यागते वनशिखण्डिनि चन्दनस्य ॥ ८ ॥ मुच्यन्त एव मनुजाः सहसा जिनेंद्र रौद्रैरुपद्रवशतैस्त्वयि वीक्षितेऽपि । गोस्वामिनी स्फुरिततेजसि दृष्टमात्रे चौरैरिवाशु पशवः प्रपलायमानैः ॥ ९ ॥ त्वं तारको जिन कथं भविनां त एव त्वामुद्वहंति हृदयेन यदुत्तरन्तः । यद्वा दृतिस्तरति यज्जलमेष नूनमन्तर्गतस्य मरुतः स किलानुभावः ॥ १० ॥ यस्मिन्हरप्रभृतयोऽपि हतप्रभावाः सोऽपि त्वाया रतिपतिः क्षपितः क्षणेन । विध्यापिता हुतभुजः पयसाथ येन पीतं न किं तदपि दुर्धरवाडवेन ॥ ११ ॥ स्वामिन्ननल्पगरिमाणमपि प्रपन्नस्त्वां जन्तवः कथमहो हृदये दधानाः । जन्मोदधिं लघु तरन्त्यतिलाघवेन चिन्त्यो न हन्त महतां यदि वा प्रभावः ॥ १२ ॥ क्रोधस्त्वया यदि विभो प्रथमं निरस्तो ध्वस्तास्तदा वद कथं किल कर्मचौराः । प्लोषत्यमुत्र यदि वा शिशिरापि लोके नील-द्रुमाणि विपिनानि न किं हिमानी ॥ १३ ॥ त्वां योगिनो जिन सदा परमात्मरूपमन्वेषयंति हृदयाम्बुजकोषदेशे । पूतस्य निर्मलरुचेर्यद वा किम-न्यदक्षस्य सम्भवपदं ननु कर्णिकायाः ॥ १४ ॥ ध्यानाज्जिनेश भवतो भविनः क्षणेन देहं विहाय परमात्मदशां व्रजंति । तीव्रानलादुपलभावमपास्य लोके चामीकरत्वमचिरादिव धातुभेदाः ॥ १५ ॥ अन्तः सदैव जिन यस्य विभाव्यसे त्वं भव्यैः कथं तदपि नाशयसे शरीरम् । एतत्स्वरूपमथ मध्य-विवर्तिनो हि यद्विग्रहं प्रशमयति महानुभावाः ॥ १६ ॥ आत्मा मनीषि-भिरयं त्वदभेदबुद्ध्या ध्यातो जिनेंद्र भवतीह भवत्प्रभावः । पानीयमप्य-मृतमित्यनुचिन्त्यमानं किं नाम नो विषविकारमपाकरोति ॥ १७ ॥ त्वा-मेव वीततमसं परवादिनोऽपि नूनं विभो हरिहरादिधिया प्रपन्नाः । किं काचकामलिभिरीश सितोऽपि शङ्खो नो गृह्यते विविधवर्णविपर्ययेण ॥ १८ ॥ धर्मोपदेशसमये सविधानुभावादास्तां जनो भवति ते तरुरप्य-शोकः । अभ्युद्गते दिनपतौ समहीरुहोऽपि किं वा विबोधमुपयाति न जीवलोकः ॥ १९ ॥ चित्रं विभो कथमवाङ्मुखवृन्तमेव विष्वक्पतत्यविरला

सुरपुष्पवृष्टिः । त्वद्गोचरं सुमनसां यदि वा मुनीश ! गच्छंति नूनमध एव हिबन्धनानि ॥ २० ॥ स्थाने गभीरहृदयोदधिसम्भवायाः पीयूषता तव गिरः समुदीरयंति । पीत्वा यतः परमसंमदसङ्गभाजो भव्या व्रजंति तरसाप्यजरामरत्वम् ॥ २१ ॥ स्वामिन्सुदूरमवनम्य समुत्पतंतो मन्ये वदन्ति शुचयः सुरचामरौघाः । येऽस्मै नतिं विदधते मुनिपुङ्गवाय ते नूनमूर्ध्वगतयः खलु शुद्धभावाः ॥ २२ ॥ श्यामं गभीरगिरमुज्ज्वलहेमरत्नसिंहासनस्थमिह भव्यशिखण्डिनस्त्वाम् । आलोकयन्ति रभसेन नदन्तमुच्चैश्चामीकराद्रिशिरसीवनवाम्बुवाहम् ॥ २३ ॥ उद्गच्छता तव शितिद्युतिमण्डलेन लुप्तच्छदच्छविरशोकतरुर्बभूव । सांनिध्यतोऽपि यदि वा तव वीतराग ! नीरागतां व्रजति को न सचेतनोऽपि ॥ २४ ॥ भो भोः प्रमादमवधूय भजध्वमेनमागत्य निर्वृतिपुरीं प्रतिसार्थवाहम् । एतन्निवेदयति देव जगत्त्रयाय मन्ये नदन्नभिनभः सुरदुन्दुभिस्ते ॥ २५ ॥ उद्द्योतितेषु भवता भुवनेषु नाथ तारान्वितो विधुरयं विहताधिकारः । मुक्ताकलापकलितोरुसितातपत्रव्याजात्त्रिधाधृतधनुर्ध्रुवमभ्युपेतः ॥ २६ ॥ स्वेन प्रपूरितजगत्त्रयपिण्डितेन कांतिप्रतापयशसामिव सञ्चयेन । माणिक्यहेमरजतप्रविनिर्मितेन सालत्रयेण भगवन्नभितो विभासि ॥ २७ ॥ दिव्यस्रजो जिन नमत्त्रिदशाधिपानामुत्सृज्य रत्नरचितानपि मौलिबन्धान् । पादौ श्रयन्ति भवतो यदि वापरत्र त्वत्सङ्गमे सुमनसो न रमन्त एव ॥ २८ ॥ त्वं नाथ जन्मजलधेर्विपराङ्मुखोऽपि यत्तारयस्यसुमतो निजपृष्ठलग्नान् । युक्तं हि पार्थिवनिपस्य सतस्तवैव चित्रं विभो यदसि कर्मविपाकशून्यः ॥ २९ ॥ विश्वेश्वरोऽपि जनपालक दुर्गतस्त्वं किंवाक्षरप्रकृतिरप्यलिपिस्त्वमीश । अज्ञानवत्यपि सदैव कथंचिदेव ज्ञानं त्वयि स्फुरति विश्वविकासहेतु ॥ ३० ॥ प्राग्भारसम्भृतनभांसि रजांसि रोषादुत्थापितानि कमठेन शठेन यानि । छायापि तैस्तव न नाथ हता हताशो ग्रस्तस्त्वमीभिरयमेव परं दुरात्मा ॥ ३१ ॥ यद्गर्जदूर्जितघनौघमदभ्रभीमभ्रश्यत्तडिन्मुसलमांसलघोरधारम् । दैत्येन मुक्तमथ दुस्तरवारि दध्रे तेनैव तस्य जिन दुस्तरवारिकृत्यम् ॥ ३२ ॥ ध्वस्तोर्ध्वकेशविकृताकृति मर्त्यमुण्डप्रालम्बभृद्भयदवक्त्रविनिर्यदग्निः । प्रेतव्रजः

प्रतिभवन्तमपीरितो यः सोऽस्याभवत्प्रतिभवं भवदुःखहेतुः ॥ ३३ ॥ धन्यास्त एव भुवनाधिप ये त्रिसन्ध्यमाराधयन्ति विधिवद्विधुतान्यकृत्याः । भक्त्योल्लसत्पुलकपक्ष्मलदेहदेशाः पादद्वयं तव विभो भुवि जन्मभाजः ॥ ३४ ॥ अस्मिन्नपारभववारिनिधौ मुनीश मन्ये नमे श्रवणगोचरतां गतोऽसि । आकर्णिते तु तव गोत्रपवित्रमन्त्रे किं वा विपद्विषधरी सविधं समेति ॥ ३५ ॥ जन्मातरेऽपि तव पादयुगं न देव मन्ये मया महितमीहितदानदक्षम् । तेनेह जन्मनि मुनीश ! पराभवानां जातो निकेतनमहं मथिताशयानम् ॥ ३६ ॥ नूनं न मोहतिमिरावृतलोचनेन पूर्वं विभो सकृदपि प्रविलोकितोऽसि मर्माविधो विधुरयन्ति हि मामनर्थाः प्रोद्यत्प्रबन्धगतयः कथमन्यथैते ॥ ३७ ॥ आकर्णितोऽपि महितोऽपि निरीक्षितोऽपि नूनं न चेतसि मया विधृतोऽसि भक्त्या । जातोऽस्मि तेन जनबान्धव दुःखपात्रं यस्मात्क्रियाः प्रतिफलन्ति न भावशून्याः ॥ ३८ ॥ त्वं नाथ दुःखिजनवत्सल हे शरण्य कारुण्यपुण्यवसते वशिनां वरेण्य । भक्त्या न ते मयि महेश दयां विधाय दुःखाङ्कुरोद्दल नतत्परतां विधेहि ॥ ३९ ॥ निःसंख्यसारशरणं शरणं शरण्यमासाद्य सादितरिपुप्रथितावदानम् । त्वत्पादपङ्कजमपि प्रणिधानवन्ध्यो वन्ध्योऽस्मि तद्भुवनपावन हा हतोऽस्मि ॥ ४० ॥ देवेन्द्रवन्द्य विदिताखिलवस्तुसार संसारतारक विभो भुवनाधिनाथ । त्रायस्व देव करुणाह्रद मां पुनीहि सीदन्तमद्य भयदव्यसनाम्बुराशेः ॥ ४१ ॥ यद्यस्ति नाथ भवदङ्घ्रिसरोरुहाणां भक्तेः फलं किमपि सन्ततसञ्चितायाः । तन्मे त्वदेकशरणस्य शरण्य भूयाः स्वामी त्वमेव भुवनेऽत्र भवान्तरेऽपि ॥ ४२ ॥ इत्थं समाहितधियो विधिवज्जिनेन्द्र सान्द्रोल्लसत्पुलककञ्चुकिताङ्गभागाः । त्वद्बिम्बनिर्मलमुखाम्बुजबद्धलक्ष्या ये संस्तवं तव विभो रचयन्ति भव्याः ॥ ४३ ॥ जननयनकुमुदचन्द्र प्रभास्वराः स्वर्गसम्पदो भुक्त्वा । ते विगलितमलनिचया अचिरान्मोक्षं प्रपद्यन्ते ॥ ४४ ॥

॥ इति सिद्धसेनदिवाकरप्रणीत कल्याणमंदिरस्तोत्रम् ॥

श्रीवादिराजप्रणीतम्

एकीभावस्तोत्रम् ।

एकीभावं गत इव मया यः स्वयं कर्मबन्धो घोरं दुःखं भवभवगतो दुर्निवारः करोति । तस्याप्यस्य त्वयि जिनवरे भक्तिरुन्मुक्तये चेज्जेतुं शक्यो भवति न तया कोऽपरस्तापहेतुः ॥ १ ॥ ज्योतीरूपं दुरितनिवहध्वान्तविध्वंसहेतुं त्वामेवाहुर्जिनवर चिरं तत्त्वविद्याभियुक्ताः । चेतोवासे भवसि च मम स्फारमुद्भासमानस्तस्मिन्नंहः कथमिव तमो वस्तुतो वस्तुमीष्टे ॥ २ ॥ आनन्दाश्रुस्नपितवदनं गद्गदं चाभिजल्पन्यश्चायेत त्वयि दृढमनाः स्तोत्रमन्त्रैर्भवन्तम् । तस्याभ्यस्तादपि च सुचिरं देहवल्मीकमध्यान्निष्कास्यन्ते विविधविषमव्याधयः काद्रवेयाः ॥ ३ ॥ प्रागेवेह त्रिदिवभवनादेष्यता भव्यपुण्यात्पृथ्वीचक्रं कनकमयतां देव निन्ये त्वयेदम् । ध्यानद्वारं मम रुचिकरं स्वान्तगेहं प्रविष्टस्तत्किं चित्रं जिन वपुरिदं यत्सुवर्णीकरोषि ॥ ४ ॥ लोकस्यैकस्त्वमसि भगवन्निर्निमित्तेन बन्धुस्त्वय्येवासौ सकलविषया शक्तिरप्रत्यनीका । भक्तिस्फीतां चिरमधिवसन्मामिकां चित्तशय्यां मय्युत्पन्नं कथमिव ततः क्लेशयूथं सहेथाः ॥ ५ ॥ जन्माटव्यां कथमपि मया देव दीर्घं भ्रमित्वा प्राप्तैवेयं तव नयकथा स्फारपीयूषवापी । तस्या मध्ये हिमकरहिमव्यूहशीते नितान्तं निर्मग्नं मां न जहति कथं दुःखदावोपतापाः ॥ ६ ॥ पादन्यासादपि च पुनतो यात्रया ते त्रिलोकी हेमाभासो भवति सुरभिः श्रीनिवासश्च पद्मः । सर्वाङ्गेण स्पृशति भगवंस्त्वय्यशेषं मनो मे श्रेयः किंतत्स्वयमहरहर्यन्न मामभ्युपैति ॥ ७ ॥ पश्यन्तं त्वद्वचनममृतं भक्तिपात्र्या पिबन्तं कर्मारण्यात्पुरुषमसमानन्दधाम प्रविष्टम् । त्वां दुर्वारस्मरमदहरं त्वत्प्रसादैकभूमिं क्रूराकाराः कथमिव रुजाकण्टका निर्लुठन्ति ॥ ८ ॥ पाषाणात्मा तदितरसमः केवलं रत्नमूर्तिर्मानस्तम्भो भवति च

परस्तादृशो रत्नवर्गः । दृष्टिप्राप्तो हरति स कथं मानरोगं नराणां प्रत्या-
सत्तिर्यदि न भवतस्तस्य तच्छक्तिहेतुः ॥ ९ ॥ हृद्यः प्राप्तो मरुदपि
भवन्मूर्तिशैलोपवाही सद्यः पुंसां निरवधिरुजाधूलिबन्धं धुनोति । ध्याना-
हूतो हृदयकमलं यस्य तु त्वं प्रविष्टस्तस्याशक्यः क इह भुवने देव लोकोप-
कारः ॥ १० ॥ जानासि त्वं मम भवभवे यच्च यादृक्च दुःखं जातं यस्य
स्मरणमपि मे शस्त्रवन्निष्पिनष्टि । त्वं सर्वेशः सकृप इति च त्वामुपेतोऽस्मि
भक्त्या यत्कर्तव्यं तदिह विषये देव एव प्रमाणम् ॥ ११ ॥ प्रापद्दैवं तव
नुतिपदैर्जीवकेनोपदिष्टैः पापाचारी मरणसमये सारमेयोऽपि सौख्यम् । कः
संदेहो यदुपलभते वासवश्रीप्रभुत्वं जल्पञ्जाप्यैर्मणिभिरमलैस्त्वन्नमस्कारचक्रम्
॥ १२ ॥ शुद्धे ज्ञाने शुचिनि चरिते सत्यपि त्वय्यनीचा भक्तिर्नो चेदनव-
धिसुखावञ्चिका कुञ्चिकेयम् । शक्योद्घाटं भवति हि कथं मुक्तिकामस्य पुंसो
मुक्तिद्वारं परिदृढमहामोहमुद्राकवाटम् ॥ १३ ॥ प्रच्छन्नः खल्वयमघमयै-
रन्धकारैः समन्तात्पन्था मुक्तेः स्थपुटितपदः क्लेशगर्तैरगाधैः । तत्कस्तेन-
व्रजति सुखतो देव तत्त्वावभासी यद्यग्रेऽग्रे न भवति भवद्भारतीरत्नदीपः
॥ १४ ॥ आत्मज्योतिर्निधिरनवधिर्द्रष्टुरानन्दहेतुः कर्मक्षोणीपटलपिहितो
योऽनवाप्यः परेषाम् । हस्ते कुर्वन्त्यनतिचिरतस्तं भवद्भक्तिभाजः स्तोत्रै-
र्बन्धप्रकृतिपुरुषोद्दामधात्रीखनित्रैः ॥ १५ ॥ प्रत्युत्पन्नानयहिमगिरेरायता
चामृताब्धेर्यादेव त्वत्पदकमलयोः सङ्गता भक्तिगङ्गा । चेतस्तस्यां मम
रुचिवशादाप्लुतं क्षालितांहः कल्माषं यद्भवति किमियं देव संदेहभूमिः
॥ १६ ॥ प्रादुर्भूत स्थिरपदसुख त्वामनुध्यायतो मे त्वय्येवाहं स इति मति
रुत्पद्यते निर्विकल्पा । मिथ्यैवेयं तदपि तनुते तृप्तिमभ्रेषरूपां दोषात्मानोऽ
प्यभिमतफलास्त्वत्प्रसादाद्भवन्ति ॥ १७ ॥ मिथ्यावाद मलमपनुदन्सप्तभ-
ङ्गीतरङ्गैर्वागम्भोधिर्भुवनमखिलं देव पर्येति यस्ते । तस्यावृत्तिं सपदि विबु-
धाश्चेनसैवाचलेन व्यातन्वन्तः सुचिरममृतासेवया तृप्नुवन्ति ॥ १८ ॥
आहार्येभ्यः स्पृहयति परं यः स्वभावादहृद्यशस्त्रग्राही भवति सततं वैरिणा
यश्च शक्यः । सर्वाङ्गेषु त्वमसि सुभगस्त्वं न शक्यः परेषां तत्किं भूषावसनकुसुमैः
किं च शस्त्रैरुदस्त्रैः ॥ १९ ॥ इन्द्रः सेवां तव सुकुरुतां किं तया श्लाघनं ते

तस्यैवेयं भवलयकरी श्लाघ्यतामातनोति । त्वं निस्तारी जननजलधेः सिद्धिकान्तापतिस्त्वं त्वं लोकानां प्रभुरिति तव श्लाघ्यते स्तोत्रमित्थम् ॥ २० ॥ वृत्तिर्वाचामपरसदृशी न त्वमन्येन तुल्यस्तुत्युद्गाराः कथमिव ततस्त्वय्यमी न क्रमन्ते । मैवं भूवंस्तदपि भगवन्भक्तिपीयूषपुष्टास्ते भव्यानामभिमतफलाः पारिजाता भवन्ति ॥ २१ ॥ कोपावेशो न तव न तव क्वापि देव प्रसादो व्याप्तं चेतस्तव हि परमोपेक्षयैवानपेक्षम् । आज्ञावश्यं तदपि भुवनं संनिधिर्वैरहारी क्वैवंभूतं भुवनतिलक ! प्राभवं त्वत्परेषु ॥ २२ ॥ देव स्तोतुं त्रिदिवगणिकामण्डलीगीतकीर्तिं तोतूर्ति त्वां सकलविषयज्ञानमूर्तिं जनो यः । तस्य क्षेमं न पदमटतो जातु जाहूर्ति पन्थास्तत्त्वग्रन्थस्मरणविषये नैष मोमूर्ति मर्त्यः ॥ २३ ॥ चित्ते कुर्वन्निरवधिसुखज्ञानदृग्वीर्यरूपं देव त्वां यः समयनियमादादरेण स्तवीति । श्रेयोमार्गं स खलु सुकृती तावता पूरयित्वा कल्याणानां भवति विषयः पञ्चधापञ्चितानाम् ॥ २४ ॥ भक्तिप्रह्वमहेन्द्रपूजितपदत्वत्कीर्तने न क्षमाः सूक्ष्मज्ञानदृशोऽपिसंयमभृतः के हन्तमन्दा वयम् । अस्माभिः स्तवनच्छलेन तु परस्त्वय्यादरस्तन्यते स्वात्माधीनसुखैषिणां स खलु न कल्याणकल्पद्रुमः ॥ २५ ॥ वादिराजमनु शाब्दिकलोको वादिराजमनु तार्किकसिंहः । वादिराजमनु काव्यकृतस्ते वादिराजमनु भव्यसहायः ॥ २६ ॥

॥ इति श्रीवादिराजकृतमेकीभावस्तोत्रम् ॥

अथ श्रीधनञ्जयकविप्रणीतम्

विषापहारस्तोत्रम् ।

स्वात्मस्थितः सर्वगतः समस्तव्यापारवेदी विनिवृत्तसङ्गः । प्रवृद्धका-

लोऽप्यजरोऽवरेण्यः पायादपायात्पुरुषः पुराणः ॥ १ ॥ परैरचिन्त्यं युगभारमेकः स्तोतुं वहन्योगिभिरप्यशक्यः । स्तुत्योऽद्य मेऽसौ वृषभो न भानोः किमप्रवेशे विशति प्रदीपः ॥ २ ॥ तत्याज शक्रः शकनाभिमानं नाहं त्यजामि स्तवनानुबन्धम् । स्वल्पेन बोधेन ततोऽधिकार्थं वातायनेनेव निरूपयामि ॥ ३ ॥ त्वं विश्वदृश्वा सकलैरदृश्यो विद्वानशेषं निखिलैरवेद्यः । वक्तुं कियान्कीदृशमित्यशक्यः स्तुतिस्ततोऽशक्तिकथा तवास्तु ॥ ४ ॥ व्यापीडितं बालमिवात्मदोषैरुल्लाघतां लोकमवापिपस्त्वम् । हिताहितान्वेषणमान्द्यभाजः सर्वस्य जन्तोरसि बालवैद्यः ॥ ५ ॥ दाता न हर्ता दिवसं विवस्वानद्यश्व इत्यच्युतदर्शिताशः । सव्याजमेवं गमयत्यशक्तः क्षणेन दत्सेऽभिमतं नताय ॥ ६ ॥ उपैति भक्त्या सुमुखः सुखानि त्वयि स्वभावाद्विमुखश्च दुःखम् । सदावदातद्युतिरेकरूपस्तयोस्त्वमादर्श इवाऽवभासि ॥ ७ ॥ अगाधताऽब्धेः स यतः पयोधिर्मेरोश्च तुङ्गा प्रकृतिः स यत्र । द्यावापृथिव्योः पृथुता तथैव व्याप त्वदीया भुवनान्तराणि ॥ ८ ॥ तवानवस्था परमार्थतत्त्वं त्वया न गीतः पुनरागमश्च । दृष्टं विहाय त्वमदृष्टमैषी र्विरुद्धवृत्तोऽपि समञ्जसस्त्वम् ॥ ९ ॥स्मरः सुदग्धो भवतैव तस्मिन्नुद्धूलितात्मा यदि नाम शम्भुः । अशेत वृन्दोपहतोऽपि विष्णुः किं गृह्यते येन भवानजागः ॥ १० ॥ स नीरजाः स्यादपरोऽघवान्वा तद्दोषकीर्त्यैव न ते गुणित्वम् । स्वतोऽम्बुराशेर्महिमा न देव स्तोकापवादेन जलाशयस्य ॥ ११ ॥ कर्मस्थितिं जन्तुरनेकभूमिं नयत्यमुं सा च परस्परस्य । त्वं नेतृभावं हि तयोर्भवाब्धौ जिनेन्द्र नौनाविकयोरिवाख्यः ॥ १२ ॥ सुखाय दुःखानि गुणाय दोषान्धर्माय पापानि समाचरन्ति । तैलाय बालाः सिकतासमूहं निपीडयन्ति स्फुटमत्वदीयाः ॥ १३ ॥ विषापहारं मणिमौषधानि मान्त्रं समुद्दिश्य रसायनं च । भ्राम्यन्त्यहो न त्वमिति स्मरंति पर्यायनामानि तवैव तानि ॥ १४ ॥ चित्ते न किञ्चित्कृतवानसि त्वं देवः कृतश्चेतसि येन सर्वम् । हस्ते कृतं तेन जगद्विचित्रं सुखेन जीवत्यपि चित्तबाह्यः ॥ १५ ॥ त्रिकालतत्त्वं त्वमवैस्त्रिलोकीस्वामीति संख्यानियतेरमीषाम् । बोधाधिपत्यं प्रति नाभविष्यंस्तेऽन्येऽपि चेद्व्याप्स्यदमूनपीदम्

॥ १६ ॥ नाकस्य पत्युः परिकर्म रम्यं नागम्यरूपस्य तवोपकारि । तस्यैव हेतुः स्वसुखस्य भानोरुद्बिभ्रतश्छत्रमिवादरेण ॥ १७ ॥ क्वोपेक्षकस्त्वं क्व सुखोपदेशः स चेत् किमिच्छाप्रतिकूलवादः । क्वासौ क्व वा सर्वजगत्प्रियत्वं तन्नो यथातथ्यमवेविजं ते ॥ १८ ॥ तुङ्गात्फलं यत्तदकिञ्चनाच्च प्राप्यं समृद्धान्न धनेश्वरादेः । निरम्भसोऽप्युच्चतमादिवाद्रेर्नैकापि निर्याति धुनी पयोधेः ॥ १९ ॥ त्रैलोक्यसेवानियमाय दण्डं दध्रे यदिन्द्रो विनयेन तस्य । तत्प्रातिहार्यं भवतः कुतस्त्यं तत्कर्मयोगाद्यदि वा तवास्तु ॥ २० ॥ श्रिया परं पश्यति साधु निःस्वः श्रीमान्न कश्चित्कृपणं त्वदन्यः । यथा प्रकाशस्थितमन्धकारस्थायीक्षतेऽसौ न तथा तमःस्थम् ॥ २१ ॥ स्ववृद्धिनिःश्वासनिमेषभाजि प्रत्यक्षमात्मानुभवेऽपि मूढः । किं चाखिलज्ञेयविवर्तिबोधस्वरूपमध्यक्षमवैति लोकः ॥ २२ ॥ तस्यात्मजस्तस्य पितेति देव त्वां येऽवगायंति कुलं प्रकाश्य । तेऽद्यापि नन्वाश्मनमित्यवश्यं पाणौ कृतं हेमपुनस्त्यजंति ॥ २३ ॥ दत्तस्त्रिलोक्यां पटहोऽभिभूताः सुरासुरास्तस्य महान्स लाभः । मोहस्य मोहस्त्वयि को विरोद्धुर्मूलस्य नाशो बलवद्विरोधः ॥ २४ ॥ मार्गस्त्वयैको ददृशे विमुक्तेश्चतुर्गतीनां गहनं परेण सर्वं मया दृष्टमिति स्मयेन त्वं मा कदाचिद्भुजमालुलोके ॥ २५ ॥ स्वर्भानुरर्कस्य हविर्भुजोऽम्भः कल्पान्तवातोऽम्बुनिधेर्विघातः । संसारभोगस्य वियोगभावो विपक्षपूर्वाभ्युदयास्त्वदन्ये ॥ २६ ॥ अजानतस्त्वां नमतः फलं यत्तज्जानतोऽन्यं न तु देवतेति । हरिन्मणिं काचधिया दधानस्तं तस्य बुद्ध्या वहतो न रिक्तः ॥ २७ ॥ प्रशस्तवाचश्चतुराः कषायैर्दग्धस्य देवव्यवहारमाहुः । गतस्य दीपस्य हि नन्दितत्वं दृष्टं कपालस्य च मङ्गलत्वम् ॥ २८ ॥ नानार्थमेकार्थमदस्त्वदुक्तं हितं वचस्ते निशमय्य वक्तुः । निर्दोषतां के न विभावयन्ति ज्वरेण मुक्तः सुगमः स्वरेण ॥ २९ ॥ न क्वापि वाञ्छा ववृते च वाक्ते काले क्वचित्कोऽपि तथा नियोगः । न पूरयाम्यम्बुधिमित्युदंशुः स्वयं हि शीतद्युतिरभ्युदेति ॥ ३० ॥ गुणा गभीराः परमाः प्रसन्ना बहुप्रकारा बहवस्तवेति । दृष्टोऽयमन्तः स्तवने न तेषां गुणो गुणानां किमतः परोऽस्ति ॥ ३१ ॥ स्तुत्या परं नाभिमतं हि भक्त्या स्मृत्या प्रणत्या च

ततो भजामि। स्मरामि देवं प्रणमामि नित्यं केनाप्युपायेन फल हि साध्यम् ॥ ३२ ॥ ततस्त्रिलोकीनगराधिदेवं नित्यं परं ज्योतिरनन्तशक्तिम्। अपुण्यपापं परपुण्यहेतुं नमाम्यहं वन्द्यमवन्दितारम् ॥ ३३ ॥ अशब्दमस्पर्शमरूपगन्धं त्वा नीरसं तद्विषयावबोधम्। सर्वस्य मातारममेयमन्यैर्जिनेन्द्रमस्मार्यमनुस्मरामि ॥ ३४ ॥ अगाधमन्यैर्मनसाऽप्यलङ्घ्यं निष्किंचनं प्रार्थितमर्थवद्भिः। विश्वस्य पारं तमदृष्टपारं पतिं जिनाना शरणं व्रजामि ॥ ३५ ॥ त्रैलोक्यदीक्षागुरवे नमस्ते यो वर्धमानोऽपि निजोन्नतोऽभूत्। प्राग्गण्डशैलः पुनरद्रिकल्पः पश्चान्नमेरुः कुलपर्वतोऽभूत् ॥ ३६ ॥ स्वयंप्रकाशस्य दिवा निशा वा न बाध्यता यस्य न बाधकत्वम्। न लाघवं गौरवमेकरूपं वन्दे विभुं कालकलामतीतम् ॥ ३७ ॥ इति स्तुतिं देव विधाय दैन्याद्वरं न याचे त्वमुपेक्षकोऽसि। छायातरुं संश्रयतः स्वतः स्यात्कश्छायया याचितयात्मलाभः ॥ ३८ ॥ अथास्ति दित्सा यदि वोपरोधस्त्वय्येव सक्तां दिश भक्तिबुद्धिम्। करिष्यते देव तथा कृपां मे को वात्मपोष्ये सुमुखो न सूरिः ॥ ३९ ॥ वितरति विहिता यथाकथंचिज्जिन विनताय मनीषितानि भक्तिः। त्वयि नुतिविषया पुनर्विशेषाद्दिशति सुखानि यशो धनं जयं च ॥ ४० ॥

॥ इति श्रीधनंजयकृतं विषापहारस्तोत्रम् ॥

श्रीभूपालकविप्रणीता

जिनचतुर्विंशतिका

श्रीलीलायतनं महीकुलगृहं कीर्तिप्रमोदास्पदं वाग्देवीरतिकेतनं जयरमाक्रीडानिधानं महत्। यः स्यात्सर्वमहोत्सवैकभवनं यः प्रार्थितार्थप्रदं प्रातः पश्यति कल्पपादपदलच्छायं जिनाङ्घ्रिद्वयम् ॥ १ ॥ शान्तं वपुः श्रवण-

हारि वचश्चरित्रं सर्वोपकारि तव देव ततः श्रुतज्ञाः। संसारभारवमहास्थ-
लरुद्रसान्द्रच्छायामहीरुह भवन्तमुपाश्रयन्ते ॥ २ ॥ स्वामिन्नद्य विनिर्गतोऽस्मि जननीगर्भान्धकूपोदराद्द्योद्घाटितदृष्टिरस्मि फलवज्जन्मास्मि चाद्य स्फुटम्। त्वामद्राक्षमहं यदक्षयपदानन्दाय लोकत्रयीनेत्रेन्दीवरकाननेन्दुममृतस्यन्दिप्रभाचन्द्रिकम् ॥ ३ ॥ निःशेषत्रिदशेन्द्रशेखरशिखारत्नप्रदीपावली—सान्द्रीभूतमृगेन्द्रविष्टरतटीमाणिक्यदीपावलिः। क्वेयं श्रीः क्व च निःस्पृहत्वमिदमित्यूहातिगस्त्वादृशः सर्वज्ञानदृशश्चरित्रमहिमा लोकेश लोकोत्तरः ॥ ४ ॥ राज्य शासनकारिनाकपति यत्त्यक्तं तृणावज्ञया, हेलानिर्दलितत्रिलोकमहिमा यन्मोहमल्लो जितः। लोकालोकमपि स्वबोधमुकुरस्यान्तः कृतं यत्त्वया, सैषाऽऽश्चर्यपरम्परा जिनवर क्वान्यत्र संभाव्यते ॥ ५ ॥ दान ज्ञानधनाय दत्तमसकृत्पात्राय सद्वृत्तये चीर्णान्युग्रतपांसि तेन सुचिरं पूजाश्च बह्व्यः कृताः। शीलानां निचयः सहामलगुणैः सर्वः समासादितो दृष्टस्त्वं जिन येन दृष्टिसुभगः श्रद्धापरेण क्षणम् ॥ ६ ॥ प्रज्ञापारमितः स एव भगवान्पारं स एव श्रुतस्कन्धाब्धेर्गुणरत्नभूषण इति श्लाघ्यः स एव ध्रुवम्। नीयन्ते जिन येन कर्णहृदयालंकारतां त्वद्गुणाः संसाराहिविषापहारमणयस्त्रैलोक्यचूणामणेः ॥ ७ ॥ जयति दिविजवृन्दान्दोलितैरिन्दुरोचिर्निचयरुचिभिरुच्चैश्चामरैर्वीज्यमानः। जिनपतिरनुज्यन्मुक्तिसाम्राज्यलक्ष्मीयुवतिनवकटाक्षक्षेपलीलां दधानैः ॥ ८ ॥ देवः श्वेतातपत्रत्रयचमारिरुहाशोकभाश्चक्रभाषापुष्पौघासारसिंहासनसुरपटहैरष्टभिः प्रातिहार्यैः। साश्चर्यैर्भ्राजमानः सुरमनुजसभाम्भोजिनीभानुमाली पायान्नः पादपीठीकृतसकलजगत्पादमौलिर्जिनेन्द्रः ॥ ९ ॥ नृत्यत्स्वर्दन्तिदन्ताम्बुरुहवननटन्नाकनारीनिकायः सद्यस्त्रैलोक्ययात्रोत्सवकरनिनदातोद्यमाद्यन्निलिम्पः। हस्ताम्भोजातलीलाविनिहितसुमनोदामरम्यामरस्त्रीकाम्यः कल्याणपूजाविधिषु विजयते देव देवागमस्ते ॥ १० ॥ चक्षुष्मानहमेव देव भुवने नेत्रामृतस्यन्दिनं त्वद्वक्त्रेन्दुमतिप्रसादसुभगैस्तेजोभिरुद्भासितम्। तेनालोकयता मयाऽनतिचिराच्चक्षुः कृतार्थीकृतं द्रष्टव्यावधिवीक्षणव्यतिकरव्याजृम्भमाणोत्सवम् ॥ ११ ॥ कान्तोः सकान्तमपि मल्लमवैति कश्चि-

न्मुग्धो मुकुन्दमरविन्दजमिन्दुमौलिम् । मोघीकृतत्रिदशयोषिदपाङ्गपातस्तस्य त्वमेव विजयी जिनराजमल्लः ॥ १२ ॥ किसलयितमनल्पं त्वद्विलोकाभिलापात्कुसुमितमतिसान्द्रं त्वत्समीपप्रयाणात् । मम फलितममन्दं त्वन्मुखेन्दोरिदानीं नयनपथमवाप्ताद्देव पुण्यद्रुमेण ॥ १३ ॥ त्रिभुवनवनपुष्प्यत्पुष्पकोदण्डदर्पप्रसरदवनवाम्भोमुक्तिसूक्तिप्रसूतिः । स जयति जिनराजव्रातजीमूतसङ्घः शतमखशिखिनृत्यारम्भनिर्बन्धबन्धुः ॥ १४ ॥ भूपालः स्वर्गपालप्रमुखनरसुरश्रेणिनेत्रालिमालालीलाचैत्यस्य चैत्यालयमखिलजगत्कौमुदीन्दोर्जिनस्य। उत्तंसीभूतसेवाञ्जलिपुटनलिनीकुड्मलास्त्रिः परीत्य श्रीपादच्छाययापस्थितभवदवथुः संश्रितोऽसीव मुक्तिम् ॥ १५ ॥ देव त्वदङ्घ्रिनखमण्डलदर्पणेऽस्मिन्नर्घ्ये निसर्गरुचिरे चिरदृष्टवक्त्रः । श्रीकीर्तिकान्तिधृतिसङ्गमकारणानि भव्यो न कानि लभते शुभमङ्गलानि॥ १६ ।' जयति सुरनरेन्द्रश्रीसुधानिर्झरिण्याः कुलधरणिधरोऽयं जैनचैत्याभिरामः। प्रविपुलफलधर्मानोकहाग्रप्रवालप्रसरशिखरशुम्भत्केतनः श्रीनिकेतः॥ १७॥ विनमदमरकान्ताकुन्तलाक्रान्तकान्तिस्फुरितनखमयूखद्योतिताशान्तरालः । दिविजमनुजराजव्रातपूज्यक्रमाब्जो जयति विजितकर्मारातिजालो जिनेन्द्रः ॥ १८ ॥ सुप्तोत्थितेन सुमुखेन सुमङ्गलाय द्रष्टव्यमस्ति यदि मङ्गलमेव वस्तु । अन्येन किं तदिह नाथ तवैव वक्त्रं त्रैलोक्यमङ्गलनिकेतनमीक्षणीयम् ॥ १९ ॥ त्वं धर्मोदयतापसाश्रमशुकस्त्वं काव्यबन्धक्रमक्रीडानन्दनकोकिलस्त्वमुचितः श्रीमल्लिकाषट्पदः । त्वं पुन्नागकथारविन्दसरसीहंसस्त्वमुत्तंसकः कैर्भूपाल न धार्यसे गुणमणिस्रङ्मालिभिर्मौलिभिः ॥ २० ॥ शिवसुखमजरश्रीसङ्गमं चाभिलष्य स्वमभिनिगमयन्ति क्लेशपाशेन केचित् ॥ वयमिह तु वचस्ते भूपतेर्भावयन्तस्तदुभयमपि शश्वल्लीलया निर्विशामः ॥ २१ ॥ देवेन्द्रास्तव मज्जनानि विदधुर्देवाङ्गना मङ्गलान्यापेठुः शरदिन्दुनिर्मलयशो गन्धर्वदेवा जगुः । शेषाश्चापि यथानियोगमखिलाः सेवां सुराश्चक्रिरे तत्किं देव वयं विदध्म इति नश्चित्तं तु दोलायते ॥ २२ ॥ देव त्वज्जननाभिषेकसमये रोमाञ्चसत्कञ्चुकैर्देवेन्द्रैर्यदनर्ति नर्तितविधौ लब्धप्रभावैः स्फुटम् । किं चान्यत्सुरसुन्दरीकुचतटप्रान्तावनद्धोत्तमप्रेङ्खद्ध-

ङ्किनादझंकृनमहो तत्केन संवर्ण्यते ॥ २३ ॥ देव त्वत्प्रतिविम्बमम्बुज-दलस्मेरेक्षणं पश्यतां यत्रास्माकमहो महोत्सवरसो दृष्टेरियान्वर्तते। साक्षात्तत्र भवन्तमीक्षितवतां कल्याणकाले तदा देवानामनिमेषलोचनतया वृत्तः स किं वर्ण्यते ॥ २४ ॥ दृष्टं धाम रसायनस्य महतां दृष्टं निधीनां पदं दृष्टं सिद्धरसस्य पद्म सदनं दृष्टं च चिन्तामणेः। किं दृष्टैरथवानुषङ्गिक-फलैरेभिर्मयाद्य ध्रुवं दृष्टं मुक्तिविवाहमङ्गलगृहं दृष्टे जिनश्रीगृहे ॥ २५ ॥ दृष्टत्वं जिनराजचन्द्र विकसद्भूपेन्द्रनेत्रोत्पलैः स्नातं त्वन्नुति-चन्द्रिकाम्भसि भवद्विद्वच्चकोरोत्सवे। नीतश्चाद्य निदाघजः क्लमभरः शान्तिं मया गम्यते देव त्वद्गतचेतसैव भवतो भूयात्पुनर्दर्शनम् ॥ २६ ॥

॥ इति श्रीभूपालकविप्रणीता जिनचतुर्विंशतिका ॥

आचार्यश्रीमदुमास्वामिविरचितं

तत्त्वार्थसूत्रम् ।

सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः ॥ १ ॥ तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम् ॥ २ ॥ तन्निसर्गादधिगमाद्वा ॥ ३ ॥ जीवाजीवास्रवबन्धसंवर-निर्जरामोक्षास्तत्त्वम् ॥ ४ ॥ नामस्थापनाद्रव्यभावतस्तन्न्यासः ॥ ५ ॥ प्रमाणनयैरधिगमः ॥ ६ ॥ निर्देशस्वामित्वसाधनाऽधिकरणस्थितिविधानतः ॥ ७ ॥ सत्संख्या क्षेत्रस्पर्शनकालान्तरभावाल्पबहुत्वैश्च ॥ ८ ॥ मतिश्रु-तावधिमनःपर्ययकेवलानि ज्ञानम् ॥ ९ ॥ तत्प्रमाणे ॥ १० ॥ आद्ये परो-क्षम् ॥ ११ ॥ प्रत्यक्षमन्यत् ॥ १२ ॥ मतिः स्मृतिः संज्ञा चिन्ताऽभि-निबोध इत्यनर्थान्तरम् ॥ १३ ॥ तदिन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तम् ॥ १४ ॥ अवग्रहेहावायधारणाः ॥ १५ ॥ बहुबहुविधक्षिप्राऽनिःसृताऽनुक्तध्रुवाणां

सेतराणाम् ॥ १६ ॥ अर्थस्य ॥ १७ ॥ व्यञ्जनस्यावग्रहः ॥ १८ ॥ न चक्षुरनिन्द्रियाभ्याम् ॥ १९ ॥ श्रुतं मतिपूर्वं द्व्यनेकद्वादशभेदम् ॥ २० ॥ भवप्रत्ययोऽवधिर्देवनारकाणाम् ॥ २१ ॥ क्षयोपशमनिमित्तः षड्विकल्पः शेषाणाम् ॥ २२ ॥ ऋजुविपुलमती मनःपर्ययः ॥ २३ ॥ विशुद्ध्यप्रतिपाताभ्यां तद्विशेषः ॥ २४ ॥ विशुद्धिक्षेत्रस्वामिविषयेभ्योऽवधिमनःपर्यययोः ॥ २५ ॥ मतिश्रुतयोर्निबन्धो द्रव्येष्वसर्वपर्यायेषु ॥ २६ ॥ रूपिष्ववधेः ॥ २७ ॥ तदनन्तभागे मनः पर्ययस्य ॥ २८ ॥ सर्वद्रव्यपर्यायेषु केवलस्य ॥ २९ ॥ एकादीनि भाज्यानि युगपदेकस्मिन्नाचतुर्भ्यः ॥ ३० ॥ मतिश्रुतावधयो विपर्ययश्च ॥ ३१ ॥ सदसतोरविशेषाद्यदृच्छोपलब्धेरुन्मत्तवत् ॥ ३२ ॥ नैगमसंग्रहव्यवहारर्जुसूत्रशब्दसमभिरूढैवंभूता नयाः ॥ ३३ ॥

॥ इति तत्वार्थाधिगमे मोक्षशास्त्रे प्रथमोऽध्याय ॥ १ ॥

औपशमिकक्षायिकौ भावौ मिश्रश्च जीवस्य स्वतत्त्वमौदयिकपारिणामिकौ च ॥ १ ॥ द्विनवाष्टादशैकविंशतित्रिभेदा यथाक्रमम् ॥ २ ॥ सम्यक्त्वचारित्रे ॥ ३ ॥ ज्ञानदर्शनदानलाभभोगोपभोगवीर्याणि च ॥ ४ ॥ ज्ञानाज्ञानदर्शनलब्धयश्चतुस्त्रित्रिपञ्चभेदाः सम्यक्त्वचारित्रसंयमाश्च ॥ ५ ॥ गतिकषायलिङ्गमिथ्यादर्शनाऽज्ञानाऽसंयताऽसिद्धलेश्याश्चतुश्चतुस्त्र्येकैकैकैकषड्भेदाः ॥ ६ ॥ जीवभव्याऽभव्यत्वानि च ॥ ७ ॥ उपयोगो लक्षणम् ॥ ८ ॥ स द्विविधोऽष्टचतुर्भेदः ॥ ९ ॥ संसारिणो मुक्ताश्च ॥ १० ॥ समनस्काऽमनस्काः ॥ ११ ॥ संसारिणस्त्रसस्थावराः ॥ १२ ॥ पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतयः स्थावराः ॥ १३ ॥ द्वीन्द्रियादयस्त्रसाः ॥ १४ ॥ पञ्चेन्द्रियाणि ॥ १५ ॥ द्विविधानि ॥ १६ ॥ निर्वृत्युपकरणे द्रव्येन्द्रियम् ॥ १७ ॥ लब्ध्युपयोगौ भावेन्द्रियम् ॥ १८ ॥ स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुःश्रोत्राणि ॥ १९ ॥ स्पर्शरसगन्धवर्णशब्दास्तदर्थाः ॥ २१ ॥ श्रुतमनिन्द्रियस्य ॥ २१ ॥ वनस्पत्यन्तानामेकम् ॥ २२ ॥ कृमिपिपीलिकाभ्रमरमनुष्यादीनामेकैकवृद्धानि ॥ २३ ॥ संज्ञिनः समनस्काः ॥ २४ ॥ विग्रहगतौ कर्मयोगः ॥ २५ ॥ अनुश्रेणि गतिः ॥ २६ ॥ अविग्रहा जीवस्य ॥ २७ ॥

विग्रहवती च संसारिणः प्राक् चतुर्भ्यः ॥ २८ ॥ एकसमयाऽविग्रहा ॥ २९ ॥ एकं द्वौ त्रीन्वानाहारकः ॥ ३० ॥ सम्मूर्छनगर्भोपपादा जन्म ॥ ३१ ॥ सचित्तशीतसंवृताः सेतरा मिश्राश्चैकशस्तद्योनयः ॥ ३२ ॥ जरायुजाण्डजपोतानां गर्भः ॥ ३३ ॥ देवनारकाणामुपपादः ॥ ३४ ॥ शेषाणां सम्मूर्छनम् ॥ ३५ ॥ औदारिकवैक्रियिकाहारकतैजसकार्मणानि शरीराणि ॥ ३६ ॥ परं परं सूक्ष्मम् ॥ ३७ ॥ प्रदेशतोऽसंख्येयगुणं प्राक् तैजसात् ॥ ३८ ॥ अनन्तगुणे परे ॥ ३९ ॥ अप्रतीघाते ॥ ४० ॥ अनादिसम्बन्धे च ॥ ४१ ॥ सर्वस्य ॥ ४२ ॥ तदादीनि भाज्यानि युगपदेकस्मिन्नाचतुर्भ्यः ॥ ४३ ॥ निरुपभोगमन्त्यम् ॥ ४४ ॥ गर्भसम्मूर्छनजमाद्यम् ॥ ४५ ॥ औपपादिकं वैक्रियिकम् ॥ ४६ ॥ लब्धिप्रत्ययं च ॥ ४७ ॥ तैजसमपि ॥ ४८ ॥ शुभं विशुद्धमव्याघाति चाहारकं प्रमत्तसंयतस्यैव ॥ ४९ ॥ नारकसम्मूर्छिनो नपुंसकानि ॥ ५० ॥ न देवाः ॥ ५१ ॥ शेषास्त्रिवेदाः ॥ ५२ ॥ औपपादिकचरमोत्तमदेहाः संख्येयवर्षायुषोऽनपवर्त्यायुषः ॥

॥ इति तत्त्वार्थाधिगमे मोक्षशास्त्रे द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

रत्नशर्करावालुकापङ्कधूमतमोमहातमःप्रभा भूमयो घनाम्बुवाताकाशप्रतिष्ठाः सप्ताधोऽधः ॥ १ ॥ तासु त्रिंशत्पञ्चविंशतिपञ्चदशत्रिपञ्चोनैकनरकशतसहस्राणि पञ्च चैव यथाक्रमम् ॥ २ ॥ नारका नित्याशुभतरलेश्यापरिणामदेहवेदनाविक्रियाः ॥ ३ ॥ परस्परोदीरितदुःखाः ॥ ४ ॥ संक्लिष्टासुरोदीरितदुःखाश्च प्राक्चतुर्थ्याः ॥ ५ ॥ तेष्वेकत्रिसप्तदशसप्तदशद्वाविंशतित्रयस्त्रिंशत्सागरोपमा सत्त्वानां परा स्थितिः ॥ ६ ॥ जम्बूद्वीपलवणोदादयः शुभनामानो द्वीपसमुद्राः ॥ ७ ॥ द्विर्द्विर्विष्कम्भाः पूर्वपूर्वपरिक्षेपिणो वलयाकृतयः ॥ ८ ॥ तन्मध्ये मेरुनाभिर्वृत्तो योजनशतसहस्रविष्कम्भो जम्बूद्वीपः ॥ ९ ॥ भरतहैमवतहरिविदेहरम्यकहैरण्यवतैरावतवर्षाः क्षेत्राणि ॥ १० ॥ तद्विभाजिनः पूर्वापरायता हिमवन्महाहिमवन्निषधनीलरुक्मिशिखरिणो वर्षधरपर्वताः ॥ ११ ॥ हेमार्जुनतपनीयवैडूर्यरजतहेममयाः

॥ १२ ॥ मणिविचित्रपार्श्वा उपरि मूले च तुल्यविस्ताराः ॥ १३ ॥ पद्म-महापद्मतिगिञ्छकेसरिमहापुण्डरीकपुण्डरीका ह्रदास्तेषामुपरि ॥ १४ ॥ प्रथमो योजनसहस्रायामस्तदर्द्धविष्कम्भो ह्रदः ॥ १५ ॥ दशयोजनावगाह ॥ १६ ॥ तन्मध्ये योजनं पुष्करम् ॥ १७ ॥ तद्द्विगुणद्विगुणा ह्रदाः पुष्कराणि च ॥ १८ ॥ तन्निवासिन्यो देव्यः श्रीह्रीधृतिकीर्तिबुद्धिलक्ष्म्यः पल्योपमस्थितयः ससामानिकपरिषत्काः ॥ १९ ॥ गङ्गासिन्धुरोहिद्रोहिता-स्याहरिद्धरिकान्तासीतासीतोदानारीनरकान्तासुपर्णरूप्यकूलारक्तारक्तोदाः सरितस्तन्मध्यगाः ॥ २० ॥ द्वयोर्द्वयोः पूर्वाः पूर्वगाः ॥ २१ ॥ शेषा-स्त्वपरगाः ॥ २२ ॥ चतुर्दशनदीसहस्रपरिवृता गङ्गासिन्ध्वादयो नद्यः ॥ २३ ॥ भरतः षड्विंशतिपञ्चयोजनशतविस्तारः षट्चैकोनविंशतिभागा योजनस्य ॥ २४ ॥ तद्द्विगुणद्विगुणविस्तारा वर्षधरवर्षा विदेहान्ताः ॥ २५ ॥ उत्तरा दक्षिणतुल्याः ॥ २६ ॥ भरतैरावतयोर्वृद्धिह्रासौ षट्स-मयाभ्यामुत्सर्पिण्यवसर्पिणीभ्याम् ॥ २७ ॥ ताभ्यामपरा भूमयोऽवस्थिताः ॥ २८ ॥ एकद्वित्रिपल्योपमस्थितयो हैमवतकहारिवर्षकदैवकुरवकाः ॥ २९ ॥ तथोत्तराः ॥ ३० ॥ विदेहेषु सङ्ख्येयकालाः ॥ ३१ ॥ भरतस्य विष्कम्भो जम्बूद्वीपस्य नवतिशतभागः ॥ ३२ ॥ द्विर्धातकीखण्डे ॥ ३३ ॥ पुष्करार्द्धे च ॥ ३४ ॥ प्राङ्मानुषोत्तरान्मनुष्याः ॥ ३५ ॥ आर्य्या म्लेच्छाश्च ॥ ३६ ॥ भरतैरावतविदेहाः कर्मभूमयोऽन्यत्र देवकुरूत्तरकुरुभ्यः ॥ ३७ ॥ नृस्थिती परावरे त्रिपल्योपमान्तर्मुहूर्ते ॥ ३८ ॥ तिर्यग्योनिजानां च ॥ ३९ ॥

॥ इति तत्वार्थाधिगमे मोक्षशास्त्रे तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

देवाश्चतुर्णिकायाः ॥ १ ॥ आदितस्त्रिषु पीतान्तलेश्याः ॥ २ ॥ दशा-ष्टपञ्चद्वादशविकल्पाः कल्पोपपन्नपर्य्यन्ताः ॥ ३ ॥ इन्द्रसामानिकत्रायस्त्रिं-शपारिषदात्मरक्षलोकपालानीकप्रकीर्णकाभियोग्यकिल्बिषिकाश्चैकशः ॥४॥ त्रायस्त्रिंशलोकपालवर्ज्या व्यन्तरज्योतिष्काः ॥ ५ ॥ पूर्वयोर्द्वीन्द्राः ॥ ६ ॥ कायप्रवीचारा आ ऐशानात् ॥ ७ ॥ शेषाः स्पर्शरूपशब्दमनःप्रवीचाराः ॥ ८ ॥ परेऽप्रवीचाराः ॥ ९ ॥ भवनवासिनोऽसुरनागविद्युत्सुपर्णाग्निवा-

तस्तनितोदधिद्वीपदिक्कुमाराः ॥ १० ॥ व्यन्तराः किन्नरकिम्पुरुषमहोरगगन्धर्वयक्षराक्षसभूतपिशाचाः ॥ ११ ॥ ज्योतिष्काः सूर्याचन्द्रमसौ ग्रहनक्षत्रप्रकीर्णकतारकाश्च ॥ १२ ॥ मेरुप्रदक्षिणा नित्यगतयो नृलोके ॥ १३ ॥ तत्कृतः कालविभागः ॥ १४ ॥ बहिरवस्थिताः ॥ १५ ॥ वैमानिकाः ॥ १६ ॥ कल्पोपपन्नाः कल्पातीताश्च ॥ १७ ॥ उपर्युपरि ॥ १८ ॥ सौधर्मैशानसानत्कुमारमाहेन्द्रब्रह्मब्रह्मोत्तरलान्तवकापिष्ठशुक्रमहाशुक्रशतारसहस्रारेष्वानतप्राणतयोरारणाच्युतयोर्नवसु ग्रैवेयकेषु विजयवैजयन्तजयन्तापराजितेषु सर्वार्थसिद्धौ च ॥ १९ ॥ स्थितिप्रभावसुखद्युतिलेश्याविशुद्धीन्द्रियावधिविषयतोऽधिकाः ॥ २० ॥ गतिशरीरपरिग्रहाभिमानतो हीनाः ॥ २१ ॥ पीतपद्मशुक्ललेश्या द्वित्रिशेषेषु ॥ २२ ॥ प्राग्ग्रैवेयकेभ्यः कल्पाः ॥ २३ ॥ ब्रह्मलोकालया लौकान्तिकाः ॥ २४ ॥ सारस्वतादित्यवह्न्यरुणगर्दतोयतुषिताव्याबाधारिष्टाश्च ॥ २५ ॥ विजयादिषु द्विचरमाः ॥ २६ ॥ औपपादिकमनुष्येभ्यः शेषास्तिर्यग्योनयः ॥ २७ ॥ स्थितिरसुरनागसुपर्णद्वीपशेषाणां सागरोपमत्रिपल्योपमार्द्धहीनमिताः ॥ २८ ॥ सौधर्मैशानयोः सागरोपमे अधिके ॥ २९ ॥ सानत्कुमारमाहेन्द्रयोः सप्त ॥ ३० ॥ त्रिसप्तनवैकादशत्रयोदशपञ्चदशभिरधिकानि तु ॥ ३१ ॥ आरणाच्युतादूर्ध्वमेकैकेन नवसु ग्रैवेयकेषु विजयादिषु सर्वार्थसिद्धौ च ॥ ३२ ॥ अपरा पल्योपममधिकम् ॥ ३३ ॥ परतः परतः पूर्वापूर्वानन्तराः ॥ ३४ ॥ नारकाणां च द्वितीयादिषु ॥ ३५ ॥ दशवर्षसहस्राणि प्रथमायाम् ॥ ३६ ॥ भवनेषु च ॥ ३७ ॥ व्यन्तराणां च ॥ ३८ ॥ परा पल्योपममधिकं ॥ ३९ ॥ ज्योतिष्काणां च ॥ ४० ॥ तदष्टभागोऽपरा ॥ ४१ ॥ लौकान्तिकानामष्टौ सागरोपमाणि सर्वेषाम् ॥ ४२ ॥

॥ इति तत्त्वार्थाधिगमे मोक्षशास्त्रे चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

अजीवकाया धर्माधर्माकाशपुद्गलाः ॥ १ ॥ द्रव्याणि ॥ २ ॥ जीवाश्च ॥ ३ ॥ नित्यावस्थितान्यरूपाणि ॥ ४ ॥ रूपिणः पुद्गलाः ॥ ५ ॥ आ आकाशादेकद्रव्याणि ॥ ६ ॥ निष्क्रियाणि च ॥ ७ ॥ असङ्ख्येयाः प्रदेशाः

प्रदेशाः धर्माधर्मैकजीवानाम् ॥ ८ ॥ आकाशस्यानन्ताः ॥ ९ ॥ सङ्ख्येयासङ्ख्येयाश्च पुद्गलानाम् ॥ १० ॥ नाणोः ॥ ११ ॥ लोकाकाशेऽवगाहः ॥ १२ ॥ धर्म्माधर्म्मयोः कृत्स्ने ॥ १३ ॥ एकप्रदेशादिषु भाज्यः पुद्गलानाम् ॥ १४ ॥ असङ्ख्येयभागादिषु जीवानाम् ॥ १५ ॥ प्रदेशसंहारविसर्पाभ्यां प्रदीपवत् ॥ १६ ॥ गतिस्थित्युपग्रहौ धर्माधर्मयोरुपकारः ॥ १७ ॥ आकाशस्यावगाहः ॥ १८ ॥ शरीरवाङ्मनःप्राणापानाः पुद्गलानाम् ॥ १९ ॥ सुखदुःखजीवितमरणोपग्रहाश्च ॥ २० ॥ परस्परोपग्रहो जीवानाम् ॥ २१ ॥ वर्तनापरिणामक्रिया परत्वापरत्वे च कालस्य ॥ २२ ॥ स्पर्शरसगन्धवर्णवन्तः पुद्गलाः ॥ २३ ॥ शब्दबन्धसौक्ष्म्यस्थौल्यसंस्थानभेदतमश्छायाऽऽतपोद्योतवन्तश्च ॥ २४ ॥ अणवस्कन्धाश्च ॥ २५ ॥ भेदसङ्घातेभ्य उत्पद्यन्ते ॥ २६ ॥ भेदादणुः ॥ २७ ॥ भेदसङ्घाताभ्यां चाक्षुषः ॥ २८ ॥ सद्द्रव्यलक्षणम् ॥ २९ ॥ उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत् ॥ ३० ॥ तद्भावाव्ययं नित्यम् ॥ ३१ ॥ अर्पितानर्पितसिद्धेः ॥ ३२ ॥ स्निग्धरूक्षत्वाद्बन्धः ॥ ३३ ॥ न जघन्यगुणानाम् ॥ ३४ ॥ गुणसाम्ये सदृशानाम् ॥ ३५ ॥ द्व्यधिकादिगुणानां तु ॥ ३६ ॥ बन्धेऽधिकौ पारिणामिकौ च ॥ ३७ ॥ गुणपर्यायवद्द्रव्यम् ॥ ३८ ॥ कालश्च ॥ ३९ ॥ सोऽनन्तसमयः ॥ ४० ॥ द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणाः ॥ ४१ ॥ तद्भावः परिणामः ॥ ४२ ॥

॥ इति तत्त्वार्थाधिगमे मोक्षशास्त्रे पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

कायवाङ्मनःकर्म्म योगः ॥ १ ॥ स आस्रवः ॥ २ ॥ शुभः पुण्यस्याशुभः पापस्य ॥ ३ ॥ सकषायाकषाययोः साम्परायिकेर्यापथयोः ॥ ४ ॥ इन्द्रियकषायाव्रतक्रियाः पञ्चचतुःपञ्चपञ्चविंशतिसंख्याः पूर्वस्य भेदाः ॥ ५ ॥ तीव्रमन्दज्ञाताज्ञातभावाधिकरणवीर्यविशेषेभ्यस्तद्विशेषः ॥ ६ ॥ अधिकरणं जीवाजीवाः ॥ ७ ॥ आद्यं संरम्भसमारम्भारम्भयोगकृतकारितानुमतकषायविशेषैस्त्रिस्त्रिस्त्रिश्चतुश्चैकशः ॥ ८ ॥ निर्वर्तनानिक्षेपसंयोगनिसर्गा द्विचतुर्द्वित्रिभेदाः परम् ॥ ९ ॥ तत्प्रदोषनिह्नवमात्सर्यान्तरायासादनोपघाता ज्ञानदर्शनावरणयोः ॥ १० ॥ दुःखशोकतापाक्रन्दनवधपरि-

देवनान्यात्मपरोभयस्थानान्यसद्वेद्यस्य ॥ ११ ॥ भूतव्रत्यनुकम्पादानसरागसंयमादियोगः क्षान्तिः शौचमिति सद्वेद्यस्य ॥ १२ ॥ केवलिश्रुतसङ्घधर्मदेवावर्णवादो दर्शनमोहस्य ॥ १३ ॥ कषायोदयात्तीव्रपरिणामश्चारित्रमोहस्य ॥ १४ ॥ बह्वारम्भपरिग्रहत्वं नारकस्यायुषः ॥ १५ ॥ माया तैर्यग्योनस्य ॥ १६ ॥ अल्पारम्भपरिग्रहत्वं मानुषस्य ॥ १७ ॥ स्वभावमार्दवं च ॥ १८ ॥ निःशीलव्रतित्वं च सर्वेषाम् ॥ १९ ॥ सरागसंयमसंयमासंयमाकामनिर्जराबालतपांसि दैवस्य ॥ २० ॥ सम्यक्त्वं च ॥ २१ ॥ योगवक्रता विसंवादनं चाशुभस्य नाम्नः ॥ २२ ॥ तद्विपरीतं शुभस्य ॥ २३ ॥ दर्शनविशुद्धिर्विनयसम्पन्नता शीलव्रतेष्वनतीचारोऽभीक्ष्णज्ञानोपयोगसंवेगौ शक्तितस्त्यागतपसी साधुसमाधिर्वैयावृत्यकरणमर्हदाचार्यबहुश्रुतप्रवचनभक्तिरावश्यकापरिहाणिर्मार्गप्रभावना प्रवचनवत्सलत्वमिति तीर्थकरत्वस्य ॥ २४ ॥ परात्मनिन्दाप्रशंसे सदसद्गुणोच्छादनोद्भावने च नीचैर्गोत्रस्य ॥ २५ ॥ तद्विपर्ययो नीचैर्वृत्त्यनुत्सेकौ चोत्तरस्य ॥ २६ ॥ विघ्नकरणमन्तरायस्य ॥ २७ ॥

॥ इति तत्वार्थाधिगमे मोक्षशास्त्रे षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

हिंसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहेभ्यो विरतिर्व्रतम् ॥ १ ॥ देशसर्वतोऽणुमहती ॥ २ ॥ तत्स्थैर्यार्थं भावनाः पञ्च पञ्च ॥ ३ ॥ वाङ्मनोगुप्तीर्यादाननिक्षेपणसमित्यालोकितपानभोजनानि पञ्च ॥ ४ ॥ क्रोधलोभभीरुत्वहास्यप्रत्याख्यानान्यनुवीचीभाषणं च पञ्च ॥ ५ ॥ शून्यागारविमोचितावासपरोपरोधाकरणभैक्ष्यशुद्धिसधर्माविसंवादाः पञ्च ॥ ६ ॥ स्त्रीरागकथाश्रवणतन्मनोहराङ्गनिरीक्षणपूर्वरतानुस्मरणवृष्येष्टरसस्वशरीरसंस्कार त्यागाः पञ्च ॥ ७ ॥ मनोज्ञामनोज्ञेन्द्रियविषयरागद्वेषवर्जनानि पञ्च ॥ ८ ॥ हिंसादिष्विहामुत्रापायावद्यदर्शनं ॥ ९ ॥ दुःखमेव वा ॥ १० ॥ मैत्रीप्रमोदकारुण्यमाध्यस्थानि च सत्त्वगुणाधिकक्लिश्यमानाविनयेषु ॥ ११ ॥ जगत्कायस्वभावौ वा संवेगवैराग्यार्थम् ॥ १२ ॥ प्रमत्तयोगात्प्राणव्यपरोपणं हिंसा ॥ १३ ॥ असदभिधानमनृतम ॥ १४ ॥ अदत्तादानं स्तेयम् ॥ १५ ॥

मैथुनमब्रह्म ॥ १६ ॥ मूर्च्छा परिग्रहः ॥ १७ ॥ निःशल्यो व्रती ॥ १८ ॥ अगार्यनगारश्च ॥ १९ ॥ अणुव्रतोऽगारी ॥ २० ॥ दिग्देशानर्थदण्डविरतिसामायिकप्रोषधोपवासोपभोगपरिभोगपरिमाणातिथिसंविभागव्रतसम्पन्न ॥ २१ ॥ मारणान्तिकीं सल्लेखनां जोषिता ॥ २२ ॥ शङ्काकाङ्क्षाविचिकित्सान्यदृष्टिप्रशंसासंस्तवाः सम्यग्दृष्टेरतीचाराः ॥ २३ ॥ व्रतशीलेषु पञ्च पञ्च यथाक्रमम् ॥ २४ ॥ बन्धवधच्छेदातिभारारोपणान्नपाननिरोधाः ॥ २५ ॥ मिथ्योपदेशरहोभ्याख्यानकूटलेखक्रियान्यासापहारसाकारमन्त्रभेदाः ॥२६॥ स्तेनप्रयोगतदाहृतादानविरुद्धराज्यातिक्रमहीनाधिकमानोन्मानप्रतिरूपकव्यवहाराः ॥ २७ ॥ परविवाहकरणेत्वरिकापरिगृहीतापरिगृहीतागमनानङ्गक्रीडाकामतीव्राभिनिवेशाः ॥ २८ ॥ क्षेत्रवास्तुहिरण्यसुवर्णधनधान्यदासीदासकुप्यप्रमाणातिक्रमाः ॥ २९ ॥ ऊर्ध्वाधस्तिर्यग्व्यतिक्रमक्षेत्रवृद्धिस्मृत्यन्तराधानानि ॥ ३० ॥ आनयनप्रेष्यप्रयोगशब्दरूपानुपातपुद्गलक्षेपाः ॥ ३१ ॥ कन्दर्पकौत्कुच्यमौखर्यासमीक्ष्याधिकरणोपभोगपरिभोगानर्थक्यानि ॥ ३२ ॥ योगदुःप्रणिधानानादरस्मृत्यनुपस्थानानि ॥ ३३ ॥ अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितोत्सर्गादानसंस्तरोपक्रमणानादरस्मृत्यनुपस्थानानि ॥३४॥ सचित्तसम्बन्धसम्मिश्राभिषवदुःपक्वाहाराः ॥ ३५ ॥ सचित्तनिक्षेपापिधानपरव्यपदेशमात्सर्यकालातिक्रमाः ॥ ३६ ॥ जीवितमरणाशंसामित्रानुरागसुखानुबन्धनिदानानि ॥ ३७ ॥ अनुग्रहार्थं स्वस्यातिसर्गो दानम् ॥ ३८ ॥ विधिद्रव्यदातृपात्रविशेषात्तद्विशेषः ॥ ३९ ॥

॥ इति तत्त्वार्थाधिगमे मोक्षशास्त्रे सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥

मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगा बन्धहेतवः ॥ १ ॥ सकषायत्वाज्जीवः कर्म्मणो योग्यान्पुद्गलानादत्ते स बन्धः ॥ २ ॥ प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशास्तद्विधयः ॥ ३ ॥ आद्यो ज्ञानदर्शनावरणवेदनीयमोहनीयायुर्नामगोत्रान्तरायाः ॥ ४ ॥ पञ्चनवद्व्यष्टाविंशतिचतुर्द्विचत्वारिंशद्द्विपञ्चभेदा यथाक्रमम् ॥ ५ ॥ मतिश्रुतावधिमनःपर्य्ययकेवलानाम् ॥ ६ ॥ चक्षुरचक्षुरवधिकेवलानां निद्रानिद्रानिद्राप्रचलाप्रचलाप्रचलास्त्यानगृद्धयश्च

॥ ७ ॥ मदसद्वेद्ये ॥ ८ ॥ दर्शनचारित्रमोहनीयाकषायकषायवेदनीयाख्यास्त्रिद्विनवषोडशभेदाः सम्यक्त्वमिथ्यात्वतदुभयान्यकषायकषायौहास्यरत्यरतिशोकभयजुगुप्सास्त्रीपुन्नपुंसकवेदा अनन्तानुबन्ध्यप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानसञ्ज्वलनविकल्पाश्चैकशः क्रोधमानमायालोभाः ॥ ९ ॥ नारकतैर्यग्योनमानुषदैवानि ॥ १० ॥ गतिजातिशरीराङ्गोपाङ्गनिर्माणबन्धनसङ्घातसंस्थानसंहननस्पर्शरसगन्धवर्णानुपूर्व्यगुरुलघूपघातपरघातातपोद्योतोच्छ्वासविहायोगतयः प्रत्येकशरीरत्रससुभगसुस्वरशुभसूक्ष्मपर्याप्तिस्थिरादेययशःकीर्तिसेतराणि तीर्थकरत्वं च ॥ ११ ॥ उच्चैर्नीचैश्च ॥ १२ ॥ दानलाभभोगोपभोगवीर्याणाम् ॥ १३ ॥ आदितस्तिसृणामन्तरायस्य च त्रिंशत्सागरोपमकोटीकोट्यः परा स्थितिः ॥ १४ ॥ सप्ततिर्मोहनीयस्य ॥ १५ ॥ विंशतिर्नामगोत्रयोः ॥ १६ ॥ त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाण्यायुषः ॥ १७ ॥ अपरा द्वादश मुहूर्ता वेदनीयस्य ॥ १८ ॥ नामगोत्रयोरष्टौ ॥ १९ ॥ शेषाणामन्तर्मुहूर्ता ॥ २० ॥ विपाकोऽनुभवः ॥ २१ ॥ स यथानाम ॥ २२ ॥ ततश्च निर्जरा ॥ २३ ॥ नामप्रत्ययाःसर्वतो योगविशेषात्सूक्ष्मैकक्षेत्रावगाहस्थिताःसर्वात्मप्रदेशेष्वनन्तानन्तप्रदेशाः ॥ २४ ॥ सद्वेद्यशुभायुर्नामगोत्राणि पुण्यम् ॥ २५ ॥ अतोऽन्यत्पापम् ॥ २६ ॥

॥ इति तत्त्वार्थाधिगमे मोक्षशास्त्रे अष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥

आस्रवनिरोधः संवरः ॥ १ ॥ स गुप्तिसमितिधर्मानुप्रेक्षापरीषहजयचारित्रैः ॥ २ ॥ तपसा निर्जरा च ॥ ३ ॥ सम्यग्योगनिग्रहो गुप्तिः ॥ ४ ॥ ईर्य्याभाषैषणादाननिक्षेपोत्सर्गाः समितयः ॥ ५ ॥ उत्तमक्षमामार्दवार्जवसत्यशौचसंयमतपस्त्यागाकिञ्चन्य ब्रह्मचर्य्याणि धर्मः ॥ ६ ॥ अनित्याशरणसंसारैकत्वान्यत्वाशुच्यास्रवसंवरनिर्ज्जरालोकबोधिदुर्लभ धर्मस्वाख्याततत्त्वानुचिन्तनमनुप्रेक्षाः ॥ ७ ॥ मार्गाच्यवननिर्जरार्थं परिषोढव्याः परीषहाः ॥ ८ ॥ क्षुत्पिपासाशीतोष्णदंशमशकनाग्न्यारतिस्त्रीचर्य्यानिषद्याशय्याक्रोशवधयाञ्चालाभरोगतृणस्पर्शमलसत्कारपुरस्कारप्रज्ञाज्ञानादर्शनानि ॥ ९ ॥ सूक्ष्मसाम्परायछद्मस्थवीतरागयोश्चतुर्दश ॥ १० ॥ एका-

दश जिने ॥ ११ ॥ बादरसाम्पराये सर्वे ॥ १२ ॥ ज्ञानावरणे प्रज्ञाज्ञाने ॥ १३ ॥ दर्शनमोहान्तराययोरदर्शनालाभौ ॥ १४ ॥ चारित्रमोहे नाग्न्यारतिस्त्रीनिषद्याक्रोशयाञ्चासत्कारपुरस्काराः ॥ १५ ॥ वेदनीये शेषाः ॥ १६ ॥ एकादयो भाज्या युगपदेकस्मिन्नेकोनविंशतिः ॥ १७ ॥ सामायिकच्छेदोपस्थापनापरिहारविशुद्धिसूक्ष्मसाम्पराययथाख्यातमिति चारित्रम् ॥ १८ ॥ अनशनावमौदर्यवृत्तिपरिसंख्यानरसपरित्यागविविक्तशय्यासनकायक्लेशा बाह्यं तपः ॥ १९ ॥ प्रायश्चित्तविनयवैयावृत्यस्वाध्यायव्युत्सर्गध्यानान्युत्तरम् ॥ २० ॥ नवचतुर्दशपञ्चद्विभेदा यथाक्रमं प्राग्ध्यानात् ॥ २१ ॥ आलोचनाप्रतिक्रमणतदुभयविवेकव्युत्सर्गतपश्छेदपरिहारोपस्थापनाः ॥ २२ ॥ ज्ञानदर्शनचारित्रोपचाराः ॥ २३ ॥ आचार्योपाध्यायतपस्विशैक्ष्यग्लानगणकुलसङ्घसाधुमनोज्ञानाम् ॥ २४ ॥ वाचनापृच्छनानुप्रेक्षाम्नायधर्मोपदेशाः ॥ २५ ॥ बाह्याभ्यन्तरोपध्योः ॥ २६ ॥ उत्तमसंहननस्यैकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यानमान्तर्मुहूर्तात् ॥ २७ ॥ आर्तरौद्रधर्म्यशुक्लानि ॥ २८ ॥ परे मोक्षहेतू ॥ २९ ॥ आर्तममनोज्ञस्य सम्प्रयोगे तद्विप्रयोगाय स्मृतिसमन्वाहारः ॥ ३० ॥ विपरीतं मनोज्ञस्य ॥ ३१ ॥ वेदनायाश्च ॥ ३२ ॥ निदानं च ॥ ३३ ॥ तदविरतदेशविरतप्रमत्तसंयतानाम् ॥ ३४ ॥ हिंसानृतस्तेयविषयसंरक्षणेभ्यो रौद्रमविरतदेशविरतयोः ॥ ३५ ॥ आज्ञापायविपाकसंस्थानविचयाय धर्म्यम् ॥ ३६ ॥ शुक्ले चाद्ये पूर्वविदः ॥ ३७ ॥ परे केवलिनः ॥ ३८ ॥ पृथक्त्वैकत्ववितर्कसूक्ष्मक्रियाप्रतिपातिव्युपरतक्रियानिवर्तीनि ॥ ३९ ॥ त्र्येकयोगकाययोगायोगानाम् ॥ ४० ॥ एकाश्रये सवितर्कवीचारे पूर्वे ॥ ४१ ॥ अवीचारं द्वितीयम् ॥ ४२ ॥ वितर्कः श्रुतम् ॥ ४३ ॥ वीचारोऽर्थव्यञ्जनयोगसंक्रान्तिः ॥ ४४ ॥ सम्यग्दृष्टिश्रावकविरतानन्तवियोजकदर्शनमोहक्षपकोपशमकोपशान्तमोहक्षपकक्षीणमोहजिनाः क्रमशोऽसंख्येयगुणनिर्जराः ॥ ४५ ॥ पुलाकवकुशकुशीलनिर्ग्रन्थस्नातका निर्ग्रंथाः ॥ ४६ ॥ संयमश्रुतप्रतिसेवनातीर्थलिङ्गलेश्योपपादस्थानविकल्पतः साध्याः ॥ ४७ ॥

॥ इति तत्वार्थाधिगमे मोक्षशास्त्रे नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥

मोहक्षयाज्ज्ञानदर्शनावरणान्तरायक्षयाच्च केवलम् ॥ १ ॥ बन्धहेत्वाभावनिर्जराभ्यां कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षो मोक्षः ॥ २ ॥ औपशमिकादिभव्यत्वानां च ॥ ३ ॥ अन्यत्र केवलसम्यक्त्वज्ञानदर्शनसिद्धत्वेभ्यः ॥ ४ ॥ तदनन्तरमूर्ध्वं गच्छन्त्यालोकान्तात् ॥ ५ ॥ पूर्वप्रयोगादसङ्गत्वाद्बन्धच्छेदात्तथागतिपरिणामाच्च ॥ ६ ॥ आविद्धकुलालचक्रवद्व्यपगतलेपालांबुवदेरण्डबीजवदग्निशिखावच्च ॥ ७ ॥ धर्मास्तिकायाभावात् ॥ ८ ॥ क्षेत्रकालगतिलिङ्गतीर्थचारित्रप्रत्येकबुद्धबोधितज्ञानावगाहनान्तरसंख्याल्पबहुत्वतः साध्याः ॥ ९ ॥

अक्षरमात्रपदस्वरहीनं व्यञ्जनसन्धिविवर्जितरेफम् । साधुभिरत्र मम क्षमितव्यं को न विमुह्यति शास्त्रसमुद्रे ॥ १ ॥ दशाध्यायपरिच्छिन्ने तत्त्वार्थे पठिते सति । फलं स्यादुपवासस्य भाषितं मुनिपुङ्गवैः ॥ २ ॥ तत्वार्थसूत्रकर्तारं गृध्रपिच्छोपलक्षितम् । वन्दे गणीन्द्रसंयातमुमास्वामिमुनीश्वरम् ॥ ३ ॥

इति तत्त्वार्थसूत्रम् समाप्तम् ॥

श्रीस्वामिसमन्तभद्राचार्यविरचितम्

बृहत्स्वयम्भूस्तोत्रम्

स्वयम्भुवा भूतहितेन भूतले, समञ्जसज्ञानविभूतिचक्षुषा । विराजितं येन विधुन्वता तमः, क्षमाकरेणेव गुणोत्करैः करैः ॥ १ ॥ प्रजापतिर्यः प्रथमं जिजीविषुः, शशास कृष्यादिषु कर्मसु प्रजाः । प्रबुद्धतत्वः पुनरद्भुतोदयो, ममत्वतो निर्विविदे विदांवरः ॥ २ ॥ विहाय यः सागरवारिवाससं, वधूमिवेमां वसुधावधूं सतीम् । मुमुक्षुरिक्ष्वाकुकुलादिरात्मवान्, प्रभुः

प्रवव्राज सहिष्णुरच्युतः ॥ ३ ॥ स्वदोषमूलं स्वसमाधितेजसा, निनाय यो निर्दयभस्मसात्क्रियाम् । जगाद तत्त्वं जगतेऽर्थिनेऽञ्जसा, बभूव च ब्रह्मपदामृतेश्वरः ॥ ४ ॥ स विश्वचक्षुर्वृषभोऽर्चितः सतां, समग्रविद्यात्मवपुर्निरञ्जनः । पुनातु चेतो मम नाभिनन्दनो, जिनो जितक्षुल्लकवादिशासनः ॥ ५ ॥

॥ इत्यादिजिनस्तोत्रम् ॥

यस्य प्रभावात्त्रिदिवच्युतस्य, क्रीडास्वपि क्षीबमुखारविन्दः । अजेयशक्तिर्भुवि बन्धुवर्गः, श्चकार नामाजित इत्यवन्ध्यम् ॥ ६ ॥ अद्यापि यस्याजितशासनस्य, सतां प्रणेतुः प्रतिमङ्गलार्थम् । प्रगृह्यते नाम परं पवित्रं स्वसिद्धिकामेन जनेन लोके ॥ ७ ॥ यः प्रादुरासीत्प्रभुशक्तिभूम्ना, भव्याशयालीनकलङ्कशान्त्यै । महामुनिर्मुक्तघनोपदेहो, यथारविन्दाभ्युदयाय भास्वान् ॥ ८ ॥ येन प्रणीतं पृथुधर्मतीर्थं, ज्येष्ठं जनाः प्राप्य जयन्ति दुःखम् । गाङ्गं ह्रदं चन्दनपङ्कशीतं, गजप्रवेका इव घर्मतप्ताः ॥ ९ ॥ स ब्रह्मनिष्ठः सममित्रशत्रुर्विद्याविनिर्वान्तकषायदोषः । लब्धात्मलक्ष्मीरजितोऽजितात्मा, जिनः श्रियं मे भगवान् विधत्ताम् ॥ १० ॥

॥ इत्यजितजिनस्तोत्रम् ॥

त्वं शम्भवः संभवतर्षरोगैः, संतप्यमानस्य जनस्य लोके । आसीरिहाकस्मिक एव वैद्यो, वैद्यो यथा नाथ रुजां प्रशान्त्यै ॥ ११ ॥ अनित्यमत्राणमहंक्रियाभिः, प्रसक्तमिथ्याध्यवसायदोषम् । इदं जगज्जन्मजरान्तकार्तं, निरञ्जनां शान्तिमजीगमस्त्वम् ॥ १२ ॥ शतह्रदोन्मेषचलं हि सौख्यं, तृष्णामयाप्यायनमात्रहेतुः । तृष्णाभिवृद्धिश्च तपत्यजस्रं, तापस्तदायासयतीत्यवादीः ॥ १३ ॥ बंधश्च मोक्षश्च तयोश्च हेतुर्बद्धश्च मुक्तश्च फलं च मुक्तेः । स्याद्वादिनो नाथ तवैव युक्तं, नैकान्तदृष्टेस्त्वमतोऽसि शास्ता ॥ १४ ॥ शक्रोऽप्यशक्तस्तव पुण्यकीर्तेः, स्तुत्यां प्रवृत्तः किमु मादृशोऽज्ञः तथापि भक्त्या स्तुतपादपद्मो मामार्य देयाः शिवतातिमुच्चैः ॥ १५

॥ इति शम्भवजिनस्तोत्रम् ॥

गुणाभिनन्दादभिनन्दनो भवान्, दयावधूं क्षान्तिसखीमशिश्रयत्। समाधितन्त्रस्तदुपोपपत्तये, द्वयेन नैर्ग्रन्थ्यगुणेन चायुजत ॥ १६ ॥ अचेतने तत्कृतबन्धजेऽपि, ममेदमित्याभिनिवेशकग्रहात्। प्रभङ्गुरे स्थावरनिश्चयेन च, क्षतं जगत्तत्त्वमजिग्रहद्भवान् ॥ १७ ॥ क्षुदादिदुःखप्रतिकारतः स्थितिर्न चेन्द्रियार्थप्रभवाल्पसौख्यतः। ततो गुणो नास्ति च देहदेहिनो, रितीदमित्थं भगवान् व्यजिज्ञपत् ॥ १८ ॥ जनोऽतिलोलोऽप्यनुबन्धदोषतो, भयादकार्येष्विह न प्रवर्त्तते। इहाप्यमुत्राप्यनुबन्धदोषवित्कथ सुखे संसजतीति चाब्रवीत् ॥ १९ ॥ सचानुबन्धोऽस्य जनस्य तापकृत्तृषोऽभिवृद्धिःसुखतो न च स्थितिः। इति प्रभो लोकहितं यतो मतं, ततो भवानेव गतिः सतां मतः ॥ २० ॥

॥ इत्यभिनन्दनजिनस्तोत्रम् ॥

अन्वर्थसंज्ञः सुमतिर्मुनिस्त्वं, स्वयं मतं येन सुयुक्तिनीतम्। यतश्च शेषेषु मतेषु नास्ति, सर्वक्रियाकारकतत्त्वसिद्धिः ॥ २१ ॥ अनेकमेकं च तदेव तत्त्वं, भेदान्वयज्ञानमिदं हि सत्यम्। मृषोपचारोऽन्यतरस्य लोपे, तच्छेषलोपोऽपि ततोनुपाख्यम् ॥ २२ ॥ सतः कथञ्चित्तदसत्त्वशक्तिः, खे नास्ति पुष्पं तरुषु प्रसिद्धम्। सर्वस्वभावच्युतमप्रमाणं, स्ववाग्विरुद्धं तव दृष्टितोऽन्यत् ॥ २३ ॥ न सर्वथा नित्यमुदेत्यपैति, न च क्रियाकारकमत्र युक्तम्। नैवासतो जन्म सतो न नाशो, दीपस्तमःपुद्गलभावतोऽस्ति ॥ २४ ॥ विधिर्निषेधश्च कथंचिदिष्टौ, विवक्षया मुख्यगुणव्यवस्था। इति प्रणीतिः सुमतेस्तवेयं, मतिप्रवेकः स्तुवतोऽस्तु नाथ ॥ २५ ॥

॥ इति सुमतिजिनस्तोत्रम ॥

पद्मप्रभः पद्मपलाशलेश्यः, पद्मालयालिङ्गितचारुमूर्तिः। बभौ भवान् भव्यपयोरुहाणां, पद्माकराणामिव पद्मबन्धुः ॥ २६ ॥ बभार पद्मां च सरस्वतीं च भवान्पुरस्तात्प्रतिमुक्तिलक्ष्म्याः। सरस्वतीमेव समग्रशोभां, सर्वज्ञलक्ष्मी ज्वलितां विमुक्तः ॥ २७ ॥ शरीररश्मिप्रसरः प्रभोस्ते, बालार्करश्मिच्छविरालिलेप। नरामराकीर्णसभां प्रभावच्छैलस्य पद्माभमणेः

खसानुम् ॥ २८ ॥ नभस्तलं पल्लवयन्निव त्वं, सहस्रपत्राम्बुजगर्भचारैः । पादाम्बुजैः पातितमोहदर्पो, भूमौ प्रजानां विजहर्थ भूत्यै ॥ २९ ॥ गुणाम्बुधेर्विप्रुषमप्यजस्रं, नाखण्डलः स्तोतुमल तवर्षे । प्रागेव मादृक्किमुतातिभक्तिर्मां बालमालापयतीदमित्थम् ॥ ३० ॥

॥ इति पद्मप्रभस्तोत्रम् ॥

स्वास्थ्यं यदात्यन्तिकमेष पुंसां, स्वार्थो न भोगः परिभङ्गुरात्मा । तृषोऽनुषङ्गान्न च तापशान्तिरितीदमाख्यद् भगवान्सुपार्श्वः ॥ ३१ ॥ अजङ्गमं जङ्गमनेययन्त्रं, यथा तथा जीवधृतं शरीरम् । बीभत्सु पूति क्षयि तापकं च, स्नेहो वृथात्रेति हितं त्वमाख्यः ॥ ३२ ॥ अलंघ्यशक्तिर्भवितव्यतेयं, हेतुद्वयाविष्कृतकार्यलिङ्गा । अनीश्वरो जन्तुरहंक्रियार्त्तः, संहत्य कार्येष्विति साध्ववादीः ॥ ३३ ॥ बिभेति मृत्योर्न ततोऽस्ति मोक्षो, नित्यं शिवं वाञ्छति नास्य लाभः । तथापि बालो भयकामवश्यो, वृथा स्वयं तप्यत इत्यवादीः ॥ ३४ ॥ सर्वस्य तत्त्वस्य भवान्प्रमाता, मातेव बालस्य हितानुशास्ता । गुणावलोकस्य जनस्य नेता, मयापि भक्त्या परिणूयसेऽद्य ॥ ३५ ॥

॥ इति सुपार्श्वजिनस्तोत्रम् ॥

चन्द्रप्रभं चन्द्रमरीचिगौरं, चन्द्रं द्वितीयं जगतीव कान्तम् । वन्देऽभिवन्द्यं महतामृषीन्द्रं, जिनं जितस्वान्तकषायबन्धम् ॥ ३६ ॥ यस्याङ्गलक्ष्मीपरिवेषभिन्नं, तमस्तमोरेरिव रश्मिभिन्नम् । ननाश बाह्यं बहुमानसं च, ध्यानप्रदीपातिशयेन भिन्नम् ॥ ३७ ॥ स्वपक्षसौस्थित्यमदावलिप्ता, वाक्सिंहनादैर्विमदा बभूवुः । प्रवादिनो यस्य मदार्द्रगण्डा, गजा यथा केशरिणो निनादैः ॥ ३८ ॥ यः सर्वलोके परमेष्ठितायाः पदं बभूवाद्भुतकर्मतेजाः । अनन्तधामाक्षरविश्वचक्षुः, समन्तदुःखक्षयशासनश्च ॥ ३९ ॥ स चन्द्रमा भव्यकुमुद्वतीनां, विपन्नदोषाभ्रकलङ्कलेपः । व्याकोशवाङ्न्यायमयूखमालः पूयात्पवित्रो भगवान्मनो मे ॥ ४० ॥

॥ इति चन्द्रप्रभजिनस्तोत्रम् ॥

एकान्तदृष्टिप्रतिषेधि तत्त्वं प्रमाणसिद्धं तदतत्स्वभावम् । त्वया प्रणीतं सुविधे स्वधाम्ना नैतत्समालीढपदं त्वदन्यैः ॥ ४१ ॥ तदेव च स्यान्न तदेव च स्यात्तथा प्रतीतेस्तव तत्कथञ्चित् । नात्यन्तमन्यत्वमनन्यता च विधेर्निषेधस्य च शून्यदोषात् ॥ ४२ ॥ नित्यं तदेवेदमिति प्रतीतेर्न नित्यमन्यत्प्रतिपत्तिसिद्धेः । न तद्विरुद्धं बहिरन्तरङ्गनिमित्तनैमित्तिकयोगतस्ते ॥ ४३ ॥ अनेकमेकं च पदस्य वाच्यं वृक्षा इति प्रत्ययवत्प्रकृत्या । आकाङ्क्षिणः स्यादिति वै निपातो गुणानपेक्षे नियमेऽपवादः ॥ ४४ ॥ गुणप्रधानार्थमिदं हि वाक्य जिनस्य ते तद्द्विषतामपथ्यम् । ततोऽभिवन्द्यं जगदीश्वराणां ममापि साधोस्तव पादपद्मम् ॥ ४५ ॥

॥ इति सुविधिजिनस्तोत्रम् ॥

न शीतलाश्चन्दनचन्द्ररश्मयो न गाङ्गमम्भो न च हारयष्टयः । यथा मुनेस्तेऽनघवाक्यरश्मयः शमाम्बुगर्भाः शिशिरा विपश्चितां ॥ ४६ ॥ सुखाभिलाषानलदाहमूर्च्छितं मनो निजं ज्ञानमयामृताम्बुभिः । विदिध्यपस्त्वं विषदाहमोहितं यथा भिषग्मन्त्रगुणैः स्वविग्रहं ॥ ४७ ॥ स्वजीविते कामसुखे च तृष्णया दिवा श्रमार्ता निशि शेरते प्रजाः । त्वमार्य नक्तंदिवमप्रमत्तवानजागरेवात्मविशुद्धवर्त्मनि ॥ ४८ ॥ अपत्यवित्तोत्तरलोकतृष्णया तपस्विनः केचन कर्म कुर्वते । भवान्पुनर्जन्मजराजिहासया त्रयीं प्रवृत्तिं शमधीरवारुणत् ॥ ४९ ॥ त्वमुत्तमज्योतिरजः क्व निर्वृतः क्व ते परे बुद्धिलवोद्धवक्षताः । ततः स्वनिःश्रेयसभावनापरैर्बुधप्रवेकैर्जिनशीतलेड्यसे ॥ ५० ॥

॥ इति शीतलजिनस्तोत्रम् ॥

श्रेयान् जिनः श्रेयसि वर्त्मनीमाः श्रेयः प्रजाः शासदजेयवाक्यः । भवांश्चकासे भुवनत्रयेऽस्मिन्नेको यथा वीतघनो विवस्वान् ॥ ५१ ॥ विधिर्विषक्तप्रतिषेधरूपः प्रमाणमत्रान्यतरत्प्रधानम् । गुणो परो मुख्यनियामहेतुर्नयः सदृष्टान्तसमर्थनस्ते ॥ ५२ ॥ विवक्षितो मुख्य इतीष्यतेऽन्यो

गुणोऽ विवक्षो न निरात्मकस्ते । तथारिमित्रानुभयादिशक्तिर्द्वयावधिः कार्यकरं हि वस्तु ॥ ५३ ॥ दृष्टान्तसिद्धावुभयोर्विवादे साध्यं प्रसिद्ध्येन्न तु तादृगस्ति । यत्सर्वथैकान्तनियामदृष्टं त्वदीयदृष्टिर्विभवत्यशेषे ॥ ५४ ॥ एकान्तदृष्टिप्रतिषेधसिद्धिर्न्यायेषुभिर्मोहरिपुं निरस्य । असि स्म कैवल्यविभूतिसम्राट् ततस्त्वमर्हन्नसिमे स्तवार्हः ॥ ५५ ॥

॥ इति श्रेयाञ्जिनस्तोत्रम् ॥

शिवासु पूज्योऽभ्युदयक्रियासु त्वं वासुपूज्यस्त्रिदशेन्द्रपूज्यः । मयापि पूज्योऽल्पधिया मुनीन्द्र दीपार्चिषा किं तपनो न पूज्यः ॥ ५६ ॥ न पूजयार्थस्त्वयि वीतरागे न निन्दया नाथ विवान्तवैरे । तथापि ते पुण्यगुणस्मृतिर्नः पुनातु चित्तं दुरिताञ्जनेभ्यः ॥ ५७ ॥ पूज्यं जिनं त्वार्चयतो जनस्य सावद्यलेशो बहुपुण्यराशौ । दोषाय नालं कणिका विषस्य न दूषिका शीतशिवाम्बुराशौ ॥ ५८ ॥ यद्वस्तु बाह्य गुणदोषसूतेर्निमित्तमभ्यन्तरमूलहेतोः । अध्यात्मवृत्तस्य तदङ्गभूतमभ्यंतरं केवलमप्यलं ते ॥ ५९ ॥ बाह्येतरोपाधिसमग्रतेयं कार्येषु ते द्रव्यगतः स्वभावः । नैवान्यथा मोक्षविधिश्च पुंसां तेनाभिवन्द्यस्त्वमृषिर्बुधानाम् ॥ ६० ॥

॥ इति वासुपूज्यस्तोत्रम् ॥

य एव नित्यक्षणिकादयो नया मिथोऽनपेक्षाः स्वपरप्रणाशिनः । त एव तत्त्वं विमलस्य ते मुनेः परस्परेक्षाः स्वपरोपकारिणः ॥ ६१ ॥ यथैकशः कारकमर्थसिद्धये समीक्ष्य शेषं स्वसहायकारकम् । तथैव सामान्यविशेषमातृका नयास्तवेष्टा गुणमुख्यकल्पतः ॥ ६२ ॥ परस्परेक्षान्वयभेदलिङ्गतः प्रसिद्धसामान्यविशेषयोस्तव । समग्रतास्ति स्वपरावभासकं यथा प्रमाणं भुवि बुद्धिलक्षणम् ॥ ६३ ॥ विशेषवाच्यस्य विशेषणं वचो यतो विशेष्यं विनियम्यते च यत् । तयोश्च सामान्यमतिप्रसज्यते विवक्षितात्स्यादिति तेऽन्यवर्जनम् ॥ ६४ ॥ नयास्तव स्यात्पदसत्यलाञ्छिता रसोपविद्धा इव लोहधातवः । भवन्त्यभिप्रेतगुणा यतस्ततो भवन्तमार्याः प्रणता हितै-

षिणः ॥ ६५ ॥

॥ इति विमलजिनस्तोत्रम् ॥

अनन्तदोषाशयविग्रहो ग्रहो विषङ्गवान्मोहमयश्चिरं हृदि । यतो जित-स्तत्त्वरुचौ प्रसीदता त्वया ततोऽभूर्भगवाननन्तजित् ॥ ६६ ॥ कषायनाम्नां द्विषतां प्रमाथिनामशेषयन्नाम भवानशेषवित् । विशोषणं मन्मथदुर्मदामयं समाधिभैषज्यगुणैर्व्यलीनयन् ॥ ६७ ॥ परिश्रमाम्बुर्भयवीचिमालिनी त्वया स्वतृष्णासरिदार्य शोषिता । असंगघर्मार्कगभस्तितेजसा परं ततो निर्वृतिधाम तावकम् ॥ ६८ ॥ सुहृत्त्वयि श्रीसुभगत्वमश्नुते द्विषंस्त्वयि प्रत्ययवत्प्रलीयते । भवानुदासीनतमस्तयोरपि प्रभो परं चित्रमिदं तवेहितम् ॥ ६९ ॥ त्वमीदृशस्तादृश इत्ययं मम प्रलापलेशोऽल्पमतेर्महामुने । अशेषमाहात्म्यमनीरयन्नपि शिवाय संस्पर्श इवामृताम्बुधेः ॥ ७० ॥

॥ इत्यनन्तजिनस्तोत्रम ॥

धर्मतीर्थमनघं प्रवर्त्तयन् धर्म इत्यनुमतः सतां भवान् । कर्मकक्षमदहत्तपोऽग्निभिः शर्म शाश्वतमवाप शङ्करः ॥ ७१ ॥ देवमानवनिकायसत्तमै रेजिषे परिवृतो वृतो बुधैः । तारकापरिवृतोऽतिपुष्कलो व्योमनीव शशलाञ्छनोऽमलः ॥ ७२ ॥ प्रातिहार्यविभवैः परिष्कृतो देहतोऽपि विरतो भवानभूत् । मोक्षमार्गमशिषन्नरामरान्नापि शासनफलैषणातुरः ॥ ७३ ॥ कायवाक्यमनसां प्रवृत्तयो नाऽभवस्तव मुनेश्चिकीर्षया । नासमीक्ष्य भवतः प्रवृत्तयो धीर तावकमचिन्त्यमीहितम् ॥ ७४ ॥ मानुषीं प्रकृतिमभ्यतीतवान् देवतास्वपि च देवता यतः । तेन नाथ परमासि देवता श्रेयसे जिनवृष प्रसीद नः ॥ ७५ ॥

॥ इति धर्मजिनस्तोत्रम् ॥

विधाय रक्षां परतः प्रजानां राजा चिरं योऽप्रतिमप्रतापः । व्यधात्पुरस्तात्स्वत एव शान्तिर्मुनिर्दयामूर्तिरिवाघशान्तिम् ॥ ७६ ॥ चक्रेण यः

शत्रुभयंकरेण जित्वा नृपः सर्वनरेन्द्रचक्रम् । समाधिचक्रेण पुनर्जिगाय महोदयो दुर्जयमोहचक्रम् ॥ ७७ ॥ राजश्रिया राजसु राजसिंहो रराज यो राजसुभोगतन्त्रः । आर्हन्त्यलक्ष्म्या पुनरात्मतन्त्रो देवासुरोदारसभे रराज ॥ ७८ ॥ यस्मिन्नभूद्राजनि राजचक्रं मुनौ दयादीधिति धर्मचक्रम् । पूज्ये मुहुः प्राञ्जलि देवचक्रं ध्यानोन्मुखे ध्वंसि कृतान्तचक्रम् ॥ ७९ ॥ स्वदोषशान्त्याविहितात्मशान्तिः शान्तेर्विधाता शरणं गतानाम् । भूयाद्भवक्लेशभयोपशान्त्यै शान्तिर्जिनो मे भगवान् शरण्यः ॥ ८० ॥

॥ इति शान्तिजिनस्तोत्रम ॥

कुन्थुप्रभृत्यखिलसत्त्वदयैकतानः कुन्थुर्जिनो ज्वरजरामरणोपशान्त्यै । त्वं धर्मचक्रमिह वर्त्तयसि स्म भूत्यै भूत्वा पुरा क्षितिपतीश्वर चक्रपाणिः ॥ ८१ ॥ तृष्णार्चिषः परिदहन्ति न शान्तिरासामिष्टेन्द्रियार्थविभवैः परिवृद्धिरेव । स्थित्यैव कायपरितापहरं निमित्तमित्यात्मवान्विषयसौख्यपराङ्मुखोऽभूत् ॥ ८२ ॥ बाह्यं तपः परमदुश्चरमाचरंस्त्वमाध्यात्मिकस्य तपसः परिबृंहणार्थम् । ध्यानं निरस्य कलुषद्वयमुत्तरेऽस्मिन् ध्यानद्वये ववृतिषेऽतिशयोपपन्ने ॥ ८३ ॥ हुत्वा स्वकर्मकटुकप्रकृतीश्चतस्रो रत्नत्रयातिशयतेजसि जातवीर्यः । विभ्राजिषे सकलवेदविधेर्विनेता व्यभ्रे यथा वियति दीप्तरुचिर्विवस्वान् ॥ ८४ ॥ यस्मान्मुनीन्द्र तव लोकपितामहाद्या विद्याविभूतिकणिकामपि नाप्नुवन्ति । तस्माद्भवन्तमजमप्रतिमेयमार्याः स्तुत्यं स्तुवन्ति सुधियः स्वहितैकतानाः ॥ ८५ ॥

॥ इति कुन्थुजिनस्तोत्रम् ॥

गुणस्तोकं सदुल्लङ्घ्य तद्बहुत्वकथा स्तुतिः । आनन्त्यात्ते गुणा वक्तुमशक्यास्त्वयि सा कथम् ॥ ८६ ॥ तथापि ते मुनीन्द्रस्य यतो नामापि कीर्तितम् । पुनाति पुण्यकीर्तेर्नस्ततो ब्रूयाम किञ्चन ॥ ८७ ॥ लक्ष्मीविभवसर्वस्वं मुमुक्षोश्चक्रलाञ्छनम् । साम्राज्यं सार्वभौमं ते जरत्तृणमिवाभवत् ॥ ८८ ॥ तव रूपस्य सौन्दर्यं दृष्ट्वा तृप्तिमनापिवान् । द्व्यक्षः

शक्रः सहस्राक्षो बभूव बहुविस्मयः ॥ ८९ ॥ मोहरूपो रिपुः पापः कषायभटसाधनः । दृष्टिसम्पदुपेक्षास्त्रैस्त्वया धीर पराजितः ॥ ९० ॥ कन्दर्पस्योद्धरो दर्पस्त्रैलोक्यविजयार्जितः । ह्रेपयामास तं धीरे त्वयि प्रतिहतोदयः ॥ ९१ ॥ आयत्यां च तदात्वे च दुःखयोनिर्निरुत्तरा । तृष्णा नदी त्वयोत्तीर्णा विद्यानावा विविक्तया ॥ ९२ ॥ अन्तकः क्रन्दको नृणां जन्मज्वरसखा सदा । त्वामन्तकान्तक प्राप्य व्यावृत्तः कामकारतः ॥ ९३ ॥ भूषावेषायुधत्यागि विद्यादमदयापरम् । रूपमेव तवाचष्टे धीरदोषविनिग्रहम् ॥ ९४ ॥ समन्ततोऽङ्गभासां ते परिवेषेण भूयसा । तमो बाह्यमपाकीर्णमध्यात्मध्यानतेजसा ॥ ९५ ॥ सर्वज्ञज्योतिषोद्भूतस्तावको महिमोदयः । कं न कुर्यात् प्रणम्रं ते सत्त्वं नाथ सचेतनम् ॥ ९६ ॥ तव वागमृतं श्रीमत्सर्वभाषास्वभावकम् । प्रणीयत्यमृतं यद्वत् प्राणिनो व्यापि संसदि ॥ ९७ ॥ अनेकान्तात्मदृष्टिस्ते सती शून्यो विपर्ययः । ततः सर्वं मृषोक्तं स्यात्तदयुक्तं स्वघाततः ॥ ९८ ॥ ये परस्खलितोन्निद्राः स्वदोषेभनिमीलिनः । तपस्विनस्ते किं कुर्युरपात्रं त्वन्मतश्रियः ॥ ९९ ॥ ते तं स्वघातिनं दोषं शमीकर्तुमनीश्वराः । त्वद्द्विषः स्वहनो बालास्तत्त्वावक्तव्यतां श्रिताः ॥ १०० ॥ सदेकनित्यवक्तव्यास्तद्विपक्षाश्च ये नयाः । सर्वथेति प्रदुष्यन्ति पुष्यन्ति स्यादितीहिते ॥ १०१ ॥ सर्वथा नियमत्यागी यथादृष्टमपेक्षकः । स्याच्छब्दस्तावके न्याये नान्येषामात्मविद्विषाम् ॥ १०२ ॥ अनेकान्तोऽप्यनेकान्तः प्रमाणनयसाधनः । अनेकान्तः प्रमाणात्ते तदेकान्तोऽर्पितान्नयात् ॥ १०३ ॥ इति निरुपमयुक्तिशासन प्रियहितयोगगुणानुशासनः । अरजिनदमतीर्थनायकस्त्वमिव सतां प्रतिबोधनायकः ॥ १०४ ॥ मतिगुणविभवानुरूपतस्त्वयि वरदागमदृष्टिरूपतः । गुणकृशमपि किञ्चनोदितं मम भवता दुरिताशनोदितम् ॥ १०५ ॥

॥ इत्यरजिनस्तोत्रम् ॥

यस्य महर्षेः सकलपदार्थप्रत्यवबोधः समजनि साक्षात् । सामरमर्त्यं जगदपि सर्वं प्राञ्जलि भूत्वा प्रणिपतति स्म ॥ १०६ ॥ यस्य च मूर्तिः कनक-

मयीव स्वस्फुरदाभाकृतपरिवेषा । वागपि तत्त्वं कथयितुकामा स्यात्पद-पूर्वा रमयति साधून् ॥ १०७ ॥ यस्य पुरस्ताद्विगलितमाना न प्रतितीर्थ्या भुवि विवदन्ते । भूरपि रम्या प्रतिपदमासीज्जातविकोशाम्बुजमृदुहासा ॥ १०८ ॥ यस्य समन्ताज्जिनशिशिरांशोः शिष्यकसाधुग्रहविभवोऽभूत् । तीर्थमपि स्वं जननसमुद्रत्रासितसत्त्वोत्तरणपथोऽग्रम् ॥ १०९ ॥ यस्य च शुक्लं परमतपोऽग्निर्ध्यानमनन्तं दुरितमधाक्षीत् । तं जिनसिंहं कृतकरणीयं मल्लिमशल्यं शरणमितोऽस्मि ॥ ११० ॥

॥ इति मल्लिजिनस्तोत्रम् ॥

अधिगतमुनिसुव्रतस्थितिर्मुनिवृषभो मुनिसुव्रतोऽनघः मुनिपरिषदि निर्बभौ भवानुडुपरिषत्परिवीतसोमवत् ॥ १११ ॥ परिणतशिखिकण्ठरागया कृतमदनिग्रहविग्रहाभया । तव जिन तपसः प्रसूतया ग्रहपरिवेषरुचेव शोभितम् ॥ ११२ ॥ शशिरुचिशुचिशुक्ललोहितं सुरभितरं विरजो निजं वपुः । तव शिवमतिविस्मयं यते यदपि च वाङ्मनसोऽयमीहितम् ॥ ११३ ॥ स्थितिजननिरोधलक्षणं चरमचरं च जगत्प्रतिक्षणम् । इति जिनसकलज्ञलाञ्छनं वचनमिदं वदतां वरस्य ते ॥ ११४ ॥ दुरितमलकलंकमष्टकं निरुपमयोगबलेन निर्दहन् । अभवदभवसौख्यवान् भवान् भवतु ममापि भवोपशान्तये ॥ ११५ ॥

॥ इति मुनिसुव्रतजिनस्तोत्रम् ॥

स्तुतिस्तोतुः साधोः कुशलपरिणामाय स तदा । भवेन्मा वा स्तुत्यः फलमपि ततस्तस्य च सतः ॥ किमेवं स्वाधीनाज्जगति सुलभे श्रायसपथे । स्तुयान्नत्वा विद्वान्सततमपि पूज्यं नमिजिनम् ॥ ११६ ॥ त्वया धीमन् ब्रह्मप्रणिधिमनसा जन्मनिगलं । समूलं निर्भिन्नं त्वमसि विदुषां मोक्षपदवी ॥ त्वयि ज्ञानज्योतिर्विभवकिरणैर्भाति भगव- । न्नभूवन् खद्योता इव शुचिरवावन्यमतयः ॥ ११७ ॥ विधेयं वार्यं चानुभयमुभयं मिश्रमपि तत् । विशेषैः प्रत्येकं नियमविषयैश्चापरिमितैः ॥ सदान्योन्यापेक्षैः सकलभुवन-

ज्येष्ठगुरुण । त्वया गीतं तत्त्वं बहुनयविवक्षेतरवशात् ॥ ११८ ॥ अहिंसा भू ानां जगति विदितं ब्रह्म परमं । न सा तत्रारम्भोस्त्यणुरपि च यत्राश्रमविधौ ॥ ततस्तत्सिध्यर्थं परमकरुणो ग्रन्थमुभयं । भवानेवात्याक्षीन्न च विकृतवेषोपधिरतः ॥ ११९ ॥ वपुर्भूषावेषव्यवधिरहितं शांतिकरणं । यतस्ते संचष्टे स्मरशरविषातंकविजयम् ॥ विना भीमैः शस्त्रैरदयहृदयामर्षविलयं । ततस्त्वं निर्मोहः शरणमसि नः शांतिनिलयः ॥ १२० ॥

॥ इति नमिजिनस्तोत्रम् ॥

भगवानृषिः परमयोगदहनहुतकल्मषेन्धनम् । ज्ञानविपुलकिरणैः सकलं प्रतिबुध्य बुद्धः कमलायतेक्षणः ॥ १२१ ॥ हरिवंशकेतुरनवद्यविनयदमतीर्थनायकः । शीलजलधिरभवो विभवस्त्वमरिष्टनेमिजिनकुञ्जरोऽजरः ॥ १२२ ॥ त्रिदशेन्द्रमौलिमणिरत्नकिरणविसरोपचुम्बितम् । पादयुगलममलं भवतो विकसत्कुशेशयदलारुणोदरम् ॥ १२३ ॥ नखचन्द्ररश्मिकवचातिरुचिरशिखराङ्गुलिस्थलम् । स्वार्थनियतमनसः सुधियः प्रणमन्ति मन्त्रमुखरा महर्षयः ॥ १२४ ॥ द्युतिमद्रथाङ्गरविबिम्बकिरणजटिलांशुमण्डलः । नीलजलजदलराशिवपुः सहबन्धुभिर्गरुडकेतुरीश्वरः ॥ १२५ ॥ हलभृच्च ते स्वजनभक्तिमुदितहृदयौ जनेश्वरौ । धर्मविनयरसिकौ सुतरां चरणारविन्दयुगलं प्रणेमतुः ॥ १२६ ॥ ककुदं भुवः खचरयोषिदुषितशिखरैरलंकृतः । मेघपटलपरिवीततटस्तव लक्षणानि लिखितानि वज्रिणा ॥ १२७ ॥ वहतीति तीर्थमृषिभिश्च सततमभिगम्यतेऽद्य च । प्रीतिविततहृदयैः परितो भृशमूर्ज्जयन्त इति विश्रुतोऽचलः ॥ १२८ ॥ बहिरन्तरप्युभयथा च करणमविघाति नार्थकृत् । नाथ युगपदखिलं च सदा त्वमिदं तलामलकवद्विवेदिथ ॥ १२९ ॥ अत एव ते बुधनुतस्य चरितगुणमद्भुतोदयम् । न्यायविहितमवधार्य जिने त्वयि सुप्रसन्नमनसः स्थिता वयं ॥ १३० ॥

॥ इत्यरिष्टनेमिजिनस्तोत्रम् ॥

तमालनीलैः सधनुस्तडिद्गुणैः प्रकीर्णभीमाशनिवायुवृष्टिभिः । बला-

हर्कैर्वैरिवशैरुपद्रुतो महामना यो न चचाल योगतः ॥ १३१ ॥ बृहत्फ णामण्डलमण्डपेन यं स्फुरत्तडित्पिङ्गरुचोपसर्गिणम् । जुगूह नागो धरणो धराधरं विरागसन्ध्यातडिदम्बुदो यथा ॥ १३२ ॥ स्वयोगनिस्त्रिंशनिशा-तधारया निशात्य यो दुर्जयमोहविद्विषम् । अवापदार्हन्त्यमचिंत्यमद्भुतं त्रिलोकपूजातिशयास्पदं पदम् ॥ १३३ ॥ यमीश्वरं वीक्ष्य विधूतकल्मषं तपोधनास्तेऽपि तथा बुभूषवः । वनौकसः स्वश्रमवन्ध्यबुद्धयः शमोपदेशं शरणं प्रपेदिरे ॥ १३४ ॥ स सत्यविद्यातपसां प्रणायकः समग्रधीरुग्रकुला-म्बरांशुमान् । मया सदा पार्श्वजिनः प्रणम्यते विलीनमिथ्यापथदृष्टिवि-भ्रमः ॥ १३५ ॥

॥ इति पार्श्वजिनस्तोत्रम ॥

कीर्त्या भुवि भासि तया वीर त्वं गुणसमुच्छ्रया भासितया । भासो-डुसभासितया सोम इव व्योम्नि कुन्दशोभासितया ॥ १३६ ॥ तव जिन शासनविभवो जयति कलावपि गुणानुशासनविभवः । दोषकशासनविभवः स्तुवति चेनं प्रभाकृशासनविभवः ॥ १३७ ॥ अनवद्यः स्याद्वादस्तव दृष्टे-ष्टाविरोधतः स्याद्वादः । इतरो न स्याद्वादो सद्वितयविरोधान्मुनीश्वराऽस्या-द्वादः ॥ १३८ ॥ त्वमसि सुरासुरमहितो ग्रन्थिकसत्वाशयप्रणामामहितः । लोकत्रयपरमहितोऽनावरणज्योतिरुज्ज्वलधामहितः ॥ १३९ ॥ सभ्याना-मभिरुचितं दधासि गुणभूषणं श्रिया चारुचितम् । मग्नं स्वस्यां रुचिरं ज-यसि च मृगलांछनं स्वकान्त्या रुचितम् ॥ १४० ॥ त्वं जिन गतमदमा-यस्तव भावानां मुमुक्षुकामदमायः । श्रेयान् श्रीमदमायस्त्वया समादेशि सप्रयामदमायः ॥ १४१ ॥ गिरिभित्त्यवदानवतः श्रीमत इव दन्तिनः स्त्रवद्दानवतः । तव शमवादानवतो गतमूर्जितमपगतप्रमादानवतः ॥ १४२ ॥

बहुगुणसंपदसकलं परमतमपि मधुरवचनविन्यासकलम् । नयभक्त्य वतंसकलं तव देव मतं समन्तभद्रं सकलम् ॥ १४३ ॥

॥ इति वीरजिनस्तोत्रम ॥

यो नि शेषजिनोक्तधर्मविषयः श्रीगौतमाद्यैः कृतः । सूक्तार्थैरमलैः स्तवोऽयमसमः स्वल्पैः प्रसन्नैः पदैः ॥ तद्व्याख्यानमदो यथा ह्यवगतं किञ्चित्कृतं लेशतः । स्थेयाच्चन्द्रदिवाकरावधि बुधप्रह्लादचेतस्यलम् ॥ १४४ ॥[3]

॥ इति बृहत्स्वयम्भूस्तोत्रं समाप्तम् ॥

श्री अमितगतिसूरिविरचिता

द्वात्रिंशतिका ।

(१७)

सत्त्वेषु मैत्रीं गुणिषु प्रमोदं क्लिष्टेषु जीवेषु कृपापरत्वम् । माध्यस्थभावं विपरीतवृत्तौ सदा ममात्मा विदधातु देव ॥ १ ॥ शरीरतः कर्तुमनन्तशक्तिं विभिन्नमात्मानमपास्तदोषम् । जिनेन्द्र ! कोषादिव खड्गयष्टिं तव प्रसादेन ममास्तु शक्तिः ॥ २ ॥ दुःखे सुखे वैरिणि बन्धुवर्गे योगे वियोगे भुवने वने वा । निराकृताशेषममत्वबुद्धेः समं मनो मेऽस्तु सदापि नाथ ॥ ३ ॥ मुनीश ! लीनाविव कीलिताविव स्थिरौ निशाताविव बिम्बिताविव । पादौ त्वदीयौ मम तिष्ठतां सदा तमोधुनानौ हृदि दीपकाविव ॥ ४ ॥ एकेन्द्रियाद्या यदि देव देहिनः प्रमादतः संचरता इतस्ततः । क्षता विभिन्ना मिलिता निपीडिता, तदस्तु मिथ्या दुरनुष्ठितं तदा ॥ ५ ॥ विमुक्तिमार्गप्र-

---

पूर्वपृष्ठस्य टिप्पणः

१ प्रकृष्टा मा हिंसा प्रमा, अपगता नष्टा प्रमा अपगतप्रमा अहिंसा, तस्या दानमभयदानम् । तदस्यास्तीति तस्य ।

२ नया नैगमादयः । तेषां भङ्गयो भङ्गाः स्यादस्तीत्यादयः । त एवाऽवतंसकं कर्णभूषणं तद्वातीति ।

३ अन्तिमः श्लोकः स्वयम्भूस्तोत्रस्य नास्ति किन्तु टीकाकारस्य ।

तिकूलवर्तिना मया कषायाक्षवशेन दुर्धिया । चारित्रशुद्धेर्यदकारि लोपनं तदस्तु मिथ्या मम दुष्कृतं प्रभो ॥ ६ ॥ विनिन्दनालोचनगर्हणैरहं मनोवचःकायकषायनिर्मितम् । निहन्मि पापं भवदुःखकारणं भिषग्विषं मन्त्रगुणैरिवाखिलम् ॥ ७ ॥ अतिक्रमं यद्विमतेर्व्यतिक्रमं जिनातिचारं सुचरित्रकर्मणः । व्यधामनाचारमपि प्रमादतः प्रतिक्रमं तस्य करोमि शुद्धये ॥ ८ ॥ क्षतिं मनःशुद्धिविधेरतिक्रमं व्यतिक्रमं शीलव्रतेर्विलंघनम् । प्रभोऽतिचारं विषयेषु वर्तनं वदन्त्यनाचारमिहातिसक्तताम् ॥ ९ ॥ यदर्थमात्रापदवाक्यहीनं मया प्रमादाद्यदि किञ्चनोक्तम् । तन्मे क्षमित्वा विदधातु देवी सरस्वती केवलबोधलब्धिम् ॥ १० ॥ बोधिः समाधिः परिणामशुद्धिः स्वात्मोपलब्धिः शिवसौख्यसिद्धिः । चिन्तामणिं चिंतितवस्तुदाने त्वां वंद्यमानस्य ममास्तु देवि ॥ ११ ॥ यः स्मर्यते सर्वमुनीन्द्रवृन्दैर्यः स्तूयते सर्वनरामरेन्द्रैः । यो गीयते वेदपुराणशास्त्रैः स देवदेवो हृदये ममास्ताम् ॥ १२ ॥ यो दर्शनज्ञानसुखस्वभावः समस्तसंसारविकारबाह्यः । समाधिगम्यः परमात्मसंज्ञः स देवदेवो हृदये ममास्ताम् ॥ १३ ॥ निषूदते यो भवदुःखजालं निरीक्षते यो जगदन्तरालं । योऽन्तर्गतो योगिनिरीक्षणीयः स देवदेवो हृदये ममास्ताम् ॥ १४ ॥ विमुक्तिमार्गप्रतिपादको यो यो जन्ममृत्युव्यसनाद्यतीतः । त्रिलोकलोकी विकलोऽकलङ्कः स देवदेवो हृदये ममास्तम् ॥ १५ ॥ क्रोडीकृताशेषशरीरिवर्गा रागादयो यस्य न संति दोषाः निरिंद्रियो ज्ञानमयोऽनपायः स देवदेवो हृदये ममास्ताम् ॥ १६ ॥ यो व्यापको विश्वजनीनवृत्तेः सिद्धो विबुद्धो धुतकर्मबन्धः । ध्यातो धुनीते सकलं विकारं स देवदेवो हृदये ममास्ताम् ॥ १७ ॥ न स्पृश्यते कर्मकलङ्कदोषैर्यो ध्वान्तसंघैरिव तिग्मरश्मिः । निरञ्जनं नित्यमनेकमेकं तं देवमाप्तं शरणं प्रपद्ये ॥ १८ ॥ विभासते यत्र मरीचिमाली न विद्यमाने भुवनावभासि । स्वात्मस्थितं बोधमयप्रकाशं तं देवमाप्तं शरणं प्रपद्ये ॥ १९ ॥ विलोक्यमाने सति यत्र विश्वं विलोक्यते स्पष्टमिदं विविक्तम् । शुद्धं शिवं शान्तमनाद्यनन्तं तं देवमाप्तं शरणं प्रपद्ये ॥ २० ॥ येन क्षता मन्मथमानमूर्छा विषादनिद्राभयशोकचिन्ता । क्षयोऽनलेनेव तरुप्रपञ्चस्तं देवमाप्तं

शरणं प्रपद्ये ॥ २१ ॥ न संस्तरोऽश्मा न तृणं न मेदिनी विधानतो नो फलको विनिर्मितः । यतो निरस्ताक्षकषायविद्विषः सुधीभिरात्मैव सुनिर्मलो मतः ॥ २२ ॥ न संस्तरो भद्रसमाधिसाधनं न लोकपूजा न च संघमेलनम् । यतस्ततोऽध्यात्मरतो भवानिशं विमुच्य सर्वामपि बाह्यवासनाम् ॥ २३ ॥ न सन्ति बाह्या मम केचनार्था भवामि तेषां न कदाचनाहम् । इत्थं विनिश्चित्य विमुच्य बाह्यं स्वस्थः सदा त्वं भव भद्रमुक्त्यै ॥ २४ ॥ आत्मानमात्मन्यवलोकमानस्त्वं दर्शनज्ञानमयो विशुद्धः । एकाग्रचित्तः खलु यत्र तत्र स्थितोपि साधुर्लभते समाधिम् ॥ २६ ॥ एकः सदा शाश्वतिको ममात्मा विनिर्मलः साधिगमस्वभावः । बहिर्भवाः सन्त्यपरे समस्ता न शाश्वताः कर्मभवाः स्वकीयाः ॥ २६ ॥ यस्यास्ति नैक्यं वपुषापि सार्द्धं तस्यास्ति किं पुत्रकलत्रमित्रैः । पृथक्कृते चर्मणि रोमकूपाः कुतो हि तिष्ठन्ति शरीरमध्ये ॥ २७ ॥ संयोगतो दुःखमनेकभेदं यतोऽश्नुते जन्मवने शरीरी । ततस्त्रिधासौ परिवर्जनीयो यियासुना निर्वृतिमात्मनीनाम् ॥ २८ ॥ सर्वं निराकृत्य विकल्पजालं संसारकान्तारनिपातहेतुम् । विविक्तमात्मानमवेक्षमाणो निलीयसे त्वं परमात्मतत्त्वे ॥ २९ ॥ स्वयं कृतं कर्म यदात्मना पुरा फलं तदीयं लभते शुभाशुभम् । परेण दत्तं यदि लभ्यते स्फुट स्वयं कृत कर्म निरर्थकं तदा ॥ ३० ॥ निजार्जितं कर्म विहाय देहिनो न कोपि कस्यापि ददाति किंचन। विचारयन्नेवमनन्यमानसः परो ददातीति विमुंच शेमुषीम् ॥ ३१ ॥ यैः परमात्माऽमितगतिवन्द्यः सर्वविविक्तो भृशमनवद्यः । शश्वदधीतो मनसि लभन्ते क्तिनिकेतं विभववरं ते ॥ ३२ ॥ इति द्वात्रिंशतिवृत्तैः परमात्मानमीक्षते । योऽनन्यगतचेतस्को यात्यसौ पदमव्ययम् ॥ ३३ ॥

॥ इत्यमितगतिसूरिविरचिता द्वात्रिंशतिका समाप्ता ॥

अकलंकस्तोत्रम् ।

[शार्दूलविक्रीडितछ्दः]

त्रैलोक्यं सकलं त्रिकालविषयं सालोकमालोकितं । साक्षाद्येन यथा स्वयं करतले रेखात्रयं सांगुलि ॥ रागद्वेषभयामयान्तकजरालोलत्वलोभादयो । नालं यत्पदलंघनाय स महादेवो मया वद्यते ॥ १ ॥ दग्धं येन पुरत्रय शरभवा तीव्रार्चिषा वह्निना । यो वा नृत्यति मत्तवत्पितृवने यस्यात्मजो वा गुहः ॥ सोऽयं किं मम शंकरो भयतृषारोषार्तिमोहक्षयं । कृत्वा यः स तु सर्ववित्तनुभृतां क्षेमंकरः शंकरः ॥ २ ॥ यत्नाद्येन विदारितं कररुहैर्दैत्येन्द्रवक्षःस्थलं ।। सारथ्येन धनंजयस्य समरे योऽमारयत्कौरवान्॥ नासौ विष्णुरनेककालविषयं यज्ज्ञानमव्याहतं । विश्वं व्याप्य विजृंभते स तु महाविष्णुः सदेष्टो मम ॥ ३ ॥ उर्वश्यामुदपादि रागवहुलं चेतो यदीयं पुनः । पात्रीदडकमंडलुप्रभृतयो यस्याकृतार्थस्थितिम् ॥ आविर्भावयितुं भवंति स कथं ब्रह्मा भवेन्मादृशां । क्षुत्तृष्णाश्रमरागरोगरहितो ब्रह्मा कृतार्थोऽस्तु नः ॥ ४ ॥ यो जग्ध्वा पिशितं समत्स्यकवलं जीवं च शून्यं वदन् । कर्त्ता कर्मफलं न भुक्त इति यो वक्ता स बुद्धः कथम् ॥ यज्ज्ञानं क्षणवर्ति वस्तु सकलं ज्ञातुं न शक्तं सदा । यो जानन्युगपज्जगत्त्रयमिदं साक्षात्स बुद्धो मम ॥ ५ ॥

[स्रग्धरा छ्दः]

ईशः किं छिन्नलिंगो यदि विगतभयः शूलपाणिः कथं स्यात् । नाथः किं भैक्ष्यचारी यतिरिति स कथ सांगनः सात्मजश्च ॥ आर्द्राजः किन्त्वजन्मा सकलविदिति किं वेत्ति नात्मान्तरायं । संक्षेपात्सम्यगुक्तं पशुपतिमपशुः कोऽत्र धीमानुपास्ते ॥ ६ ॥ ब्रह्मा चर्माक्षसूत्री सुरयुवतिरसावेशविभ्रान्तचेताः । शम्भुः खट्वाङ्गधारी गिरिपतितनयापाङ्गलीला-

नुविद्धः ।। विष्णुश्चक्राधिपः सन्दुहितरमगमद्ब्रोपनाथस्य मोहा- । दर्हन्वि-ध्वस्तरागो जितसकलभयः कोऽयमेष्वाप्तनाथः ।। ७ ।। एको नृत्यति विप्रसार्य कुकुभां चक्रे सहस्रं भुजा- । नेकः शेषभुजंगभोगशयने व्यादाय निद्रायते ।। दृष्टुं चारुतिलोत्तमामुखमगादेकश्चतुर्वक्त्रता- । मेते मुक्तिपथं वदंति विदुषामित्येतदत्यद्भुतम् ।। ८ ।। यो विश्वं वेद वेद्यं जननजल-निधेर्भंगिनः पारदृश्वा । पौर्वापर्याविरुद्धं वचनमनुपमं निष्कलंकं यदी-यम् ।। तं वंदे साधुवंद्यं सकलगुणनिधिं ध्वस्तदोषद्विषंतं । बुद्धं वा वर्द्धमानं शतदलनिलयं केशवं वा शिवं वा ।। ९ ।।माया नास्ति जटा कपाल मुकुटं चन्द्रो न मूर्धावली । खट्वाङ्गं न च वासुकिर्न च धनुः शूल न चोग्रं मुखं ।। कामो यस्य न कामिनी न च वृषो गीतं न नृत्यं पुनः । सोऽ-स्मान्पातु निरंजनो जिनपतिः सर्वत्र सूक्ष्मः शिवः ।। १० ।। नो ब्रह्मांकित-भूतलं न च हरेः शम्भोर्न मुद्रांकितं । नो चन्द्रार्ककरांकितं सुरपतेर्व-ज्रांकितं नैव च ।। षड्वक्त्रांकितबौद्धदेवहुतभुग्यक्षोरगैर्नांकितं । नग्नं पश्यत वादिनो जगदिदं जैनेन्द्रमुद्रांकितम् ।। ११ ।। मौञ्जीदंडकमंडलु-प्रभृतयो नो लाञ्छनं ब्रह्मणो । रुद्रस्यापि जटाकपालमुकुटं कौपीनखट्वां-गनाः ।। विष्णोश्चक्रगदादिशंखमतुलं बुद्धस्य रक्ताम्बरं । नग्नं पश्यत वादिनो जगदिदं जैनेन्द्रमुद्रांकितम् ।। १२ ।। नाहंकारवशीकृतेन मनसा न द्वेषिणा केवलं । नैरात्म्य प्रतिपद्य नश्यति जने कारुण्यबुद्ध्या मया ।। राज्ञः श्रीहिमशीतलस्य सदसि प्रायो विदग्धात्मनो । बौद्धौघान्सकलान् विजित्य स घटः पादेन विस्फालितः ।। १३ ।। खट्वांगं नैव हस्ते न च हृदि रचिता लम्बते मुंडमाला । भस्मांगं नैव शूलं न च गिरिदुहिता नैव हस्ते कपालं । चन्द्रार्धं नैव मूर्धन्यपि वृषगमनं नैव कंठे फणीन्द्रः । तं वन्दे त्यक्तदोषं भवभयमथनं चेश्वरं देवदेवं ।। १४ ।। किं वाद्यो भगवान-मेयमहिमा देवोऽकलंकः कलौ । काले यो जनतासुधर्मनिहितो देवोऽ-कलंको जिनः ।। यस्य स्फारविवेकमुद्रलहरीजाले प्रमेयाकुला । निर्मग्ना तनुतेतरां भगवती तारा शिरःकम्पनम् ।। १५ ।। सा तारा खलु देवता भगवतीमन्यापि मन्यामहे। षण्मासावधिजाड्यसांख्यभगवद्भट्टाकलकप्रभोः ।

वाक्कल्लोलपरम्पराभिरमते नूनं मनोमज्जन- । व्यापारं सहते स्म विस्मित-मतिः सन्ताडितेतस्ततः ॥ १६ ॥

॥ इति श्रीअकलङ्कस्तोत्रम् समाप्तम् ॥

मंगलाष्टकम्

श्रीमन्नम्रसुरासुरेन्द्रमुकुटप्रद्योतरत्नप्रभा । भास्वत्पादनखेन्दवः प्रवचनांभोधींदवः स्थायिनः ॥ ये सर्वे जिनसिद्धसूर्यनुगतास्ते पाठकाः साधवः । स्तुत्या योगिजनैश्च पञ्चगुरवः कुर्वन्तु ते मंगलम् ॥ १ ॥ सम्यग्दर्शनबोधवृत्तममलं रत्नत्रयं पावनं । मुक्तिश्रीनगराधिनाथजिनपत्युक्तोऽपवर्गप्रदः ॥ धर्मः सूक्तिसुधा च चैत्यमखिलं चैत्यालयं श्र्यालयं । प्रो च त्रिविधं चतुर्विधममी कुर्वन्तु ते मंगलम् ॥ २ ॥ नाभेयादिजिनाधिपास्त्रिभुवनख्याताश्चतुर्विंशतिः । श्रीमन्तो भरतेश्वरप्रभृतयो ये चक्रिणो द्वादश ॥ ये विष्णुप्रतिविष्णुलांगलधराः सप्तोत्तरा विंशतिः । त्रैकाल्ये प्रथितास्त्रिषष्टिपुरुषाः कुर्वन्तु ते मंगलम् ॥ ३ ॥ देव्योऽष्टौ च जयादिका द्विगुणिता विद्यादिका देवताः । श्रीतीर्थङ्करमातृकाश्च जनका यक्षाश्च यक्ष्यस्तथा ॥ द्वात्रिंशत्त्रिदशाधिपास्तिथिसुरा दिक्कन्यकाश्चाष्टधाः । दिक्पाला दश चेत्यमी सुरगणाः कुर्वन्तु ते मंगलम् ॥ ४ ॥ ये सर्वौषधऋद्धयः सुतपसो वृद्धिं गताः पञ्च ये । ये चाष्टांगमहानिमित्तकुशला येऽष्टा विधाश्चारणाः ॥ पञ्चज्ञानधरास्त्रयोऽपि बलिनो ये बुद्धिऋद्धीश्वराः । सप्तैते सकलार्चिता गणभृतः कुर्वन्तु ते मंगलम् ॥ ५ ॥ कैलासे वृषभस्य निर्वृतिमही वीरस्य पावापुरे । चम्पायां वसुपूज्यसज्जिनपतेः सम्मेदशैलेऽर्हताम् ॥ शेषाणामपि चोर्जयन्तशिखरे नेमीश्वरस्यार्हतो । निर्वाणावनयः प्रसि-

द्धिविभवाः कुर्वन्तु ते मंगलम् ॥ ६ ॥ ज्योतिर्व्यन्तरभावनामरगृहे मेरौ कुलाद्रौ तथा । जंबूशाल्मलिचैत्यशाखिषु तथा वक्षारूप्याद्रिषु । इष्वाकारगिरौ च कुंडलनगे द्वीपे च नन्दीश्वरे शैले ये मनुजोत्तरे जिनगृहाः कुर्वन्तु ते मंगलम् ॥ ७ ॥ यो गर्भावतरोत्सवो भगवतां जन्माभिषेकोत्सवो यो जातः परिनिष्क्रमेण विभवो यः केवलज्ञानभाक । यः कैवल्यपुरप्रवेशमहिमा संभाविनः स्वर्गिभिः कल्याणानि च तानि पंच सततं कुर्वन्तु ते मंगलम् ॥ ८ ॥

इत्थं श्रीजिनमंगलाष्टकमिदं सौभाग्यसम्पत्प्रदं कल्याणेषु महोत्सवेषु सुधियस्तीर्थङ्कराणामुषः । ये शृण्वन्ति पठंति तैश्च सुजनैर्धर्मार्थकामान्विता लक्ष्मीराश्रयते व्यपायरहिता निर्वाणलक्ष्मीरपि ॥ ९ ॥

इति मंगलाष्टकम् ।

महावीराष्टकस्तोत्रम्

[शिखरिणी]

यदीये चैतन्ये मुकुर इव भावाश्चिदचितः । सम भांति ध्रौव्यव्ययजनिलसंतोंतरहिताः ॥ जगत्साक्षी मार्गप्रकटनपरो भानुरिव यो । महावीरस्वामी नयनपथगामी भवतु मे (नः) ॥ १ ॥ अताम्रं यच्चक्षुः कमलयुगलं स्पंदरहितं । जनान्कोपापायं प्रकटयति वाभ्यंतरमपि ॥ स्फुटं मूर्तिर्यस्य प्रशमितमयी वातिविमला । महावीर० ॥ २ ॥ नमन्नाकेंद्रालीमुकुटमणिभाजालजटिलं । लसत्पादांभोजद्वयमिह यदीयं तनुभृतां ॥ भवज्वालाशांत्यै प्रभवति जलं वा स्मृतमपि । महावीर० ॥ ३ ॥ यदर्चाभावेन प्रमुदितमना दर्दुर इह । क्षणादासीत्स्वर्गी गुणगणसमृद्धः सुखनिधिः॥ लभंते सद्भक्ताः शिवसुखसमाजं किमु तदा । महावीर० ॥ ४ ॥ कनत्स्व-

र्णाभासोऽप्यपगततनुर्ज्ञाननिवहो । विचित्रात्माप्येको नृपतिवरसिद्धार्थ-तनयः॥ अजन्मापि श्रीमान् विगतभवरागोद्भुतगतिः । महावीर० ॥५॥ यदीया वाग्गङ्गा विविधनयकल्लोलविमला । बृहज्ज्ञानांभोभिर्जगति जनतां या स्नपयति ॥ इदानीमप्येषा बुधजनमरालैः परिचिता । महावीर० ॥ ६ ॥ अनिर्वारोद्रेकस्त्रिभुवनजयी कामसुभटः । कुमारावस्थायामपि निजबलाद्येन विजितः ॥ स्फुरन्नित्यानंदप्रशमपदराज्याय स जिनः । महावीर० ॥ ७ ॥ महामोहातङ्कप्रशमनपराकस्मिकभिषग् । निरापेक्षो बंधुर्विदितमहिमा मङ्गलकरः ॥ शरण्यः साधूनां भवभयभृतामुत्तमगुणो । महावीर० ॥ ८ ॥ महावीराष्टकं स्तोत्र भक्त्या भागेन्दुना कृतं । यः पठेच्छ्रणुयाच्चापि स याति परमां गतिम् ॥ ९ ॥

॥ इति ॥

अथ नमस्कारमन्त्राः

णमो अरहंताणं । णमो सिद्धाणं । णमो आइरियाणं । णमो उवज्झायाणं । णमो लोए सव्वसाहूणं ॥ १ ॥ मन्त्रं संसारसारं त्रिजगदनुपमं सर्वपापारिमन्त्रं । संसारोच्छेदमन्त्रं मविपहरं कर्मनिर्मूलमन्त्रम् ॥ मन्त्रं सिद्धिप्रदानं शिवसुखजननं केवलज्ञानमन्त्रं । मन्त्रं श्रीजैनमन्त्रं जप जप जपितं जन्मनिर्वाणमन्त्रम् ॥ २ ॥ आकृष्टिं सुरसंपदां विदधते मुक्तिश्रियो वश्यता- । मुच्चाटं विपदां चतुर्गतिभुवां विद्वेषमात्मैनशाम् ॥ स्तम्भं दुर्गमनं प्रति प्रयततो मोहस्य संमोहनं । पायात्पञ्चनमस्क्रियाक्षरमयी साराधना देवता ॥ ३ ॥ अनन्तानन्तसंसारसन्ततिच्छेदकारणम् । जिनराजपदाम्भोजस्मरणं शरणं मम ॥ ४ ॥ अन्यथा शरणं नास्ति त्वमेव शरणं मम । तस्मात्कारुण्यभावेन रक्ष रक्ष जिनेश्वर ॥ ५ ॥ न हि त्राता न हि त्राता न हि त्राता जगत्त्रये । वीतरागात्परो देवो न भूतो न भविष्यति ॥ ६ ॥ जिने भक्तिर्जिने भक्तिर्जिने भक्तिर्दिने दिने । सदा मेऽस्तु सदा मेऽस्तु सदा मेऽस्तु भवे भवे ॥ ७ ॥

कौन कौनसी भक्ति कहां कहां करनी चाहिये ?

--:०*०:--

देववंदना गुरुवंदना स्वाध्याय आदि कार्योंके करनेमें कौन कौनसी भक्ति करनी चाहिये, इसका वर्णन इस प्रकार है:

जिनेन्द्र वंदन

सर्वव्यासंग निर्मुक्तः संशुद्धकरणत्रयः ।
धौतहस्तपदद्वन्द्वः परमानन्द मन्दिरम् ॥ १ ॥
चैत्य चैत्यालयादीनां स्तवनादौ कृतोद्यमः ।
भवेदनन्तसंसारसन्तानोच्छित्तये यतिः ॥ २ ॥

अर्थ---जिन्होने अन्य समस्त कार्य और चिंताओंका त्याग कर दिया है जिनके मन वचन काय तीनों शुद्ध हैं और जिन्होंने दोनो हाथ तथा दोनों पैर धोकर शुद्ध कर लिये हैं ऐसे मुनियों को बडे आनदके साथ चैत्य अथवा चैत्यालय आदि की स्तुति वदना आदि करनेके लिये प्रयत्न करना चाहिये । जो मुनिराज इस प्रकार स्तुति वदना करते हैं उनकी अनंत ससारकी परंपरा अथवा जन्ममरणरूप सतति बहुत शीघ्र नष्ट हो जाती है ।

यथा निश्चेतनाश्चिन्तामणिकल्पमहीरुहाः ।
कृत पुण्यानुसारेण तदभीष्टफलप्रदाः ॥ ३ ॥
तथार्हदादयश्चास्तरागद्वेषप्रवृत्तयः ॥
भक्तभक्त्यनुसारेण स्वर्गमोक्षफलप्रदाः ॥ ४ ॥

अर्थ---जिसप्रकार चिन्तामणिरत्न तथा कल्पवृक्ष आदि अचेतन हैं तो भी पुण्यवान् पुरुषोको उनके पुण्योदयके अनुसार अनेक प्रकारके इच्छानुसार फल देते हैं । उसी प्रकार भगवान् अरहंत देव वा सिद्ध भगवान् यद्यपि राग द्वेष रहित हैं तथापि वे भक्त पुरुषोको उनकी भक्तिके अनुसार स्वर्ग और मोक्षके अनुपम फल देते है ।

गराय हारिणी मुद्रा गरुडस्य यथा तथा ।
जिनस्याप्येनसो हंत्री दुरितारााति पातिनः ॥ ५ ॥
सुमनः संगमादंगतीह सूत्र पवित्रताम् ।
पिष्टः प्रकृष्टमाधुर्य प्रकृष्टेक्षुरसाद्यथा ॥ ६ ॥
चंपापावादिनिर्वाण क्षेत्रादीनि पवित्रताम् ।
वंद्यतां च व्रजन्त्येव वन्द्यसंगमतस्तथा ॥ ७ ॥

अर्थ--जिस प्रकार गारुडी मुद्रा (गरुड की मुद्रा) विपको दूर कर देती है उसी प्रकार पापरूपी शत्रुओंको नाश करनेवाले भगवान् जिनेन्द्रदेवकी मुद्रा वा मूर्ति भी भव्य जीवोंके समस्त पापोको दूर कर देती है। जिस प्रकार इस संसारमें पुष्पोंके संबंधसे सूत भी (मालामें लगा हुआ सूत वा डोरी) पवित्र हो जाता है, अथवा जिस प्रकार उत्तम इक्षुरसके संबंधसे आटा भी अत्यत मीठा हो जाता है उसी प्रकार अत्यत वदनीय ऐसे तीर्थंकर अथवा अन्य मोक्षगामी पुरुषोंके संबंधसे चपापुर, पावापुर आदि निर्वाणभूमिया भी अत्यत पवित्र और वदनीय हो जाती हैं।

मत्वेति जिनगेहादिं त्रिःपरीत्य कृतांजलिः ।
प्रकुर्यात्तच्चतुर्दिक्षु त्र्यावर्ता शिरोनतिम् ॥ ८ ॥
घोरसंसार गंभीर वारिराशौ निमज्जताम् ।
दत्तहस्तावलम्बस्य जिनस्यार्चार्थमाविशेत् ॥ ९ ॥

अर्थ--यही समझकर जिनमन्दिर जिनप्रतिमा व निर्वाण क्षेत्र आदिकी तीन प्रदक्षिणा देनी चाहिये, हाथ जोडना चाहिये, उन जिन मंदिर वा जिन प्रतिमाके चारों ओर तीन तीन आवर्त करने चाहिये प्रत्येक दिशाकी ओर उनके लिये शिरोनति करना चाहिये।

इस प्रकार उनके लिये चारों ओरसे बारह आवर्त और चार नमस्कार करने चाहिये। तदनतर भयकर व गभीर ऐसे ससार रूपी समुद्रमें डूबते हुए प्राणियोंको बचानेके लिये हस्तावलबन (हाथका सहारा) देनेवाले ऐसे भगवान् जिनेन्द्र-देवकी पूजा करनेके लिये मदिरमें प्रवेश करना चाहिये।

मदिरमें प्रवेश करते समय "णिसही णिसही" कहना चाहिये। भगवान्के

समीप पहुंचकर "पडिकम्मामि भंत्ते इरिया वहियस्स" इत्यादि ईर्यापथ प्रतिक्रमणकी विधि करना चाहिये। तदनतर "इच्छामि भंते आलोचं ईरिया वहियस्य" इत्यादि ईर्यापथ आलोचना पाठ बोलना चाहिये। फिर चैत्यभक्ति और पञ्चगुरु भक्ति बोलनी चाहिये। इस प्रकार जिनप्रतिमा वदन विधि करनी चाहिये। सो ही लिखा है।

देवनास्तवने भक्ती चैत्यपंचगुरूभयोः ॥

अर्थात्—जिन प्रतिमा वदनके समय चैत्यभक्ति और पचगुरुभक्ति करनी चाहिये।

आचार्यवंदनविधि

लघ्व्या सिद्धगणिस्तुत्या गणी वंद्यो गवासनात्।
सैद्धान्तोऽन्त श्रुतस्तुत्या तथान्यस्तन्नुतिं विना ॥ १० ॥

अर्थ—आचार्यकी वदना करते समय मुनियोको गवासनसे बैठकर लघुसिद्ध भक्ति और लघुआचार्यभक्ति पढ़कर वंदना करनी चाहिये। यदि आचार्य सिद्धातशास्त्रके जानकार हों तो उनकी वदना करनेके पहले लघुसिद्धभक्ति, लघु श्रुतभक्ति और लघु आचार्य भक्ति पढ़नी चाहिये। आचार्यको छोड़कर अन्य मुनियोकी वदना करते समय मुनियोको लघुसिद्धभक्ति पढकर वंदना करनी चाहिये। यदि वे मुनि सिद्धातके जानकार हो तो सिद्धभक्ति और लघुश्रुतभक्ति दोनों पढ़कर वदना करनी चाहिये।

स्वाध्याय करते समय कौनसी भक्ति करनी चाहिये।

स्वाध्याय लघूभक्त्या नं श्रुतसूर्योरहर्निशे।
पूर्वेऽपरेऽपि चाराध्य श्रुतस्यैव क्षमापयेत् ॥ ११ ॥

अर्थ—लघुश्रुतभक्ति और लघुआचार्यभक्ति पढ़कर स्वाध्यायका प्रारंभ करना चाहिये और लघुश्रुतभक्ति पढ़कर स्वाध्यायको समाप्त करना चाहिये।

आगे—प्रात्याख्यान व उपवास ग्रहण करते समय अथवा छोडते समय कौनसी भक्ति पढ़नी चाहिये इसी बातको ग्रन्थकार कहते हैं।

हेयं लघ्व्या सिद्धभक्त्याशनादौ।
प्रत्याख्यानाद्याशु चादेयमन्ते ॥

सूरौ तादृग्योगिभक्त्यग्रया तद्
ग्राह्य वन्द्यः सूरिभक्त्या स लघ्व्या ॥ १२ ॥

अर्थ—यदि पहले दिन उपवास अथवा प्रत्याख्यान ग्रहण किया हो जो दूसरे दिन आहारके समय लघुसिद्धभक्ति पढकर उसका त्याग करना चाहिये। आहार समाप्त होनेपर लघुसिद्ध भक्ति पढ़कर दूसरे अगले दिनके लिये प्रत्याख्यान अथवा उपवास ग्रहण करना चाहिये। यह विधि आचार्यके समीप न रहनेपर आहारके आदि व अन्तमें करनी चाहिये। यदि आचार्य समीप ही हों तो आहार के लिये जानेके पहले आचार्यके समीप लघु योगिभक्ति और लघुसिद्धभक्ति पढ कर प्रत्याख्यान व उपवास का त्याग करना चाहिये। तथा आहारग्रहणकर आने के वाद आचार्यके समीप लघुयोगिभक्ति और लघुसिद्धभक्ति पढकर प्रत्याख्यान अथवा उपवासकी प्रतिज्ञा करनी चाहिये। तथा लघुआचार्यभक्ति पढकर उसी समय आचार्यकी वंदना करनी चाहिये,।

चतुर्दशीके दिन कौनसी भक्ति करनी चाहिए।

त्रिसमयवन्दने भक्तिद्वयमध्येश्रुतनुतिं चतुर्दश्याम्।
प्राहुस्तद्भक्तित्रयं मुखान्तयोः केपि सिद्धशांतिनुती ॥ १३ ॥

अर्थ—चतुर्दशीके दिन त्रिकाल देववंदना करते समय चैत्य भक्ति. श्रुतभक्ति और पंचगुरुभक्ति ये तीन भक्तियां पढ़नी चाहिये तथा किन्हीं आचार्यका यह मत है कि त्रिकालवंदना करते समय चतुर्दशीके दिन सिद्धभक्ति, चैत्यभक्ति, श्रुतभक्ति, पंचगुरुभक्ति और शांतिभक्ति पढ़नी चाहिये। सो ही लिखा है—

सिद्ध चैत्ये श्रुते भक्तिस्तथा पंचगुरु स्तुतिः।
शांतिभक्तिस्तथा कार्या चतुर्दश्यामिति क्रिया।

अर्थ—चतुर्दशीके दिन देववंदनाके तीनों समय सिद्धभक्ति चैत्यभक्ति, श्रुतभक्ति पंचगुरुभक्ति और शांतिभक्ति पढनी चाहिये।

यदि किसी कार्यविशेषसे चतुर्दशीके दिन यह क्रिया न हो सके तो पौर्णमासीके दिन अथवा अमावस्या के दिन यह क्रिया कर लेनी चाहिये। इसके लिये नीचे लिखे वचन हैं।

चतुर्दशीदिनेधर्म व्यासंगादिना क्रियां कर्तुं ।
न लभ्येत चेत् पाक्षिकेऽष्टम्यां क्रिया ॥

अर्थ---धर्म कार्यकी अधिकता होनेसे यदि चतुर्दशीके दिन चतुर्दशीकी क्रिया न होसके तो फिर पौर्णमासी वा अमावास्याके दिन यह क्रिया कर लेनी चाहिये । सिद्धभक्ति तथा चारित्रभक्ति और शातिभक्ति पढ़कर अष्टमीकी क्रिया की जाती है इसमें पाक्षिकी क्रियासे श्रुतभक्ति अधिक है ।

अष्टान्हिक पर्वके समय कौनसी भक्ति करनी चाहिये।

कुर्वन्तु सिद्धनंदीश्वरगुरुशातिस्तवैः क्रियामष्टौ ।
शुच्यूर्जतपस्यसिताष्टम्यादिदिनानि मध्यान्हे ॥ १४ ॥

अर्थ---आषाढ़, कातिक और फाल्गुन महीनेकी शुक्लपक्षकी अष्टमीसे लेकर पौर्णमासी पर्यंत आठदिन तक नदीश्वरपर्व कहलाता है । उससमय सिद्धभक्ति, नदीश्वरभक्ति तथापचगुरुभक्ति करनी चाहिये । और सब सघको मिलकर करनी चाहिये ।

सिद्धप्रतिमा तीर्थकरजन्म व अपूर्व जिन प्रतिमादर्शन के समय कौनसी भक्ति करनी चाहिये ।

सिद्धभक्त्यैकया सिद्धप्रतिमाया क्रिया मता ।
तीर्थकृज्जन्मनि जिनप्रतिमायां च पाक्षिकी ॥ १५ ॥

अर्थ---सिद्ध प्रतिमाके सामने एक सिद्धभक्ति ही पढ़नी चाहिये । तीर्थंकरके जन्मके दिन तथा जिनप्रतिमाके सामने चैत्यभक्ति, श्रुतभक्ति और पचगुरु भक्तिया पढनी चाहिये, अर्थात् चतुदशीके दिन जो भक्तिया पढ़ी जाती हैं वे ही भक्ति तीर्थकरके जन्मदिन और जिनप्रतिमाके सामने पढनी चाहिये ।

अपूर्व चैत्य वन्दना और नित्यवन्दनाका संयोग यदि अष्टमी वा चतुर्दशीके दिन हुआ तो कौनसी भक्ति पढ़नी चाहिये ।

दर्शनपूजात्रिसमयवन्दनयोगोऽष्टमीक्रियादिषु चेत्
प्राक्तर्हि शान्तिभक्तेः प्रयोजयेच्चैत्यपंचगुरुभक्त्या ॥ १६ ॥

अर्थ—यदि अष्टमी चतुर्दशीकी क्रिया के समय अपूर्व चैत्य वंदना व त्रिकाल नित्य वंदनाका सयोग आया हो तो पहले चैत्यभक्ति और गुरुभक्ति करनी चाहिये और फिर अतमें शातिभक्ति करनी चाहिये।

अभिषेक वन्दनाकी क्रियामें अनुक्रमसे कौन कौनसी भक्ति करनी चाहिये।

अभिषेकवंदनायाः सिद्धचैत्यपंचगुरुशांतिभक्तयः।

अर्थ—अभिषेक वदनाकी क्रियामें सिद्धभक्ति, चैत्यभक्ति पचगुरुभक्ति और शातिभक्ति पढनी चाहिये।

स्थिरजिनबिंबप्रतिष्ठा व चलबिंबप्रतिष्ठामें इन दोनों बिंबोंके चतुर्थ महाभिषेककी क्रियामें कौनसी भक्ति पढनी चाहिये।

स्यात्सिद्धशांतिभक्तिः स्थिरचलजिनबिंबयोः प्रतिष्ठायां
अभिषेकवंदनाचलतुर्यस्थानेऽस्तु पाक्षिकी त्वपरे॥

अर्थ-स्थिर बिंब प्रतिष्ठा तथा चलबिंब प्रतिष्ठाकी क्रियाओंमें सिद्धभक्ति और शातिभक्ति पढनी चाहिये। चल जिन बिंबके चौथे दिनकी अभिषेक क्रियामें सिद्धभक्ति चैत्यभक्ति पच महागुरुभक्ति और शातिभक्ति पढनी चाहिये।

स्थिर जिनबिंब प्रतिष्ठाके चौथे दिनकी अभिषेककी क्रियामें सिद्धभक्ति चारित्रभक्ति बडी आलोचना और शातिभक्ति पढनी चाहिये।

पंचकल्याणककी क्रियाओंमें कौनसी भक्तियां करनी चाहिये।

आद्यंतसिद्धशांतिस्तुतिजिनगर्भजनुषो स्तुयाद्वृत्तम्।
निष्क्रमणे योग्यन्तं विदि श्रुताद्यपि शिवे शिवान्तमपि॥

अर्थ—तीर्थंकरोंके गर्भकल्याणक तथा जन्मकल्याणककी क्रियाओंके समयमें सिद्धभक्ति, चारित्रभक्ति और शातिभक्ति पढनी चाहिये। दीक्षा कल्याणक के समय सिद्धभक्ति, चारित्रभक्ति, योगिभक्ति और शांतिभक्ति पढनी चाहिये।

ज्ञानकल्याणककी क्रियाओमें सिद्धभक्ति, श्रुतभक्ति, चारित्रभक्ति, योगिभक्ति और शातिभक्ति, पढ़नी चाहिये। निर्वाणकल्याणककी क्रियाओंके समय सिद्ध-भक्ति, श्रुतभक्ति, चारित्रभक्ति, योगिभक्ति, निर्वाणभक्ति, और शातिभक्ति पढ़नी चाहिये।

श्री महावीर निर्वाणके दिन कौनसी भक्ति पढ़नी चाहिये।

योगान्तेऽर्कोदये सिद्ध निर्वाण गुरशान्तयः।
प्रणुत्या वीरनिर्वाणे कृत्यातो नित्यवन्दना।

वर्षायोग समाप्त कर श्रीवर्द्धमान स्वामीके निर्वाणके दिन सूर्योदयके समय सिद्धभक्ति, निर्वाणभक्ति, पंचगुरुभक्ति और शाति भक्ति पढ़नी चाहिये। तदनतर नमस्कार कर नित्यवदना करनी चाहिये। (यह क्रिया मुनि और श्रावक दोनों को करनी चाहिये)

मुनि और श्रावकोंको श्रुतपचमीकी क्रिया करते समय कौनसी भक्ति पढ़नी चाहिये।

बृहत्या श्रुतपंचम्यां भक्त्या सिद्धश्रुतार्थया।
श्रुतस्कन्धं प्रतिष्ठाप्य ग्रहीत्वा वाचतां बृहत्॥
क्षम्यो गृहीत्वा स्वाध्यायः कृत्या शांतिनुतिस्ततः।
यमिनां गृहिणां सिद्धश्रुतशांतिस्तया पुनः॥

श्रुतपचमीके दिन बडी सिद्धभक्ति, बड़ी श्रुतभक्ति करनी चाहिये। फिर श्रुतस्कन्ध की स्थापना करनी चाहिये। तदनन्तर बृहत् वाचना स्वीकार करनी चाहिये अर्थात श्रुतावतार का वर्णन करना चाहिये। बडी श्रुतभक्ति और आचार्य भक्ति पढ़कर स्वाध्याय करना चाहिये फिर श्रुतभक्ति पढ़कर स्वाध्याय पूर्ण करना चाहिये फिर अन्तमें शातिभक्ति पढ़कर श्रुतपचमीकी क्रिया पूर्ण करनी चाहिये यह श्रुतपचमीकी क्रिया ज्येष्ठ शुक्ला ५ पचमीके दिन मुनि और श्रावक दोनोंको करनी चाहिये। श्रावकोंको इस क्रियाके करते समय सिद्धभक्ति, श्रतभक्ति और शांति भक्ति करनी चाहिये।

सिद्धांतवाचनाग्रहणे सिद्धश्रुतभक्ती कृत्वा तदनु श्रुताचार्यभक्ती

सिद्धांत वाचनेकी क्रियामें कौनसी भक्ति पढ़नी चाहिये ।

सिद्धांतवाचनाग्रहणे सिद्धश्रुतभक्ती कृत्वा तदनु श्रुताचार्यभक्ती कृत्वा गृहीतस्वाध्यायः तन्निष्ठापने श्रुतशान्तिभक्ती करोतु । सिद्धान्तस्यार्थाधिकाराणां समाप्तावेकैकं कायोत्सर्गं कुर्यात् । अर्थाधिकाराणां सुबहुमान्यत्वात् तेषामादौ सिद्धश्रुतसूरिभक्तीः कृत्वा समाप्तावप्येतेन क्रमेण प्रवर्तिते सति षट्कायोत्सर्गाः भवन्ति ॥

अर्थ—सिद्धात वाचनाकी क्रियाको करते समय सबसे पहले सिद्धभक्ति और श्रुतभक्ति पढनी चाहिये । तदनतर श्रुतभक्ति और आचार्य भक्ति पढ़नी चाहिये । फिर स्वाध्याय करनेवाले मुनियों को सिद्धातके वाचनेका प्रारंभ करना चाहिये । तथा सिद्धात वाचनेके समाप्त हो जानेपर श्रुतभक्ति और शातिभक्ति पढनी चाहिये ।

सिद्धातोंमें जो अर्थाधिकार हैं वे अत्यन्त मान्य हैं इसलिये उनके प्रारंभमें सिद्धभक्ति, श्रुतभक्ति और आचार्यभक्ति करनी चाहिये तथा उन अर्थाधिकारों के समाप्त होने पर भी सिद्धभक्ति, श्रुतभक्ति और आचार्यभक्ति करनी चाहिये। तथा छह कायोत्सर्ग करने चाहिये ।

सन्यास मरणकी क्रियामें कौनसी भक्ति पढ़नी चाहिये

संन्यासस्य क्रियादौ सा शांतिभक्त्या विना सह ॥
अन्तेऽन्यदा बृहद्भक्त्या स्वाध्यायस्थापनोज्झने ॥
योगेपि ज्ञेयं तत्रात्तस्वाध्यायैः प्रतिचारकैः ॥
स्वाध्यायाग्राहिणां प्राग्वत् तदाद्यन्तदिने क्रिया ॥

अर्थ—श्रुतपचमी क्रियामें जो विधि कही है उसमेंसे शातिभक्तिको छोड़ कर शेष विधि सन्यासक्रियामें करनी चाहिये । जैसे श्रुतपचमीक्रियामें श्रुतपंचमी की स्थापना की जाती है उसी प्रकार सन्यासकी स्थापना करना चाहिये । सन्यासकी स्थापनाके प्रारंभमें सिद्धभक्ति और श्रुतभक्ति पढनी चाहिये । सन्यास धारण करनेवाले मुनिके स्वर्गवास होनेपर शातिभक्ति पढनी चाहिये । जिस

दिन सन्यासकी स्थापना की जाती है। उसके दूसरे दिन स्वाध्याय की स्थापना करनी चाहिये। स्वाध्यायकी स्थापना करते समय बड़ी श्रुतभक्ति और आचार्य-भक्ति पढ़नी चाहिये। इस प्रकार स्वाध्यायकी स्थापना करनी चाहिये। जिस दिन सन्यास धारण करनेवाले मुनिके स्वर्गवासकी संभावना हो उससे एक दिन पहले स्वाध्यायकी समाप्ति बड़ी श्रुतभक्ति पढ़कर करनी चाहिये। जिसने सन्यास धारण करनेवाले मुनिके समीप स्वाध्याय प्रारभ किया हो और उसने यदि दूसरे स्थानपर रात्रियोग अथवा वर्षायोग ग्रहण कर लिया हो तो भी उसको सन्यास-धारण करनेवाले मुनिकी वसतिकामें ही सोना चाहिये। गृहस्थोको सन्यासके आरंभके दिन तथा समाप्तिके दिन सिद्धभक्ति, श्रुतभक्ति तथा शातिभक्ति पढ़नी चाहिये।

वर्षायोगके ग्रहण करते समय तथा छोड़ते समय कौनसी भक्ति करनी चाहिये।

ततश्चतुर्दशीपूर्वरात्रे सिद्धमुनिस्तुती।
चतुर्दिक्षु परीत्याल्पाश्चैत्यभक्तिगुरुस्तुतिम्॥
शांतिभक्ति च कुर्वाणैर्वर्षायोगस्तु गृह्यताम्॥
ऊर्जकृष्णचतुर्दश्यां पश्चाद्रात्रौ च मुच्यताम्॥

अर्थ--आचार्य आदि मुनिराजोंको वर्षायोग धारण करना चाहिये। उसकी विधि इस प्रकार है। आषाढ शुक्ला चतुर्दशीकी रात्रिके पहले पहरमें लघु-सिद्धभक्ति, लघुयोगिभक्ति और लघुचैत्यभक्ति पढनी चाहिये। चारों दिशाओंकी प्रदक्षिणा देनी चाहिये तथा योग तन्दुलक्षेपण करने चाहिये। चारों दिशाओंकी प्रदक्षिणा देनेका अर्थ यह है कि एक स्थानपर खडे होकर "मै प्रदक्षिणा करता हूं" ऐसी कल्पना करनी चाहिंये। पहले पूर्वदिशा की प्रदक्षिणा देनी चाहिये और उस समय 'यावति जिन चैत्यानि' इत्यादि श्लोक पढ़कर स्वयभू स्तोत्रके पहली दो स्तुतिया पढनी चाहिये। अचलिकासहित चैत्यभक्ति पढनी चाहिये और इसी प्रकार शेष तीनो दिशाओंमें भी प्रदक्षिणा देनी चाहिये तथा उस समय आगेके दो दो तीर्थंकरोंकी स्तुतिया पढ़नी चाहिये। तदनंतर पंचगुरुभक्ति व

श'ति .क्ति पढकर वर्षायोग स्वीकार करना चाहिये। यह ग्रहण करने की विधि है। कार्तिक कृष्णा चतुर्दशी के दिन ऊपर लिखी पूर्ण विधि करके वर्षायोगकी समाप्ति करनी चाहिये।

आचार्यपद ग्रहण करते समय कौनसी भक्ति करनी चाहिये।

सिद्धाचार्यस्तुती कृत्वा सुलग्ने गुर्वनुज्ञया ॥
लात्याचार्यपदं शांतिस्तुयात्साधुः स्फुरद्गुणः ॥

अर्थ—जो अपने उत्तम गुणोंसे समस्त संघको मान्य होता है जिसमें छत्तीस गुण देदीप्यमान होते हैं वही श्रेष्ठ मुनि आचार्य पद ग्रहण करने योग्य होता है। जिस समय उस श्रेष्ठ मुनिको आचार्य पद दिया जाता है उस समय पहलेके आचार्य समस्त मुनि संघके सामने उस श्रेष्ठ मुनिको आचार्य पदको सूचित करनेवाली एक पीछी देते हैं और कहते हैं कि आजसे तू रहस्य शास्त्रों के (प्रायश्चित्त आदि शास्त्रों के) अध्ययन करने तथा दीक्षा देने आदि आचार्योंके करने योग्य कार्योंके योग्य होगया है। उस समय आचार्यपद ग्रहण करनेके लिये तैयार हुये इस मुनिको शुभलग्नमें सबसे पहले सिद्धभक्ति और आचार्यभक्ति पढकर आचार्यपद ग्रहण करना चाहिये और फिर शांतिभक्ति पढनी चाहिये।

प्रतिमायोग धारण करनेवाले मुनिको वंदना करते समय कौनसी भक्ति पढ़नी चाहिये।

लघीयसोऽपि प्रतिमायोगिनो योगिनः क्रियाम् ॥
कुर्युः सर्वेऽपि सिद्धर्षिशांतिभक्तिभिरादरात् ॥

अर्थ—जिसको दीक्षा लेकर बहुत दिन नहीं हुये हैं अर्थात् जो थोडे दिनका ही दीक्षित है ऐसा मुनि भी यदि प्रतिमायोग धारण करे तो समस्त मुनियोंको आदरपूर्वक उसके सामने सिद्ध भक्ति ऋषिभक्ति पढनी चाहिये। इसप्रकार उनकी वंदना करनी चाहिये।

दीक्षा ग्रहण करते समय जो लोच किया जाता है उस समय की विधिमें कौनसी भक्ति करनी चाहिये।

सिद्धयोगिबृहद्भक्तिपूर्वकं लिङ्गमर्प्यताम् ।
लुञ्चाख्यानाग्न्यपिच्छात्मक्षम्यतां सिद्धभक्तितः ॥

अर्थ—-दीक्षाग्रहण करनेके समय बड़ी सिद्धभक्ति और योगिभक्ति पढ़कर दीक्षा ग्रहण करनी चाहिये। केश लोच करना, दीक्षाका नाम धारण करना, नग्नावस्था धारण करना और पीछी धारण करना आदि कार्योंको दीक्षा कहते हैं। दीक्षा ग्रहण करनेके अनन्तर सिद्धभक्ति पढ़नी चाहिये।

दीक्षाके सिवाय अन्य समयमें लोच करते समय कौनसी भक्ति पढ़नी चाहिये।

लोचो द्वित्रिचतुर्मासैर्वरो मध्योऽधमः क्रमात् ।
लघुप्राग्भक्तिभिः कार्यः सोपवासप्रतिक्रमः ॥

अर्थ— दो महीना बाद लोच करना उत्तम है तीन महीना बाद करना मध्यम है और चार महीना बाद करना जघन्य है। लोच करते समय लघुसिद्धभक्ति और लघुयोगिभक्ति पढ़नी चाहिये। लोच समाप्त होने पर लघुसिद्धभक्ति पढ़नी चाहिये। लोचके दिन उपवास और प्रतिक्रमण करना चाहिये।

आगे प्रतिक्रमण रात्रियोग धारण करने व छोड़ने में कौनसी भक्ति पढ़नी चाहिये।

भक्त्या सिद्धप्रतिक्रांतिवीरद्विर्द्वादशार्हताम् ।
प्रतिक्रामेन्मलं योगं योगिभक्त्या भजेत् त्यजेत् ॥

अर्थ—-प्रतिक्रमणकी विधि करते समय सिद्धभक्ति, प्रतिक्रमण भक्ति वीरभक्ति, चतुर्विंशतितीर्थङ्करभक्ति पढकर अतीचारोंकी शुद्धि करनी चाहिये। योगिभक्ति पढ़कर रात्रियोग धारण करना चाहिये। तथा योगिभक्ति पढ़कर ही रात्रियोगका त्याग करना चाहिये।

आगे देववंदना करते समय कोई दोष उत्पन्न हुये हो अथवा रागादिक दोष उत्पन्न हुये हों तो उनको दूर करनेके लिये समाधिभक्ति करनी चाहिये। लिखा भी है:

ऊनाधिक्यविशुद्ध्यर्थं सर्वत्र प्रियभक्तिकाः ॥

अर्थ—इन समस्त क्रियाओंमें यदि न्यूनाधिकता हुई हो तो उसके दोषको दूर करनेके लिये समाधिभक्ति पढ़नी चाहिये।

जिसने समाधिमरणधारण किया है उस मुनिके शरीरकी तथा उसके निषधिकास्थानकी क्रिया करते समय कौनसी भक्ति पढ़नी चाहिये सो दिखलाते हैं।

सामान्यर्षौ मृते शरीरस्य निषद्यकास्थानस्य वा सिद्धयोगिशांतिभक्तयः। सिद्धांतवेदिनां साधूनां सिद्धश्रुतयोगशांतिभक्तयः। उत्तरयोगिनां सिद्धचारित्रयोगिशांतिभक्तयः। सैद्धान्तोत्तरयोगिनां सिद्धचारित्रयोगशांतिभक्तयः। आचार्यस्य सिद्धयोगाचार्यशांतिभक्तयः। सैद्धांताचार्यस्य सिद्धश्रुतयोगाचार्यशांतिभक्तयः। उत्तरयोगिनामाचार्याणां सिद्धचारित्रयोगाचार्यशांतिभक्तयः। उत्तरयोगिनः सैद्धांताचार्यस्य सिद्धश्रुतयोगाचार्यशांतिभक्तयः। अनंतरोक्ता अष्टौ क्रियाः शरीरस्य निषद्यास्थानस्य च ॥

अर्थ—सामान्य ऋषिके स्वर्गवास होनेपर उनके शरीरकी तथा निषद्यास्थानकी क्रिया करते समय सिद्धभक्ति, योगिभक्ति और शांतिभक्ति पढ़नी चाहिये। यदि सिद्धांतके जानकार साधुका स्वर्गवास हो तो सिद्धभक्ति, श्रुतभक्ति, योगिभक्ति, शांतिभक्ति पढ़नी चाहिये। यदि उत्तरगुणोंको धारण करने वाले साधुका स्वर्गवास हुआ हो तो उनके शरीर वा निषद्यास्थानकी क्रिया करते समय सिद्धभक्ति, चारित्रभक्ति, योगिभक्ति, शांतिभक्ति पढ़नी चाहिये। यदि उत्तरगुणोंको पालन करनेवाले मुनि सिद्धांतके भी जानकार हों तो उनके स्वर्गवास होनेपर उनके शरीर और निषद्यका स्थानकी क्रिया करते समय सिद्धभक्ति, चारित्रभक्ति योगिभक्ति, शांतिभक्ति पढ़नी चाहिये। आचार्यके स्वर्गवास होनेपर सिद्धभक्ति, आचार्य शांतिभक्ति पढ़नी चाहिये। यदि आचार्य सिद्धांत के जानकार हों तो उनके स्वर्गवास होनेपर उनके शरीर निषद्यास्थानकी क्रिया करते समय सिद्धभक्ति, श्रुतभक्ति, योगिभक्ति, आचार्यभक्ति और शांतिभक्ति पढ़नी चाहिये। यदि आचार्य

उत्तर गुणोंको पालन करनेवाले हों तो उनके स्वर्गवास होनेपर उनके शरीर और निषद्यास्थानकी क्रिया करते समय सिद्धभक्ति चारित्रभक्ति आचार्यभक्ति और शांतिभक्ति पढ़नी चाहिये। यदि आचार्य उत्तर गुणोंके पालन करनेवाले हो और सिद्धांतके भी जानकार हो तो उनके स्वर्गवास होनेपर उनके शरीर और निषद्या स्थानकी क्रिया करते समय सिद्धभक्ति श्रुतभक्ति योगिभक्ति आचार्यभक्ति शांतिभक्ति पढ़नी चाहिये।

ये आठ क्रियाएं उनको शरीर और निषद्यास्थानकी होती है।

आगे पाक्षिक वा चातुर्मासिक आदि प्रतिक्रमणमें कौनसी भक्ति पढ़नी चाहिये सो दिखलाते हैं।

पाक्षिकचातुर्मासिकसांवत्सरिकप्रतिक्रमणे सिद्धचारित्रप्रतिक्रमणानिष्ठितकरणचतुर्विंशतितीर्थंकरभक्तिचारित्रालोचनागुरुभक्तयो बृहदालोचन गुरुभक्तिर्लघीयस्याचार्यभक्तिश्च करणीयाः ॥

अर्थ—पाक्षिक चतुर्मासिक और वार्षिक प्रतिक्रमणमें सिद्धभक्ति तथा प्रतिक्रमण वीरभक्ति चतुर्विंशति तीर्थङ्करभक्ति चारित्रालोचना श्रुतभक्ति गुरुभक्तिबृहत्आलोचना गुरुभक्ति और लघुआचार्यभक्ति पढ़नी चाहिये।

कौन कौनसी भक्ति कहां कहां करनी चाहिये इसका स्पष्ट विवरण

कार्य	भक्ति
जिनप्रतिमावंदन आचार्यवंदना (गवासनसे	चैत्यभक्तिपंचगुरुभक्ति लघुसिद्धभक्ति लघु-आचार्यभक्ति
सिद्धांतवेत्ता आचार्यकी वंदना—	सिद्धभक्ति, श्रुतभक्ति, आचार्यभक्ति
साधारण मुनियोंकी वंदना—	सिद्धभक्ति
सिद्धांतवेत्ता मुनियोंकी वंदना—	सिद्धभक्ति, श्रुतभक्ति

स्वाध्यायका प्रारंभ—	लघुश्रुतभक्ति आचार्यभक्ति
स्वाध्यायकी समाप्ति—	लघुश्रुतभक्ति
आचार्यकी अनुपस्थितिमें पहले दिन उपवास वा प्रत्याख्यान ग्रहण किया हो तो दूसरे दिन आहारके समय	सिद्धभक्ति पढ़कर उसका त्याग वा आहार के लिये गमन
आहारकी समाप्तिपर अगले दिनके उपवास वा प्रत्याख्यान का ग्रहण करनेमें	सिद्धभक्ति ।
आचार्यकी उपस्थितिमें आहार के लिये जानेके पहले	लघुयोगिभक्ति, लघुसिद्धभक्ति
आहारके अनंतर प्रत्याख्यान वा उपवासकी प्रतिज्ञाके लिये	लघुयोगिभक्ति लघुसिद्धभक्ति
आचार्य वंदना	लघुआचार्यभक्ति
चतुर्दशीके दिन त्रिकाल वंदनाके लिये	चैत्यभक्ति, श्रुतभक्ति, पंचगुरुभक्ति । अथवा सिद्धभक्ति, चैत्यभक्ति, श्रुतभक्ति, पंचगुरुभक्ति, शांतिभक्ति
नंदीश्वर पर्वमें	सिद्धभक्ति नंदीश्वरभक्ति पंचगुरुभक्ति शांतिभक्ति ।
सिद्धप्रतिमाके सामने	सिद्धभक्ति
तीर्थङ्करके जन्म दिन	चैत्यभक्ति, श्रुतभक्ति पंचगुरुभक्ति अथवा सिद्धभक्ति, चैत्यभक्ति श्रुतभक्ति पंचगुरुभक्ति, शांतिभक्ति
अष्टमी चतुर्दशीकी क्रियामें अपूर्व चैत्यवंदना वा त्रिकाल नित्यवंदना के समय	चैत्यभक्ति पंचगुरुभक्ति, शांति भक्ति ।

यदि चतुर्दशकी क्रिया चतुर्दशीके दिन न हो सके तो पूर्णिमा वा अमावास्याके दिन अष्टमीकी क्रिया करे अर्थात् सिद्ध, श्रुत, चारित्र और शांतिभक्ति पढ़े ।

अभिषेक वंदना–	सिद्धभक्ति, चैत्यभक्ति पचगुरुभक्ति शातिभक्ति.
स्थिरबिंबप्रतिष्ठा––	सिद्धभक्ति, शातिभक्ति
चलबिंबप्रतिष्ठा––	सिद्धभक्ति, शातिभक्ति
चल बिंबप्रतिष्ठाके चतुर्थ अभिषेकमें	सिद्धभक्ति चैत्यभक्ति पंचमहागुरुभक्ति शातिभक्ति।
तीर्थङ्करोंके गर्भजन्मकल्याणकमें–	सिद्धभक्ति, चारित्रभक्ति, शातिभक्ति
दीक्षाकल्याणक –	सिद्धभक्ति, चारित्रभक्ति, योगिभक्ति, शातिभक्ति।
ज्ञानकल्याणक––	सिद्ध श्रुत, चारित्रयोगि शातिभक्ति।
निर्वाणकल्याणक–––	सिद्ध, श्रुत, चारित्र, योगि, निर्वाण और शातिभक्ति
वीरनिर्वाण–सूर्योदयके समय–––	सिद्धभक्ति निर्वाण पचगुरु शातिभक्ति।
श्रुतपंचमी –	बृहत्सिद्धभक्ति, बृहत्श्रुतभक्ति, श्रुत-स्कंधकी स्थापना, बृहत्वाचना बृहत श्रुत भक्ति, आचार्यभक्तिपूर्वक स्वाध्याय, श्रुत-भक्ति द्वारा स्वाध्यायकी पूर्णता अंतमें शांतिभक्ति कर क्रियाकी पूर्णता।
श्रुतपंचमीके दिन गृहस्थोंको–	सिद्धश्रुतशातिभक्ति।
सिद्धांत वाचना	सिद्धश्रुभक्ति द्वारा प्रारंभ श्रुतभक्ति आचार्यभक्ति कर वाचना अतमें श्रुत और शातिभक्ति।
गृहस्थोंको सन्यासके प्रारंभमें–	सिद्ध श्रुत, शातिभक्ति
गृहस्थोंको सन्यासके अंतमें	सिद्ध, श्रुत, शांति।
वर्षायोगधारण करते समय–	सिद्ध, योगि, चैत्यभक्ति।
वर्षायोग धारणकी प्रदक्षिणामें–	यावति जिनचैत्यानि, स्वयंभूस्तोत्रकी स्तुति चैत्यभक्ति।

वर्षायोग स्वीकार करते समय—	गुरुभक्ति शातिभक्ति
वर्षायोगकी समाप्तिमें—	वर्षायागधारण करनेकी पूर्णविधि
आचार्यपद ग्रहण करते समय—	सिद्ध. आचार्य, शातेभक्ति ।
प्रतिमायोग धारण करनेवाले मुनि की वंदना कग्ते समय	सिद्ध, य.गे, शातिभक्ति
दीक्षा ग्रहण करते समय—	वृहत्सिद्धभक्ति, योगिभक्ति
दीक्षाके अन्तमें——	सिद्धभक्ति ।
केशलोंच करते समय——	लघुसिद्धभक्ति, लघुयोगिभक्ति
लोचके अंतमें—	सिद्धभक्ति ।
प्रतिक्रमणमें——	सिद्ध, प्रतिक्रमण, वीरभक्ति, चतुर्विंशतितीर्थंकरभक्ति ।
रात्रियोग धारण——	योगिभक्ति ।
रात्रियोगका त्याग——	योगिभक्ति ।
देववंदनामें दोष लगनेपर——	समाधिभक्ति ।
सामान्य ऋषिके स्वर्गवास होनेपर उनके शरीर और निषद्याकी क्रियामें	सिद्ध, योगि, शातिभक्ति
सिद्धांतवेत्ता साधुके स्वर्गवासमें	सिद्ध, श्रुत, योगि, शातिभक्ति
उत्तरगुणधारी सिद्धांतवेत्ता साधुके स्वर्गवासपर	सिद्ध, चारित्र, योगि, शातिभक्ति
आचार्यके स्वर्गवास होनेपर	सिद्ध, श्रुतचारित्रयोगिशातिभक्ति
सिद्धांतवेत्ता आचार्यके स्वर्गवास पर	सिद्धयोगि, आचार्य, शातिभक्ति ।
उत्तरगुणधारी आचार्यके स्वर्गवासपर	सिद्धश्रुतयोगिआचार्य शातिभक्ति ।
उत्तरगुणधारी सिद्धांतवेत्ता आचार्यके स्वर्गवास पर	सिद्धचारित्रयोगि आचार्यशातिभक्ति । सिद्ध, श्रुत, योगि, आचार्य, शातिभक्ति ।
पाक्षिक प्रतिक्रमणमें—	सिद्ध, चारित्र, प्रतिक्रमण वीरभक्तिचतुर्विंशतिभक्ति, चारित्रालोचना गुरुभक्ति वृहदालोचना गुरुभक्ति लघुआचार्यभक्ति
चतुर्मासिक प्रतिक्रमणमें	”
वार्षिक प्रतिक्रमणमें	”

श्रीपूज्यपादाद्याचार्यविरचितः—

श्रीदशभक्त्यादिसंग्रहः

अथ ईर्यापथशुद्धिः।

(स्रग्धरा)

निःसंगोऽहं जिनानां सदनमनुपमं त्रिःपरीत्येत्य भक्त्या,
स्थित्वा गत्वा निषद्योच्चरणपरिणतोऽन्तः शनैर्हस्तयुग्मम् ।
भाले संस्थाप्य बुद्ध्या मम दुरितहरं कीर्तये शक्रवन्द्यं,
निन्दादूरं सदाप्तं क्षयरहितममुं ज्ञानभानुं जिनेन्द्रम् ॥ १ ॥

अन्वयार्थ— (निःसङ्गोऽहं) सर्वप्रकार के परिग्रह अथवा विकल्पों से रहित होकर मैं (अनुपम) अपरिमित माहात्म्यवाले (जिनाना) जिनेन्द्रभगवानके (सदनं) चैत्यालय (जिनालय, मंदिर) में (गत्वा) जाकर, (भक्त्या) भक्तिपूर्वक (त्रिःपरीत्येत्य) तीन प्रदक्षिणा देकर, तदनंतर (स्थित्वा) थोड़ा खड़ा होकर आगे जाता हूं तत्पश्चात् (निषद्य) बैठकर (शनैः उच्चरणपरिणतोऽन्तः) धीरेधीरे मन में स्तोत्र आदिका उच्चारण करते हुए (हस्तयुग्म) दोनों हाथों को जोड़ कर (भाले संस्थाप्य) मस्तकपर रखकर (मम दुरितहरं) मेरे पापों को नाशकरनेवाले, (शक्रवन्द्य) इन्द्रोंके द्वारा पूज्यनीय, (निन्दादूरं) निन्दादि दोषोसे रहित, (क्षयरहित) अविनश्वर, (ज्ञानभानु) ज्ञान-सूर्य (सदाप्त) सदैव आप्त—देवपने को प्राप्त (अमु जिनेन्द्र) ऐसे जिनेन्द्रदेवकी (बुद्ध्या) मैं अपनी बुद्धि अनुसार (कीर्तये) स्तुति करता हूं ॥ १ ॥

(वसन्ततिलका)

श्रीमत्पवित्रमकलङ्कमनन्तकल्पं,
स्वायंभुवं सकलमङ्गलमादितीर्थम् ॥

नित्योत्सवं मणिमयं निलयं जिनानां,
त्रैलोक्यभूषणमहं शरणं प्रपद्ये ॥ २ ॥

अन्वयार्थ—जो जिनालय (श्रीमत्) अति शोभायुक्त है, (पवित्रं) पवित्र है, (अकलंकं) निर्दोष है, (अनंतकल्प) अनतकल्पकालों से जिसकी परम्परा चली आरही है, (स्वायभुव) जो जिनेन्द्रदेव सम्बंधी है, (सकलमंगलं) जिममें सर्व-प्रकारके मंगल होते रहते हैं, (आदितीर्थं) जो मुख्यतीर्थ है, (नित्योत्सवं) जिसमें निरंतर उत्सव होते हैं, (मणिमय) जो नानाप्रकार की मणियों से बना है, (त्रैलोक्यभूषणम्) तीनों लोकको भूषणरूप है ऐसे (जिनाना निलय) जिनेन्द्रभगवान के चैत्यालय की (अहं) मै (शरण प्रपद्ये) शरण को प्राप्त होता हूं ॥ २ ॥

(अनुष्टुप्)

श्रीमत्परमगम्भीरस्याद्वादामोघलाञ्छनम् ।
जीयात्त्रैलोक्यनाथस्य, शासनं जिनशासनम् ॥ ३ ॥

अन्वयार्थः— (श्रीमत्परमगम्भीरस्याद्वादामोघलाञ्छन) जो अनेक प्रकारकी अन्तरंग और बहिरंग शोभा से सुशोभित है और अत्यंत गम्भीर स्याद्वाद ही जिसका अमोघ (सार्थक) चिह्न है-ऐसा (त्रैलोक्यनाथस्य शासनं) श्री जिनेन्द्रदेव का शासन जो (जिनशासनं) जिनशासन कहलाता है वह (जीयात) स्थिर हो ॥ ३ ॥

श्रीमुखालोकनादेव, श्रीमुखालोकनं भवेत् ।
आलोकनविहीनस्य, तत्सुखावाप्तयः कुतः ॥ ४ ॥

अन्वयार्थः—(श्रीमुखालोकनात् एव) श्री जिनेन्द्रदेव के मुख कमल देखलेने मात्र से ही (श्रीमुखालोकन भवेत्) मुक्तिरूपी लक्ष्मी का मुख दिखाई देता है। (आलोकनविहीनस्य) जो श्रीजिनेन्द्रदेव का दर्शन नहीं करते (तत्सुखावाप्तयः कुत) उन्हें यह सुख कैसे मिल सकता है ? अर्थात् श्रीजिनेन्द्रदेव के ही दर्शन आत्मदर्शन है और जब तक आत्मदर्शन नहीं होता है तबतक आत्मीक सुखकी प्राप्ति कैसे हो सकती है ? ॥ ४ ॥

(वसंततिलका)

अद्याभवत्सफलता नयनद्वयस्य,
देव ! त्वदीयचरणाम्बुजवीक्षणेन ॥
अद्यत्रिलोकतिलक ! प्रतिभासते मे,
संसारवारिधिरयं, चुलुकप्रमाणम् ॥ ५ ॥

अन्वयार्थः– (देव) हे देव ! (त्वदीयचरणाम्बुजवीक्षणेन) आपके चरणकमल देख लेनेसे (अद्य) आज (नयनद्वयस्य) मेरे दोनों नेत्र (सफलता अभवत्) सफल होगये । (त्रिलोकतिलक) हे तीनलोकों के तिलक (शिरोमणि) (अद्य) आज (अयं संसारवारिधि) यह संसार समुद्र (मे) मुझे (चुलुकप्रमाण) चुल्लूभर पानी के समान (प्रतिभासिते) प्रतिभासित होता है जान पडता है ॥ ५ ॥

(अनुष्टुप्)

अद्य मे क्षालितं गात्रं, नेत्रे च विमलेकृते ।
स्नातोऽहं धर्मतीर्थेषु, जिनेंद्र तव दर्शनात् ॥ ६ ॥

अन्वयार्थः— (जिनेन्द्र) हे जिनेन्द्र ! (अद्य) आज (दर्शनात्) आपके दर्शन करने से (मे) मेरा (गात्र) शरीर (क्षालितं) धुलगया है, (च) और (नेत्र) मेरे दोनों नेत्र (विमलीकृते) निर्मल होगये हैं, (अहं) मैंने (धर्मतीर्थेषु) धर्मरूपीतीर्थमें (स्नातः) स्नान कर लिया है ॥ ६ ॥

नमो नमः सत्त्वहितंकराय,
वीराय भव्याम्बुजभास्कराय ॥
अनन्तलोकाय सुरार्चिताय,
देवाधिदेवाय नमो जिनाय ॥ ७ ॥

अन्वयार्थ.– (सत्त्वहितंकराय) सम्पूर्ण जीवोंका हित करनेवाले, (भव्याम्बुजभास्कराय) भव्यरूपी कमलको प्रफुल्लित करनेके लिये सूर्य के समान, (अनन्तलोकाय) सम्पूर्ण चराचरके देखने वाले (सुरार्चिताय) देवोंके द्वारा पूज्य (देवाधिदेवाय) ऐसे देवाधिदेव (वीराय जिनाय) श्री वर्द्धमान जिनेन्द्रदेवके लिये मैं (नमो नम.) वारंवार नमस्कार करता हूं ॥ ७ ॥

नमो जिनाय त्रिदशार्चिताय,
विनष्टदोषाय गुणार्णवाय ॥
विमुक्तिमार्गप्रतिबोधनाय,
देवाधिदेवाय नमो जिनाय ॥ ८ ॥

अन्वयार्थः— (त्रिदशार्चिताय) देवोके द्वारा पूज्य (विनष्टदोषाय) तृषादि अठारह दोषोंसे रहित (गुणार्णवाय) गुणोके समुद्र (विमुक्तिमार्गप्रतिबोधनाय) मुक्तिमार्गका प्रतिबोध करानेवाले ऐसे (देवाधिदेवाय) देवाधिदेव (जिनाय) जिनेन्द्रभगवानके लिये मै (नमः) बारंबार नमस्कार करता हू ॥ ८ ॥

देवाधिदेव ! परमेश्वर ! वीतराग !
सर्वज्ञ ! तीर्थंकर ! सिद्धमहानुभाव !
त्रैलोक्यनाथ ! जिनपुंगव ! वर्द्धमान !
स्वामिन् ! गतोऽस्मि शरणं चरणद्वयं ते ॥ ९ ॥

अन्वयार्थः— (देवाधिदेव) हे देवाधिदेव ! (परमेश्वर) हे परमेश्वर ! (वीतराग) हे वीतराग ! (सर्वज्ञ) हे सर्वज्ञ ! (तीर्थंकर) हे तीर्थङ्कर ! (सिद्ध) हे सिद्ध ! (महानुभाव) हे महानुभाव ! (त्रैलोक्यनाथ) हे त्रैलोक्यनाथ ! (जिनपुगव) हे जिनश्रेष्ठ ! (वर्धमान) हे वर्धमान ! (स्वामिन्) हे स्वामिन् ! मै (ते) आपके (चरणद्वय) दोनो चरणों की (शरणं) शरणको (गतोस्मि) प्राप्त होता हू ॥ ९ ॥

(आर्या)

जितमदहर्षद्वेषा, जितमोहपरिषहाः जितकषायाः ।
जितजन्ममरणरोगा, जितमात्सर्या जयन्तु जिनाः ॥ १० ॥

अन्वयार्थ.— (जितमदहर्षद्वेषा) मद—अभिमान, हर्ष और द्वेषको जीतने वाले, (जितमोहपरिषहाः) मोह और परिषह को जीतनेवाले, (जितकषायाः) सम्पूर्ण कषायोको जीतनेवाले, (जितजन्ममरणरोगाः) जन्म, मरण रूपी रोगको जीतनेवाले, (जितमात्सर्याः) मात्सर्य-ईर्ष्याको जीतनेवाले (जिनाः) जिनेन्द्रदेव 'सदैव' (जयन्तु) जयशील हो ॥ १० ॥

जयतु जिनवर्धमानस्त्रिभुवनहितधर्मचक्रनीरजबंधुः ।
त्रिदशपतिमुकुटभासुरचूड़ामणिरश्मिरंजितारुणचरणः ॥ ११ ॥

अन्वयार्थः— ('यः') जो (त्रिभुवनहितधर्मचक्रनीरजबन्धुः) तीनलोक को हित करनेवाले धर्मचक्ररूपी कमलोके लिये सूर्यके समान हैं और (त्रिदशपतिमुकुटभासुरचूड़ामणिरश्मिरजितारुणचरणः) जिन के अरुण—लाल रंगके चरण इन्द्रोंके मुकुटमें दैदीप्यमान चूड़ामणिरत्नकी किरणोंसे अत्यत सुशोभित हो रहे हैं ऐसे (जिनवर्धमानः) श्रीवर्धमानजिनेन्द्रदेव सर्वदा' (जयतु) जयशीलहों ॥ ११ ॥

जय जय जय त्रैलोक्यकाण्डशोभिशिखामणे,
नुद नुद नुद स्वान्तध्वान्तं जगतकमलार्क नः ॥
नय नय नय स्वामिन् शान्तिं नितान्तमनन्ति मां
नहि नहि नहि त्राता लोकैकमित्र भवत्परः ॥ १२ ॥

अन्वयार्थः— (त्रैलोक्यकाण्डशोभिशिखामणे) हे भगवान् ! आप तीनो लोकोंमें अत्यंत सुशोभित होनेवाले शिखामणिके समान हैं, अतः (जय जय जय) आपकी जय हो, जय हो, जय हो (जगतकमलार्क) आप जगतरूपी कमल को प्रकाशित करनेकेलिये सूर्य समान हैं, अतः (नः) मेरे (हमारे) (स्वान्तध्वान्त) हृदयके मोहान्धकारको (नुद नुद नुद) दूर कीजिये, दूर कीजिये, दूर कीजिये (स्वामिन्) हे स्वामिन ! (नितान्त) अत्यत (अनन्ति) कभी न नाशहोनेवाली (शान्ति) शान्तिको (मा) मुझे (नय नय नय) दीजिये, दीजिये, दीजिये (लोकैकमित्र) हे भव्यजीवोंके अद्वितीय मित्र ! (भवत्परः) आपके सिवाय (त्राता) मेरी रक्षा करनेवाला—संसारके दुःखोंसे बचानेवाला (नहि नहि नहि) अन्य कोई नहीं है, नहीं है, नहीं है ॥ १२ ॥

चित्ते मुखे शिरसि पाणिपयोजयुग्मे,
भक्तिं स्तुतिं विनतिं मञ्जलिमञ्जसैव ॥
चेक्रीयते चरिकरीति चरीकरीति,
यश्चर्करीति तव देव स एव धन्यः ॥ १३ ॥

अन्वयार्थ— (देव) हे देव ! (यः) जो (चित्ते) अपने हृदयमें

(तव भक्तिं) आपकी भक्ति (चेक्रीयते) करता है, (मुखे) मुखसे (स्तुतिं) स्तुति (चरिकरोति) करता है (शिरसि) मस्तकमे (विनतिं) नमस्कार (चरीकरीति) करता है (पाणिपयोजयुग्मे) दोनों हाथरूपी कमलों से (अञ्जसा एव) बारंबार (अञ्जलिं) अजलि (चर्करीति) करता है (स एव धन्य) "हे भगवान्" वह पुरुष अत्यत धन्य समझा जाता है ॥ १३ ॥

(मन्दाक्राता)

जन्मोन्मार्ज्यं भजतु भवतः पादपद्मं न लभ्यं,
तच्चेत्स्वैरं चरतु न च दुर्देवतां सेवतां सः ॥
अश्नात्यन्नं यदिह सुलभं दुर्लभं चेन्मुधास्ते,
क्षुद्व्यावृत्यै कवलयति कः कालकूटं बुभुक्षुः ॥ १४ ॥

अन्वयार्थः—"हे भगवन यदि किसी पुरुषको" (जन्मोन्मार्ज्यं) जन्म मरण दूर करनेवाले (भवतः) आपके (पादपद्मं) चरणकमल (न) न (लभ्य) प्राप्त हुए हों तो (सः) वह (तच्चेत्स्वैरं) अपनी प्रवृत्ति इच्छानुसार (चरतु) करे (च) तथापि वह (दुर्देवता) मिथ्या देवताओंकी सेवतां सेवा (न भजतु) न करे। (यदिह) जो इस संसार में (सुलभं) सुलभतासे प्राप्त (अन्नं) अन्नको (अश्नाति) खाता है तो ठीक है (दुर्लभ चेत्) परंतु यदि अन्नका मिलना कठिन हो-दुर्लभ भी हो तो (क) कौन (बुभुक्षु) भूखा मनुष्य (ते क्षुद्व्यावृत्यै) अपनी भूख मिटानेके लिये (मुधा) व्यर्थ (कालकूटं) विष (कवलयति) भक्षण करता है ! अर्थात् कोई नहीं ॥ १४ ॥

(शार्दूलविक्रीडित)

रूपं ते निरुपाधि सुन्दरमिदं पश्यन् सहस्रेक्षणः ।
प्रेक्षाकौतुककारिकोत्र भगवन्नोपैत्यवस्थान्तरम् ॥
वाणीं गद्गदयन् वपुः पुलकयन् नेत्रद्वयं श्रावयन् ।
मूर्द्धानं नमयन् करौ मुकुलयंश्चेतोऽपि निर्वापयन् ॥ १५ ॥

अन्वयार्थः— (भगवन्) हे भगवान ! (ते) आपका (इदं) यह (निरुपाधिसुन्दर) वस्त्र, आभूषण आदि उपाधियोंके विना ही अत्यन्त सुन्दर (रूपं) रूप (पश्यन) देखकर (प्रेक्षाकौतुक कारिकः) देखने वालोंको अत्यन्त

कौतुक (आश्चर्य) उत्पन्न करनेवाला है। हे प्रभो! (अत्र) इस ससारमें ऐसा कौनपुरुष है जो आपके सुन्दर रूपको देखकर (अवस्थान्तरं न उपैति) अपनी अवस्था को न बदलले अर्थात् आपके सुन्दर रूपको देखकर सबकी अवस्था बदल जाती है। (सहस्रचक्षुः) हजार नेत्रोको धारण करनेवाला—इन्द्र भी आप के उस सुदर रूपको देखकर (वाणीं गद्गदयन्) अपनी वाणीको गद्गद बना लेता है, (वपुः पुलकयन) शरीर प्रफुल्लित होजाता है, (नेत्रद्वय स्राव-यन) दोनों नेत्रोंसे हर्षके आँसू बहने लगते हैं, (मूर्द्धान नमयन) मस्तक को नवा लेता है—झुका लेता है, (करौ मुकुलयन) दोनों हाथोंको जोड़ लेता है, (अपि) और (चेत निर्वापयन) हृदयमें अत्यन्त सन्तुष्ट होजाता है ॥ १५ ॥

त्रस्तारातिरिति त्रिकालविदिति त्राता त्रिलोक्या इति ।
श्रेयः सूतिरिति श्रियां निधिरिति श्रेष्ठः सुराणामिति ॥
प्राप्तोऽहं शरणं शरण्यमगतिस्त्वां तत्यजोपेक्षणं,
रक्ष क्षेमपदं प्रसीद जिन किं विज्ञापितैर्गोपितैः ॥ १६ ॥

अन्वयार्थः— (जिन) हे जिनेन्द्र भगवान! (त्रस्ताराति. इति) आप समस्त कर्म रूपी शत्रुओंके नाश करने वाले हैं, (त्रिकाल विद्इति) समस्त पदार्थोंकी त्रिकाल सम्बंधी समस्त पर्यायों को जानने वाले हैं, (त्रिलोक्यः त्राता इति) तीन लोकोंकी रक्षा करने वाले हैं, (श्रेयः सूतिः इति) अनेक कल्याणो को उत्पन्न करनेवाले हैं, (श्रिया निधिः इति) अनन्त चतुष्टयरूप लक्ष्मी के निधि हैं, (सुराणा श्रेष्ठ इति) देवोंमें भी-सर्वश्रेष्ठ हैं (शरण्य) समस्त जीवोंको शरण देने वाले हैं, (क्षेमपद) कल्याणमय पदको प्राप्त होनेवाले हैं, यही समझकर और (अगतिः) मुझे अपनी कोई दूसरी गति दिखाई न देने के कारण (त्वा शरण) आपकी शरणमें (प्राप्तोहं) मै प्राप्त हुआ हू अतः हे नाथ! (रक्ष) मेरी रक्षा करो, (प्रसीद) प्रसन्न होओ (तत् उपेक्षा त्यज) अपनी उपेक्षाका त्याग करो, (विज्ञापितैः) मैंने जो यह प्रार्थना की है उसे (गोपितैः किं) गुप्त रखनेसे क्या लाभ है? ॥ १६ ॥

त्रिलोकराजेन्द्रकिरीटकोटि,—
प्रभाभिरालीढपदारविन्दम् ।

निर्मूलमुन्मूलितकर्मवृक्षं,—
जिनेन्द्रचन्द्रं प्रणमामि भक्त्या ॥ १७ ॥

अन्वयार्थः— (त्रिलोकराजेन्द्रकिरीटकोटिप्रभाभिः) तीनो लोकोंमें उत्पन्न होनेवाले अनेक राजा-महाराजा और इन्द्रोंके करोड़ो मुकुटों की प्रभासे (आलीढपदारविन्द) जिनके चरणकमल सुशोभित होरहे हैं, (निर्मूल उन्मूलितकर्मवृक्ष) जिन्होंने कर्मरूपी वृक्षको जड़से नष्ट कर डाला है ऐसे (जिनेन्द्रचन्द्र) जिनेन्द्र देव— भगवान् को मैं (भक्त्या) बडी भक्तिसे (प्रणमामि) नमस्कार करता हूं ॥ १७ ॥

(आर्या)

करचरणतनुविघातादटतो विहितः प्रमादतः प्राणी ।
ईर्यापथमिति भीत्या मुंच तद्दोषहान्यर्थम् ॥ १८ ॥

अन्वयार्थः— (अटतः करचरणतनुविघाताद्) चलते हुये मेरे हाथ, पैर और शरीरके विघातसे (प्रमादत) प्रमादसे (प्राणी) जो कोई प्राणी (विहितः) मारा गया हो (तत् दोषहान्यर्थं) उसके दोषको नाश करनेके लिये (भीत्या) भीतिसे (ईर्यापथ इति) मैं ईर्यापथ (चलने) का (मुचे) त्याग करता हूं ॥१८॥

ईर्यापथे प्रचलताद्य मया प्रमादा—
देकेन्द्रियप्रमुखजीवनिकायबाधा ।
निर्वर्तिता यदि भवेदयुगान्तरेक्षा,
मिथ्या तदस्तु दुरितं गुरुभक्तितो मे ॥ १९ ॥

अन्वयार्थः—हे भगवन् ! (ईर्यापथे) ईर्यापथशुद्धिसे (प्रचलता) चलते हुये, (मया) मुझसे (प्रमादात) प्रमादवश (यदि) यदि (अद्य) आज (एकेन्द्रियप्रमुखजीवनिकायबाधा) एकेन्द्रिय आदि जीव समूहोकी बाधा (भवेत्) हुई हो, अथवा (अयुगान्तरेक्षा निर्वर्तिता) चार हाथ भूमिसे अधिक दूर तक दृष्टि डाली हो तो (मे) मेरे (तद् दुरित) वे सब पाप (गुरुभक्तिः) गुरुकी भक्तिसे (मिथ्या अस्तु) मिथ्या हों ॥ १९ ॥

पडिक्कमामि भंते इरियावहियाए विराहणाए अणागुत्ते अइग्गमणे णिग्गमणे ठाणे गमणे चंकमणे पाणुग्गमणे विज्जग्गमणे हरिदुग्गमणे

उच्चारपस्सयणखेलसिंहाणयवियडिय पइट्ठा वणियाए, जे जीवा एइंदिया वा, वेइंदिया वा, तेइंदिया, वा, चउरिंदिया वा, पंचेंदिया वा, णोल्लिदा वा, पेल्लिदा वा, संघट्टिदा वा, संघादिदा वा, उद्दाविदा वा, परिदाविदा वा, किरिंच्छिदा वा, लेसिदा वा, छिंदिदा वा, भिंदिदा वा, ठाणदो वा, ठाणचंकमणदो वा, तस्स उत्तरगुणं तस्स पायच्छित्तकरणं तस्स विसोहि करणं जाव अरहंताणं भयवंताणं णमोकारं पज्जुवासं करोमि तावकायं पावकम्मं दुच्चरिय वोस्सरामि ॥

हे भगवान् ! मैं प्रतिक्रमण करता हू अर्थात् किये हुए दोषोका निराकरण करता हू, मैने मन वचन काय की गुप्ति रहित होकर ईर्यापथ करते समय जो कुछ जीवों की विराधना की है उनके दोषोंका मैं निराकरण करता हू। मैने जो शीघ्र गमन किया हो, चलनेकी प्रथम क्रिया प्रारभ की हो, जहा कहीं ठहरनेकी क्रिया की हो, सामान्य गमन किया हो, पैर फैलाये हो, वा सकुचित किये हो, श्वासोच्छ्-वास लिया हो अथवा दोइन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चौइन्द्रिय प्राणियोंके ऊपरसे अपने प्रमादके कारण गमन किया हो, किसी वीजके ऊपर से गमन किया हो, हरित-कायके ऊपरसे गमन किया हो, मैने जो मल निक्षेपण (टट्टी) किया हो, मूत्र (पेशाव) किया हो, थूका हो, कफ डाला हो, पीछी-कमडलु-पुस्तक आदि उप-करण प्रमाद पूर्वक रक्खे हो, इन समस्त क्रियाओके करनेमे जो एकेन्द्रिय जीव वा दोइन्द्रिय जीव वा तेइन्द्रिय जीव वा चौइन्द्रिय जीव अथवा पचेइन्द्रिय जीव अपने २ स्थान पर जाते समय रोके गये हो, अपने स्थानसे उठाकर दूसरी जगह रक्खे गये हो, एकको दूसरेकी रगड़से पीडा पहुचाई हो, व समस्त इकट्ठे कर एक जगह रख दिये हों, मार दिये हो, सतप्त कर दिये हों, चूर्णरूप कर दियेहो, अर्थात् कूट दिये हों, मूर्छित कर दिये हो, टुकडे २ कर दिये हों, विदीर्ण कर दिये हों अपने ही स्थान पर स्थित हों, अपने एक स्थानसे दूसरे स्थानके लिये चल रहे हों ऐसे जीवोकी मुझसे जो विराधना हुई हो उसका प्रतिक्रमण करनेके लिये तत्सबधी दोषोका निराकरण करनेके लिये मैं प्रवृत्त हुआ हू।

मे जब तक भगवान अरहत देव को नमस्कार करता हू, उनका स्मरण वा पूजा करता हूं तब तक अपने शरीरसे ममत्वका त्याग करता हू अर्थात्

कायोत्सर्ग करता हू। इस शरीर से अनेक पाप कर्म होते हैं और अनेक दुष्ट चेष्टायें होती हैं इसी लिये मै इसका त्याग करता हूं। यह भगवान् अरहंतदेवको किया हुआ नमस्कार वा किया हुआ उनका स्मरण अत्यत उत्तम है क्योंकि भगवान् अरहतदेव को नमस्कार करनेसे वा उनका स्मरण करनेसे किये हुये समस्त दोष दूर हो जाते हैं अथवा उन जीवोंकी की हुई विराधना का प्रायश्चित हो जाता है। प्रमादसे उत्पन्न होने वाले समस्त दोप दूर हो जाते हैं तथा उन जीवोंकी विराधनासे उत्पन्न होनेवाले समस्त पाप नष्ट हो जाते हैं उन पापोंकी शुद्धि हो जाती है। ईर्यापथमें होनेवाले समस्त कर्मोंका नाश हो जाता है।

ॐ णमो अरहंताणं णमोसिद्धाणं णमो आइरियाणं।
णमो उवज्झायाणं णमो लोए सव्वसाहूणं ॥

(यहा पर णमोकारमत्र का नौ बार जप करना चाहिये) (जाप्यानि नव)

ॐ नमः परमात्मने नमोऽनेकान्तायशान्तये। (यह मत्र बोलकर ईर्यापथशुद्धि करे)

अर्थ–मै परमात्माके लिये नमस्कार करता हू तथा अनेकात स्वरूप तत्त्वों का निरूपण करनेवाले और अत्यत शात वीतराग परमदेवके लिये मै नमस्कार करता हूं।

इच्छामि भंते आलोचेउं इरियावहियस्स पुव्वुत्तरदक्खिणपच्छिम चउदिसु विदिसासु विहरमाणेण, जुगंतर दिट्ठिणा, भव्वेण दट्ठव्वा। पमाददोसेण डवडवचरियाए पाणभूदजीवसत्ताणं उवघादो कदो वा कारिदो वा कारिंतो वा समणुमणिदो वा तस्स मिच्छामे दुक्कडं ॥

हे भगवन्! मैं आलोचना करनेकी इच्छा करता हू, निंदा करना और गर्हा करना आलोचना कहलाती है। अपने आप किये हुए दोषोंकी निंदा करना "मैंने जो ये दुष्ट कर्म किये हैं सो बहुत बुरा किया है' इस प्रकार अपने हृदयमें भावना रखना निंदा कहलाती है तथा गुरुके समीप जाकर उन्हीं दोपोंकी निंदा करना गर्हा है। ईर्यापथ गमन करते समय प्रमादसे जो दोष लगे हों उनकी मै निंदा गर्हारूप आलोचना करता हू।

किसी भी भव्यजीव को चलना हो, पूर्व दिशा, उत्तर दिशा, पश्चिम दिशा वा दक्षिण दिशाकी ओर चलना हो अथवा इन दिशाओंके मध्यभागमें विदिशाओं

में चलना हो तो उसे उचित है कि वह चार हाथ प्रमाण भूमिको देखता चले अर्थात् चार हाथ प्रमाण भूमि तक अपनी दृष्टि रक्खे और उसमें जो एकेन्द्रिय आदि जीव हों उनको देखता चले, उनका बचाव करता चले।

नोट—दोइन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चौइन्द्रिय जीवोंको अर्थात् विकलेन्द्रिय जीवोंको प्राणी कहते हैं। वनस्पतिकायिक जीवोंको भूत कहते हैं। पचेंन्द्रिय जीवोंको जीव कहते हैं। पृथ्वीकायिक, जलकायिक, तेजकायिक, वायुकायिक जीवोंको सत्त्व कहते हैं।

(शार्दूलविक्रीडित)

पापिष्ठेन दुरात्मना जड़धिया मायाविना लोभिना।
रागद्वेषमालीमसेन मनसा दुष्कर्म यन्निर्मितम् ॥
त्रैलोक्याधिपते जिनेन्द्र भवतः श्रीपाद मूलेधुना।
निन्दापूर्वमह जहामि सततं निर्वर्तये कर्मणाम् ॥

अन्वयार्थः— (त्रैलोक्याधिपते) हे तीनों लोकोंके स्वामी (जिनेन्द्र) श्री जिनेन्द्रदेव ! (पापिष्ठेन) पापी (दुरात्मना) दुरात्मा (जडधिया) जड़बुद्धि (मायाविना) मायावी (लोभिना) लोभी (रागद्वेषमलीमसेन) रागद्वेषसे मैले (मनसा) मनवाले मैंने (यत) जो (दुष्कर्म) दुष्कर्म (निर्मितम्) किये है उन्हें (कर्मणा) कर्मोंके (निर्वर्तये) नाशके लिये (निंदापूर्वकं अह) निन्दा-पूर्वक—निन्दा करता हुआ मै (अधुना) अब (भवतः) आपके (श्रीपादमूले) श्री चरणोंमें (सतत) निरन्तर—सदाके लिये (जहामि) छोडता हूं—त्याग करता हूं ॥

जिनेन्द्रमुन्मूलितकर्मबन्धं,
प्रणम्य सन्मार्गकृतस्वरूपम्।
अनन्तबोधादिभवं गुणौघं,
क्रियाकलापं प्रकटं प्रवक्ष्ये ॥

अन्वयार्थः— (उन्मूलितकर्मबन्धं) जिन्होंने कर्मबंध नष्ट कर दिया है, (सन्मार्गकृतस्वरूपं) जिन्होंने सन्मार्गके स्वरूपका प्रकाशन किया है, (अनन्तबोधादिभव) जो अनन्तज्ञानादि विभूतिसे विभूषित है, (गुणौघं) जो अनन्त गुणोसे युक्त हैं ऐसे (जिनेन्द्र) श्री जिनेन्द्र भगवानको (प्रणम्य) नमस्कार करके (प्रकट) प्रस्तुत अथवा स्पष्टरूपसे (क्रियाकलाप) क्रियाकलाप नामक ग्रंथको (प्रवक्ष्ये) प्रतिपादन करूंगा अर्थात् दशभक्ति का वर्णन करता हू ॥

अथार्हत्पूजारम्भक्रियायां[1] पूर्वाचार्यानुक्रमेण सकलकर्मक्षयार्थं भावपूजावंदनास्तवसमेतं श्रीमत्सिद्धभक्तिकायोत्सर्गं करोम्यहम् । णमो अरहंताणं णमो सिद्धाणं णमो आइरियाणं णमो उवज्झायाण णमो लोए सव्वसाहूणं ॥

णमोकारमत्रका अर्थ—

अरहतोको नमस्कार हो, सिद्धोको नमस्कार हो, आचार्यों को नमस्कार हो, उपाध्योको नमस्कार हो, लोकमें सर्व साधुओंको नमस्कार हो ॥

—चत्तारि दंडक—

चत्तारि मंगलं, अरहंत मंगलं, सिद्ध मंगलं, साहू मंगलं, केवलिपण्णतो धम्मो मंगलं, । चत्तारि लोगुत्तमा, अरहंत लोगुत्तमा, सिद्धलोगुत्तमा, साहू लोगुत्तमा, केवलिपण्णतो धम्मो लोगुत्तमा । चत्तारि सरणं पव्वज्जामि, अरहंत सरणं पव्वज्जामि, सिद्ध सरणं पव्वज्जामि, साहू सरणं पव्वज्जामि, केवलिपण्णतो धम्मो सरणं पव्वज्जामि ॥

अर्थः—चार मगलरूप है—अरहत मंगलरूप हैं, सिद्ध मगल रूप हैं, साधु मगलरूप है, केवली भगवानसे प्रतिपादन किया हुआ धर्म मगलरूप है । लोकमें चार सर्वोत्कृष्ट है —अरहत लोकमें सर्वोत्कृष्ट है, सिद्ध लोकमें सर्वोत्कृष्ट है, साधु लोकमें सर्वोत्कृष्ट है, केवली भगवानसे प्रतिपादन किया हुआ धर्म लोकमें सर्वोत्कृष्ट है । मै इन चारोंकी शरणको प्राप्त करता हू—श्री अरहत परमेष्ठी की शरणमें जाता हू,—श्री सिद्ध परमेष्ठी की शरणमें जाता हू, श्री साधु परमेष्ठी

१—यहा पर जो क्रिया करनी हो उस क्रियाका नाम लेकर यह मंत्र बोलना चाहिये ।

की शरणमें जाता हू और श्री केवली भगवानसे प्रतिपादन किये हुये धर्मकी शरणको प्राप्त होता हू।

अड्ढाइज्जदीवदोमसुद्देसु पण्णरसकम्मभूमिसु, जावअरहंताणं, भयवंताणं, आदियराणं, तित्थयराणं, जिणाणं, जिणोत्तमाणं केवलियाणं, सिद्धाणं बुद्धाणं, परिणिव्वुदाणं, अंतयडाणं, पारयडाणं धम्माइरियाणं, धम्मदेसियाणं, धम्मणायगाणं, धम्मवरचाउरंगचक्कवट्टीणं, देवाहिदेवाणं, णाणाणं दंसणाणं, चरित्ताणं सदा करोमि, किरियम्मं। करेमि भंते, सामायियं सव्वसावज्जजोगं पच्चक्खामि, जावज्जीवं तिविहेण मणसा वचसा कायेण, ण करेमि ण कारेमि करंतंपि ण समणुमणामि तस्स भंते अइचारं पडिक्कमामि, णिन्दामि, गरहामि जाव अरहंताणं भयवंताणं, पज्जुवासं करेमि तावकालं पावकम्मं दुच्चरियं वोस्सरामि जीवियमरणे लाहालाहे संजोगविप्पजोगे य बंधुरि सुह दुक्खादो समदा सामायियं णाम॥

अर्थ—जम्बूद्वीप, धातकी और आधा पुष्कर ये ढाई द्वीप कहलाते है। इन्हींके बीचमें लवण समुद्र और कालोदधि समुद्र आजाते है। ढाई द्वीप इस प्रकारसे व्यवस्थित है। इस ढाई द्वीपमे पाच भरतक्षेत्र पाच ऐरावतक्षेत्र और पाच विदेह क्षेत्र ऐसी पन्द्रह कर्मभूमिया है। इन १५ कर्मभूमियोंमें अरहत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु उत्पन्न होते हैं। भोगभूमियोंमें वा समुद्रोंमें कारणवश जाते हैं। भोगभूमियोंमे तो उपदेश देनेके लिये भी जाते हैं तथा समुद्रोंमें उपसर्गके द्वारा उठाकर रखदिये जाते हैं या डाल दिये जाते हैं। इस प्रकार इन परमेष्ठियोंकी सत्ता ढाई द्वीपमे रहती है।

अनादिकालसे अनतकालतक जितने अरहंत हो गये है और होंगे वे सब अरहंत भगवान् वा ज्ञानवान् हैं अथवा त्रैलोक्यपूज्य हैं वे अरहत आदि तीर्थ प्रवर्तक कहलाते हैं। दिव्यध्वनि रूप श्रुतज्ञानकी प्रवृत्ति अथवा धर्मादिक की प्रवृत्ति सबसे पहले अरहतोंसे ही होती है। इसीलिये वे "आदियराण" कहलाते हैं तथा वे ही अरहंत तीर्थंकर कहलाते हैं। जिससे ससार रूपी समुद्रोंसे पार हो जाय उसको तीर्थ कहते है। ऐसा तीर्थ श्रुतज्ञान है अथवा उत्तम क्षमादि धर्म है। क्योंकि यह जीव या तो शास्त्रज्ञान वा आत्मज्ञानसे मोक्ष प्राप्त करता है या धर्म

धारण कर मोक्ष प्राप्त करता है। उस श्रुतज्ञान अथवा धर्म के प्रवर्तक तीर्थंकर ही होते हैं और वे अरहत अवस्था में ही होते हैं। इसके सिवाय वे अरहंत जिन कहलाते हैं। यह ससार अनेक प्रकारसे विषय दुःखोंसे भरा हुआ है तथा वह दुःख कर्मोंके उदयसे प्राप्त होना है। यदि कर्म न हों तो दुख हो ही नहीं सकता। उन कर्मरूप शत्रुओंको भगवान् अरहंतदेवने नष्ट कर दिया है, कर्मोंको जीत लिया है इसीलिये भगवान् "जिन" कहलाते हैं, अथवा वे भगवान् "जिनोत्तम" कहलाते हैं। एकदेश कर्मोंको नाश करनेके कारण गणधरदेव अथवा ऋद्धिधारी मुनि वा सामान्य मुनि भी 'जिन' कहलाते हैं। उन सबमें उत्कृष्ट होनेके कारण भगवान् अरहंतदेवको 'जिनोत्तम' कहते हैं। इसके सिवाय वे भगवान् अरहंतदेव केवलज्ञानी कहलाते है। केवलज्ञानसे सुशोभित हैं अतः केवलज्ञानी कहे जाते है। इस प्रकार अनेक गुणोसे तथा अनेक नामोसे सुशोभित भगवान् अरहतदेवकी स्तुति कर मै आलोचना आदि क्रियाकर्म करता हू।

इसी प्रकार इस ससारमें भूत भविष्यत वर्तमानकाल सम्बधी जितने सिद्ध परमेष्ठी हैं उनकी भी मै स्तुति कर आलोचना आदि क्रियाकर्म करता हू। वे भगवान् सिद्ध परमेष्ठी बुद्ध अथवा समस्त पदार्थोंके जानकार सर्वज्ञ हैं। इस विशेषणके देनेका अभिप्राय यह है कि योगमत वाले जिस प्रकार मुक्तअवस्थामें आत्माको जड़रूप मानते हैं वैसा आत्माका स्वरूप नहीं है किन्तु मुक्तावस्थामें आत्मा सर्वज्ञ ही रहता है। इस प्रकार इस विशेषणसे योगमतका खडन हो जाता है। इसके सिवाय वे सिद्ध परमेष्ठी "परिणिव्वुदाण" अर्थात् परिनिर्वृत्त वा परम सुखी हैं। परमसुखी अर्थात आनन्दसुखी कहनेसे साख्यमतका खडन हो जाता है। साख्यमतवाला मुक्त अवस्थामें आत्माको शुद्ध चैतन्य स्वरूप मानता है तथा ज्ञानसुख आदि गुणोसे सर्वथा रहित मानता है परतु वास्तवमें साख्यमतका यह मानना सर्वथा मिथ्या है। क्योकि ज्ञान और सुख दोनो ही आत्माके स्वभाव हैं, इसलिये वे कभी भी आत्मासे भिन्न नहीं हो सकते। ससारमे जो आत्मा दुःखी और अज्ञानी दिखाई देते हैं उसका कारण उनके कर्म है। कर्मके उदयसे ही यह जीव अज्ञानी और दुःखी दिखाई देते हैं। परन्तु मोक्ष अवस्थामें वे कर्म सब नष्ट हो जाते हैं, इसलिये आत्माका वह अनतज्ञान और अनन्तसुख पूर्णरूपसे-प्रगटरूपसे प्रगट होजाता है। इसप्रकार इस अनन्तसुखी विशेषणसे साख्यमत

का खडन होजाता है। इसके सिवाय वे भगवान् सिद्धपरमेष्ठी "अन्तयडाण" अर्थात् अन्तकृत हैं। जो ज्ञानावरणादि समस्त कर्मोंको तथा उन कर्मोंके उदय से होनेवाले ससारको नाश करदे उनको अन्तकृत् कहते हैं। भगवान सिद्धपरमेष्ठीने भी समस्तकर्मोंको और ससार परम्पराको नाश कर दिया है, इसलिये वे अन्तकृत कहलाते हैं। नैयायिक और वैशेषिक मतवाले ईश्वरको सदा मुक्त मानते हैं। उसका खडन करनेके लिये ही सिद्धोका यह अन्तकृत् विशेषण दिया है। कोई भी प्राणी सदा मुक्त नहीं हो सकता, क्योकि मुक्त शब्दका अर्थ छूटना है कर्मोंसे मुक्त होनाही मोक्ष अथवा मुक्ति कहलाती है, अतः सिद्ध होता है कि प्रत्येक प्राणी कर्मोंसे छूटकर ही मुक्त होता है ईश्वर भी इसीप्रकार मुक्त हुआ है। इसलिये वह सदा मुक्त नहीं कहला सकता अथवा अन्तकृत् शब्दसे अन्तकृत् केवली लेने चाहिये। एक एक तीर्थंकरके समयमें दश-दश अन्तकृत् केवली होते हैं, जो कि अत्यन्त घोर उपसर्गका निमित्त पाकर अन्तर्मुहूर्तमें ही घातिया कर्मों का नाश कर डालते हैं तथा उसी अतर्मुहूर्तमें केवलज्ञान पाकर तथा बाकीके समस्त अघातिया कर्मोंका नाश कर उसी अतर्मुहूर्तमें सिद्ध हो जाते हैं। ऐसे सिद्धपरमेष्ठीको अतकृत् केवली कहते हैं। ऐसे अन्तकृत् केवलीकी स्तुतिकर मै क्रिया कर्म करता हू। इसके सिवाय वे सिद्ध परमेष्ठी अथवा अतकृत् केवली 'पारयडाण' अर्थात् ससाररूपी समुद्रसे पार करने वाले हैं अथवा 'पारगमाण' ऐसा भी पाठ है। पारगमाण का अर्थ पारगत होता है। वे भगवान इस ससार रूपी समुद्रसे पार हो चुके हैं, इसीलिये पारगत कहलाते हैं। इसप्रकार अनेक गुणोको तथा अनेक नामोको धारण करनेवाले भगवान सिद्ध परमेष्ठीकी स्तुति कर मै आलोचना आदि क्रिया कर्म करता हू।

इसीप्रकार इस ससारमें भूत, भविष्यत्, वर्तमानकाल सम्बधी जितने आचार्य हैं उनसबकी मै स्तुति कर आलोचना आदि क्रिया कर्म करता हू। वे आचार्य 'धम्माइरियाण' कहलाते हैं। धर्म शब्दका अर्थ चारित्र है। लिखा भी "चारित्त खलु धम्मो" अर्थात् निश्चयसे चारित्रही धर्म है, अथवा उत्तम क्षमा, मार्दव आदि भी धर्म कहलाते हैं। उस चारित्र रूप धर्मको अथवा उत्तम क्षमादि दशलक्षण रूप धर्मको जो स्वय आचरण करें अथवा अन्य शिष्योंसे आचरण करावें—स्वय पालन करें और शिष्योंसे पालन करावें उनको आचार्य कहते है; ऐसे आचार्योंकी

स्तुति कर आलोचनादि क्रिया कर्म करता हू।

तथा मै उपाध्यायोकी स्तुति कर क्रिया कर्म करता हू। वे उपाध्याय 'धम्म-देसियाणं" कहलाते हैं। चारित्र रूप धर्मका अथवा उत्तम क्षमादि दशलाक्षणिक रूप धर्मका जो उपदेश दें, शिष्योको अध्ययन करावें उनको उपाध्याय परमेष्ठी कहते है। ऐसे उपाध्याय परमेष्ठीकी स्तुति कर मै आलोचना आदि क्रिया कर्म करता हू।

इसीप्रकार साधु परमेष्ठीकी स्तुति कर क्रिया कर्म करता हू। साधु परमेष्ठी 'धम्माणाय गाणं' कहलाते हैं। जो चारित्ररूप धर्मका अथवा दशलाक्षणिक रूप धर्मका अनुष्ठान करें-पालन करें उनको साधु परमेष्ठी कहते हैं। ऐसे समस्त साधुओंकी स्तुति कर मैं आलोचना आदि क्रिया कर्म करता हूं।

अरहत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु ये पाचों ही परमेष्ठी "धम्म-वरचाउरगचक्कवट्टीणं" कहलाते हैं। धर्म ही एक सबसे उत्तम चतुरग सेना कहलाती हैं, क्योकि अपने कार्य करने में अर्थात् आत्माका कल्याण करनेमें धर्म का प्रसार वा वृद्धि किसी से किसी प्रकार भी रोकी नहीं जा सकती। ऐसे धर्मरूप चतुरंग सेनाके जो चक्रवर्ती हों—एक मात्र स्वामी हों उनको "धम्मवरचाउरग-चक्कवट्टीणं" कहते हैं। ये पाचों ही परमेष्ठी धर्मकी वृद्धि करनेके लिये धर्मरूपी चतुरग सेनाके नायक है इसलिये 'धम्मवरचाउरंगचक्कवट्टीणं" कहलाते हैं। इसके सिवाय ये पाचो ही परमेष्ठी "देवादिदेवाणं" कहलाते है जो चतुर्निकाय देवोंके द्वारा भी पूज्य हों, वदनीय हों, चतुर्निकाय देवभी जिनको अधिदेव अथवा देवाधिदेव माने उनको 'देवाधिदेव' कहते हैं। ये पाचो ही परमेष्ठी देवाधिदेव हैं, क्योंकि समस्तदेव इनके लिये वदना करते है। ऐसे पाचो परमेष्ठियोंकी मै स्तुति करता हू तथा क्रियाकर्म करता हू।

इस प्रकार गुणियोंकी स्तुति कर अब गुणोकी स्तुति करते है। मै सम्यग्ज्ञान की, सम्यग्दर्शनकी तथा सम्यक्चारित्रकी सदा स्तुति करता हू। इन तीनों रत्नों का सदा क्रियाकर्म करता हू।

यद्यपि इस आत्मामें अनन्त गुण है तथापि मोक्षके कारण ये तीन ही रत्न-त्रय है। इसलिये समस्त गुणोंमें ये ही प्रधान हैं। अतएव उन्हीं तीनो गुणोंकी स्तुति की है।

आगे सामायिक करनेकी प्रतिज्ञा करते हैं—

करोमि भंते सामायियं सव्वमावज्जजोगं पच्चक्खामि जावज्जीवं तिविहेण मणसा वचसा कायेण ण करेमि, ण कारेमि, करंतंपि ण समणुमणामि। तस्स भंते अइचारं पडिक्कमामि णिंदामि गरहामि जाव अरहंताणं भयवंताणं पज्जुवासं करेमि तावकालं पावकम्मं दुच्चरियं वोस्सरामि।

अर्थः— अरहंत आदि पाचों परमेष्ठियोंका क्रियाकर्म करता हुआ मै हे भगवान्! सबसे पहले सामायिक करता हूं जिसमें राग द्वेषका सर्वथा त्याग कर माध्यस्थ भाव धारण किये जाय उसको सामायिक कहते हैं। लिखा भी है—

जीवियमरणे लाहालाहे संजोग विप्पजोगे य।
बंधुरि सुहदुक्खादो समदा सामायियं णाम॥

अर्थः—जीवित रहनेमें, मरनेमें, लाभमें, अलाभमें, संयोगमें, वियोग में, बंधुओंमें, शत्रुओंमें, सुखमें तथा दुःखमें सबमें जो समता धारण कहता है, किसी में राग-द्वेष नहीं करना है उसको सामायिक कहते है।

ऐसे सामायिकको करता हुआ मै मन वचन कायकी समस्त अशुभ प्रवृत्तियोका त्याग करता हू तथा वह त्याग जीवन पर्यंत करता हू और मन वचन काय कृत कारित अनुमोदना से करता हू। भावार्थ मन वचन कायकी अशुभ प्रवृत्तियोको न तो मैं शरीरसे करूगा, न वचनसे कराऊंगा और न करते हुए की मनसे अनुमोदना करूगा। अथवा मै कायसे न करूगा न कराऊगा और न अनुमोदना करूगा इसी प्रकार वचनसे और मनसे न करूंगा, न कराउंगा और न अनुमोदना करूंगा।

हे भगवन्! मै जो अरहत सिद्ध आदि पाचों परमेष्ठीका क्रिया कर्म करता हू उसमें होनेवाले अतिचार वा दोषो का भी त्याग करता हू। उन दोषो की वा अतिचारोंकी निंदा करता हू और गर्हा करता हू। जो दोष किये हैं उनके लिये अपने आत्मा की साक्षीपूर्वक "हाय! यह काम मैने वहुत ही बुरा किया है" इस प्रकार हृदयमें भावना रखना निंदा कहलाती है, तथा गुरुके सन्मुख जाकर उनकी साक्षीपूर्वक उन्हीं दोषोंकी निंदा करना गर्हा कहलाती है। इस प्रकार मै लगे हुए दोषोकी निंदा और गर्हा करता हू। और अतिचारोका त्याग करता हू।

मैं केवल अशुभ क्रियाओंका त्याग ही नहीं करता किंतु संसार में जितने अरहंत हैं जो कि अनंतज्ञानी और पूज्य हैं उनको जबतक मैं विशुद्ध मनसे पर्युपासन करता हूं जबतक उन अर्हंतदेवकी सेवा करता हूं वा उनका स्मरण करता हूं, तबतक मैं पाप कर्मों का त्याग कर देता हूं। जन्ममरणरूप संसारको बढ़ानेवाले जितने अशुभ कर्म हैं उन सबको पाप कहते हैं। अथवा पापोंके लिये जो क्रिया की जाती है, जो व्यापार किया जाता है उसको भी पापकर्म कहते हैं। ऐसे पाप कर्मों का मैं त्याग करता हूं। तथा जन्ममरणरूप संसारकी प्रवृत्तिके कारणजो चेष्टा है- जो चारित्र है वा व्यापार है उसको दुश्चरित्र वा दुच्चरिय कहते हैं, ऐसे दुश्चरित्रको भी मैं छोड़ता हूं। पापकर्म और दुश्चरित्र दोनोंका मैं त्याग करता हूं और इन दोनोंसे मैं उदासीन होता हूं।

(यहा पर णमोकार मंत्रका नौवार जाप करना चाहिये)

चौवीस तीर्थङ्करोंकी स्तुति--

थोस्सामिहं जिणवरे तित्थयरे केवली अणंतजिणे।
णरयवरलोयमहिए विहुयरयमले महप्पण्णे ॥ १ ॥
लोयस्सुज्जोययरे धम्मं तित्थंकरे जिणे वंदे।
अरहंते कित्तिस्से चउवीसं चेव केवलिणो ॥ २ ॥
उसहमजियं च वंदे संभवमभिणंदणं च सुमइं च ॥
पउमप्पहं सुपासं जिणं च चंदप्पहं वंदे ॥ ३ ॥
सुविहिंच पुप्फयंतं सीयल सेयं च वासुपुज्जं च।
विमलमणंतं भयवं धम्मं संति च वंदामि ॥ ४ ॥
कुंथुं च जिणवरिंदं अरं च मल्लिं च सुव्वयं च णमिं।
वंदाम्यरिट्ठणेमिं तह पासं वड्ढमाणं च ॥ ५ ॥
एवंमए अभित्थुया विहुयरयमला पहीणजरमरणा।
चउवीसंपि जिणवरा तित्थयरा मे पसीयंतु ॥ ६ ॥
कित्तियवंदिय महिया एदे लोगोत्तमा जिणा सिद्धा।
आरोग्गणाणलाहं दिंतु समाहिं च मे बोहिं ॥ ७ ॥

चंदेहिं णिम्मलयरा आइच्चेहि अहियपहा सत्ता ।
सायरमिव गंभीरा सिद्धा सिद्धिं मम दिसंतु ॥ ८ ॥

अर्थ— अब मै वृषभादि महावीर पर्यंत चौवीसों तीर्थंकरोकी स्तुति करता हू । वे समस्त तीर्थंकर 'जिनवर' कहलाते हैं । गणधरादिक देव एकदेश जिन कहलाते है और उनमें जो श्रेष्ठ हों उनको जिनवर कहते हैं । इसके सिवाय वे तीर्थंकरकेवली 'अणंतजिण' हैं । केवलज्ञान विशिष्ट होनेसे केवली कहलाते हैं । तथा जिसका अन्त न हो ऐसे ससार को अनंत कहते हैं । भगवान् तीर्थंकर देव ऐसे अनंत संसारको जीतनेवाले हैं, इसलिए 'अनत जिन' कहलाते हैं । अथवा जिनका अत न हो ऐसे अनत सख्या विशिष्ट तीर्थंकरोंको 'अनतजिन' कहते हैं । इससे त्रिकालवर्ती समस्त तीर्थंकरोंका ग्रहण होजाता है । फिर वे तीर्थंकर 'णर-पवरलोएमहिये' कहे जाते हैं । जो नर-मनुष्योंमें प्रवर-श्रेष्ठ हों उनको 'नरप्रवर' कहते हैं । ऐसे लोग चक्रवर्त्ती आदि कहलाते हैं । ऐसे चक्रवर्ती आदि के द्वारा भी-वे भगवान् पूज्य हैं, इसलिये वे 'नरप्रवरमहित' कहलाते हैं । अथवा वे तीर्थं-करपरमदेव मनुष्योंमें श्रेष्ठ हैं इसलिये 'नरप्रवर' कहलाते हैं और इन्द्रादिकोंके द्वारा पूज्य हैं, इसलिये महित वा पूज्य कहलाते हैं । वे तीर्थकर परमदेव 'विहुयर-यमले' अर्थात् 'विधूतरजोमल' हैं । जिसप्रकार धूल बादलोंको ढक लेती है, उसी प्रकार ज्ञानावरण और दर्शनावरण ये दोनों कर्म आत्माके ज्ञानदर्शन स्वभाव को ढक लेते है, इसलिए इन कर्मों को रज कहते है । भगवान तीर्थंकरने इन दोनों कर्मरूपी रजकी मलिनता नष्ट कर दी है इसलिये वे 'विधूत रजोमल' कहे जाते है । इसके सिवाय वे भगवान् 'महप्पराण' हैं । मह शब्दका अर्थ पूजा है । । जो पूजाको प्राप्त हुए हों—–जिनकी पूजा तीनों लोकोंने की हो उनको 'मह आपन्न' कहते हैं । अथवा भूतपूर्व नयकी अपेक्षासे तीर्थंकरको 'महाप्रज्ञ' भी कहते हैं । प्रज्ञाशब्द का अर्थ वुद्धि है, उसका उपयोग वा सत्ता केवलज्ञान अवस्थामें नहीं हो सकती, इसलिये यहा पर गृहस्थावस्था की महाबुद्धिमत्ताका ग्रहण करते है ॥१॥

इसके सिवाय वे भगवान् अपने केवलज्ञान के द्वारा लोकाकाशके समस्त पदार्थोंको प्रकाशित करनेवाले हैं इसलिये वे लोयस्सुज्जोययरे, अर्थात् 'लोकस्य द्योतक' कहे जाते हैं । ऐसे तीर्थंकरोंकी मै स्तुति करता हूं । तथा चारित्ररूप धर्म

की स्तुति करता हूं वा उत्तम क्षमा मार्दव आदि दशलक्षणरूप धर्मकी स्तुति करता हूं, समस्त–तीर्थंकरोंकी स्तुति करता हूं। तथा मुंडकेवली, मूककेवली, अंतकृतकेवली आदि अन्य समस्त अरहतोंकी स्तुति करता हू। घातिया कर्मोंके नाश कर देनेसे जिनको अनतज्ञान प्रगट हो जाता है उनको अरहंत कहते है। ऐसे अरहत ही तीर्थंकर कहे जाते है। इस वर्तमानकाल सम्बधी अवसर्पिणीकालमें जो २४ तीर्थंकर हुये है जो कि केवलज्ञान से सुशोभित हुये हैं ऐसे २४ तीर्थंकरोका अलग अलग नाम लेकर और उनके लिये अलग अलग प्रणाम करता हुआ उन सबकी स्तुति करता हू ॥ २ ॥

मै श्री वृषभदेव और अजितनाथके लिये वदना करता हू। शभवनाथ, अभिनदननाथ, सुमतिनाथ, पद्मप्रभ, सुपार्श्वनाथ और भगवान् चन्द्रप्रभ जिनेन्द्रदेवको वदना करता हू ॥ ३ ॥

भगवान् सुविधिनाथ (पुष्पदत), शीतलनाथ, श्रेयासनाथ, वासुपूज्य, विमलनाथ, अनंतनाथ, धर्मनाथ और भगवान् शातिनाथ के लिये वंदना करता हूं ॥४॥

भगवान् जिनेन्द्रदेव कुन्थुनाथ, अरनाथ, मल्लिनाथ, मुनिसुव्रतनाथ, नमिनाथ, अरिष्टनेमिनाथ, पार्श्वनाथ और वर्द्धमान भगवान्के लिये मै वदना करता हूं ॥ ५ ॥

आगे अपनी शक्ति और भक्तिके अनुसार जिनकी स्तुति की है ऐसे उन भगवानसे अपना आत्मकल्याणरूप फल चाहते हुये स्तुतिकार कहते हैं कि वे भगवान् चौवीसों तीर्थंकर अनुपम और अचिंत्य गुणोंसे सुशोभित हैं तथा 'विहुयरयमला' अर्थात् घातियाकर्मरूपी रज और मलसे सर्वथा रहित हैं और 'पहीणजरमरणा' अर्थात बुढापा जन्म मरण आदि समस्त दोषोसे रहित मुक्त है ऐसे तीर्थंकर जिनेन्द्रदेव के चौवीसों नाम समस्त पापोंको नाश करनेवाले और परस्पर एक दूसरे से भिन्न भिन्न हैं उन सबकी मैने स्तुति की है। इसलिये वे चौवीसो तीर्थंकर मुझ पर प्रसन्न हो ॥ ६ ॥

ये चौवीसो तीर्थंकर सर्वोत्कृष्ट है और कृतकृत्य हैं, इनकी मैंने वचनसे स्तुति की है, मनसे वदना की है और कायसे पूजाकी है। ऐसे ये तीर्थंकर परमदेव आरोग्यज्ञानकी प्राप्ति देवे। जिसप्रकार रोग शरीरका घात करते हैं उसी प्रकार ज्ञानावरण कर्म भी आत्माके स्वरूपका घात करता है। इसलिये वह रोग समान

है। जिसके वह रोगरूप ज्ञानावरणकर्म न हो उसे अरोग कहते है, उस अरोग के भावको आरोग्य कहते हैं। उस आरोग्यके साथ जो ज्ञान होता है उसे आरोग्यज्ञान कहते हैं। जो ज्ञान समस्त ज्ञानावरणकर्मसे रहित है ऐसा केवलज्ञान वा पूर्णज्ञानको 'आरोग्यज्ञान' कहते हैं। ऐसे केवलज्ञान की प्राप्ति देवें अथवा रोग शब्दका अर्थ मिथ्यात्व है, क्योंकि वह मिथ्यात्व ज्ञानको विपरीत बना देता है। ऐसे मिथ्यात्वसे रहित जो ५ प्रकारका सम्यग्ज्ञान है उसे देवें। तथा २४ ही तीर्थंकर मुझे समाधि अर्थात् धर्मध्यान, शुक्लध्यानकी प्राप्ति देवे, अर्थात् चारित्ररूप समाधिको देवे, और बोधि अर्थात् सम्यग्दर्शनको देवें। जिससे पदार्थोंका यथार्थ स्वरूप जाना जाय उसे बोधि कहते हैं। सम्यग्दर्शनके होनेसे ही पदार्थों का यथार्थस्वरूप जाना जाता है। इसलिये सम्यग्दर्शनको ही बोधि कहते हैं। इस प्रकार वे भगवान् मुझे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूप रत्नत्रय की प्राप्ति देवें ॥ ७ ॥

भगवान् सिद्ध परमेष्ठी समस्तकर्मोंसे रहित है, इसलिये वे चन्द्रमासे भी अत्यत निर्मल हैं। समस्त लोक को प्रकाशित करनेवाले केवलज्ञान की प्रभासे सुशोभित हैं, इसलिये वे 'आइच्चोहें' अर्थात् आदित्य —सूर्यसे भी 'अहियपहा' अर्थात् अधिक प्रभावशाली हैं अथवा वे चौबीसों तीर्थंकर चन्द्रमासे भी अधिक निर्मल हैं और शरीरकी प्रभा असाधारण करोड़ो सूर्योंकी प्रभाके समान होनेके कारण सूर्यसे भी अधिक प्रभायुक्त हैं तथा शस्त अर्थात् अत्यत प्रशसनीय हैं अथवा परम उपशमको प्राप्त हो चुके हैं। अथवा 'अहियं पयासता' ऐसा भी पाठ है। उसका अर्थ ऐसा है कि वे भगवान् सूर्यसे भी अधिकरीतिसे पदार्थों को प्रकाशित करनेवाले है। तथा वे भगवान् समुद्रके समान हैं गभीर है। यद्यपि उनमें अनंतगुणरूपी रत्न हैं तथापि समुद्रके समान गभीरताके कारण दिखाई नहीं देते। ऐसे ससारके दु:खोंसे सर्वथा रहित सिद्ध परमेष्ठी स्तुति करने वाले मुझको समस्त कर्मोंसे रहित ऐसी सिद्ध अवस्था को देवे मुझे मोक्षप्रदान करें ॥ ८ ॥

श्रीसिद्धभक्तिः ।

(स्रग्धरा)

सिद्धानुद्धूतकर्मप्रकृतिसमुदयान्साधितात्मस्वभावान्,
वंदे सिद्धिप्रसिद्ध्यैतदनुपमगुणप्रग्रहाकृष्टितुष्टः ।
सिद्धिः स्वात्मोपलब्धिः प्रगुणगुणगणोच्छादिदोषापहारात्,
योग्योपादानयुक्त्या दृषद इह यथा हेमभावोपलब्धिः ॥ १ ॥

अन्वयार्थः–(उद्धूतकर्मप्रकृति समुदयान) जिन्होने ज्ञानावरणादि आठ कर्मों का नाश कर दिया है, (साधितात्मस्वभावान्) जिन्होने आत्मस्वभाव की सिद्धि करली है ऐसे (सिद्धान्) सिद्ध परमेष्ठीको मै (तदनुपमगुणप्रग्रहाकृष्टितुष्ट) उनके अनुपम, अनत गुणरूपी रस्सीसे खिंच जाने के कारण संतुष्ट हुआ (सिद्धिप्रसिद्ध्यै) आत्मसिद्धिकी प्राप्ति के लिये (वदे) वंदना करता हूं। (यथा) जिसप्रकार (इह)इस ससार मे (योग्योपादानयुक्त्या) योग्य उपादान सामग्री के मिलने से (दृषदः) पत्थरसे (हेमभावोपलब्धिः) स्वर्णभावकी प्राप्ति होती है "तथा" उसीप्रकार (प्रगुणगुणगणो च्छादिदोषापहारात) अनतज्ञानादि गुणोंका आच्छादन करनेवाले अथवा विकृतकरनेवाले दोषो—कर्मोंके नाश होजाने से (स्वात्मोपलब्धिः) शुद्ध आत्मतत्त्व की उपलब्धि को (सिद्धिः) सिद्धि कहते हैं ॥ १ ॥

भावार्थः–जिसप्रकार भट्टी, धमनी आदि कारणों की युक्तिपूर्वक योजना करनेसे सुवर्णपाषाण में से किट्ट कालिमा आदि मैल सब निकल जाता है और शुद्ध सुवर्णकी प्राप्ति होजाती है उसी प्रकार यह ससारी आत्मा ज्ञानावरणादि कर्मों मे अत्यंत मलिन हो रहा है। इस आत्मा में ज्ञानादिगुण सर्वोत्कृष्ट हैं जो कि किसी भी द्रव्यमें नहीं रहते। अथवा जिनसे पदार्थों का यथार्थ स्वरूप प्रकाशित हो ऐसे ज्ञानदर्शन आदि आत्मा में सर्वोत्कृष्ट गुण है अथवा अनतज्ञान अनत-दर्शन आदि सर्वोत्कृष्ट गुण हैं ऐसे अनतगुणो का समुदाय आत्मा में है। इस

संसारी आत्माके साथ जो ज्ञानावरण दर्शनावरण आदि घातिया कर्म लगे हुये हैं वे सब आत्माके उन अनन्तज्ञान व अनन्तदर्शन रूप गुणों का घात करते हैं इसीलिये उन समस्त कर्मोंको दोष कहते हैं। उन समस्त घातिया, अघातिया कर्मरूपी दोषोंका सर्वथा नाश वा अभाव हो जानेसे जो अनन्तज्ञानादि स्वरूप शुद्ध आत्माकी प्राप्ति होजाती है उसको "सिद्ध" कहते हैं। उस सिद्धको जो प्राप्त हो चुके हैं, जिनको उस शुद्ध आत्मतत्त्व की प्राप्ति हो गई है उन्हें सिद्ध कहते हैं। वे भगवान कर्मों की प्रकृतियोंके समुदायसे सर्वथा रहित होते हैं। ससार में बहुतसे ऐसे भी मनुष्य हैं जिनको अजनगुटका सिद्ध होजाता है, वे एक प्रकार का सिद्ध अजन बनाते हैं जिसको आखमें लगानेसे वे किसी को दिखाई नहीं देते तथा उनको सब कुछ दिखता है। ऐसे मनुष्यो को अजनगुटका सिद्ध कहते है। वे अजनगुटका सिद्ध, सिद्ध नहीं हैं किन्तु जिनके समस्त कर्म नष्ट हो जाते है उन्हींको सिद्ध कहते है। यही सचित करने के लिये आचार्यने सिद्धोंका स्वरूप समस्त कर्मप्रकृतियोंसे रहित बतलाया है। इसके सिवाय जिन्होंने अनतज्ञानदर्शन स्वरूप अपने आत्मा का निजस्वभाव सिद्ध कर लिया है उन्हींको सिद्ध कहते हैं।

बहुतसे नैयायिक आदि मतवाले ईश्वरको सदा ज्ञानी मानते है, ईश्वरमें सदा से रहनेवाला ज्ञान मानते हैं। उनका खडन करनेके लिये आचार्य कहते है कि जिन्होंने अनतज्ञान प्राप्त कर लिया है वे ही सिद्ध कहलाते हैं। ईश्वरमें सदासे ज्ञान कभी नहीं हो सकता। पूर्णज्ञानप्राप्त करनेके लिये ज्ञानावरणादि कर्मोंका नाश करना पड़ता है, तब कहीं जाकर पूर्णज्ञान प्रगट होता है। जिनके पूर्णज्ञान प्रगट हो जाता है उन्हींको सिद्ध कहते हैं। उनसिद्धोंके उपमारहित अनन्तगुण हैं, उन अनतगुणरूपी रस्सी के द्वारा उन सिद्धोंकी ओर खिंच जानेके कारण अत्यत संतुष्ट हुआ मैं उस शुद्ध आत्मस्वरूप सिद्धिकी प्राप्तिके लिये उन सिद्ध परमेष्ठीको नमस्कार करता हूं।

आगे— नैयायिक बौद्ध आदि अन्य दर्शनकार जो मोक्षका स्वभाव मानते हैं—उसका खण्डन करते हुये आचार्य मोक्षका यथार्थ स्वरूप बतलाते हुये आत्मतत्त्वका निरूपण भी करते हैं—

नाभावः सिद्धिरिष्टा न निजगुणहतिस्तत्तपोभिर्न युक्तः ।
अस्त्यात्मानादिबद्धः स्वकृतजफलभुक् तत्क्षयान्मोक्षभागी ॥
ज्ञाता द्रष्टा स्वदेहप्रमितिरुपसमाहारविस्तारधर्मा ।
ध्रौव्योत्पत्ति व्ययात्मा स्वगुणयुत इतो नान्यथा साध्यसिद्धिः ॥२॥

अन्वयार्थ.—(अभावः) "दीपक के बुझने की तरह" आत्मतत्त्वके अभाव को (सिद्धि.) सिद्धि (न इष्टा) नहीं माना जा सकता है, उसी प्रकार (निज-गुणहनिः 'सिद्धिः न इष्टा') अपने विशेष गुणों के अभाव को भी सिद्धि मानता इष्ट नहीं है। क्योकि जो लोग आत्माभाव और विशेष गुणों के नाशको सिद्धि मानते हैं वे अपने ही नाश करनेके लिये (तत्तपोभिः न युक्तः) तपश्चर्या आदि के द्वारा प्रवृत्त नहीं हो सकते हैं। साथ ही जिनका ऐसा मत है कि आत्म तत्त्व ही नहीं है, उनका यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योकि (अनादिबद्धः) अना-दिकाल से कर्मों से बद्ध, (बधा हुआ) (स्वकृतजफलभुक्) अपने द्वारा किये हुए अच्छे बुरे कर्मों के फलों को भोगनेवाला, (ज्ञाता) जाननेवाला (दृष्टा) देखनेवाला (स्वदेहप्रमितिः) अपने द्वारा प्राप्त शरीर के प्रमाणमें रहनेवाला, (उपसमाहारविस्तारधर्मा) संकोच और विस्तार धर्मवाला, (ध्रौव्योत्पत्तिव्य-यात्मा) उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य स्वरूप तथा (स्वगुणयुतः) अपने ज्ञानादि गुणो से युक्त (आत्मा अस्ति) आत्मा है। (इत अन्यथा साध्यसिद्धिः न) यदि ऐसा न माना जावे तो इष्ट साध्यकी सिद्धि नहीं हो सकती ॥ २ ॥

भावार्थः—बौद्ध और वैशेषिक आदि मतवाले मोक्षका स्वरूप अभाव-रूप मानते हैं। वे कहते हैं कि जिसप्रकार तेलके समाप्त होने पर दीपक बुझ जाता है फिर वह किसी भी दिशा व विदिशामें जाकर नहीं ठहरता किन्तु वह सर्वथा नष्ट हो जाता है, उसीप्रकार आत्मा की सन्तान का जब क्लेश वा दुःखा-दिक नष्ट हो जाता है तब आत्मा का सर्वथा अभाव हो जाता है। इसी को मोक्ष कहते हैं ऐसा बौद्ध मानते हैं परतु आचार्य इसका खडन करते हुये कहते हैं कि मोक्षका स्वरूप अभावस्वरूप नहीं है। क्योंकि ऐसा कोई भी बुद्धिमान नहीं है-जो अपना नाश करनेके लिये प्रयत्न करे। तथा मोक्ष के लिये प्रयत्न किया ही जाता है। इसलिये बौद्ध का माना हुआ मोक्षका स्वरूप ठीक नहीं है।

योग कहते हैं कि बुद्धि, सुख, दुख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म और

संस्कार ये आत्मा के विशेष गुण हैं। इनका अत्यन्त नाश हो जाना ही मोक्ष है। परन्तु आचार्य कहते हैं कि योगोंके द्वारा माना हुआ मोक्षका यह लक्षण भी ठीक नहीं है। क्योंकि मोक्षका स्वरूप आत्माके गुणोंके नाश होने रूप नही है। इसका भी कारण यह है कि यदि आत्मा के गुणोका नाश होना ही मोक्ष मान लिया जाय तो उनका तपश्चरण करना, व्रत पालना आदि कुछ भी नहीं बन सकेगा। क्योकि अपने आत्मा का नाश करने के लिये अथवा अपने आत्मा के गुणोंका नाश करनेके लिये कोई भी मनुष्य व्रत वा तपका पालन नहीं करता। संसारमें जो तप और व्रतोंका पालन किया जाता है वह आत्माको दुर्गतसे बचाने के लिये और आत्माके गुणोकी वृद्धि करनेके लिये ही किया जाता है। अतः मानना चाहिये कि आत्माके गुणोका नाश होना मोक्षका स्वरूप नहीं है।

चार्वाक कहता है कि आत्मा ही कोई पदार्थ नहीं है, आत्माका ही सर्वथा अभाव है, फिर मोक्ष किसकी? परंतु चार्वाकका भी यह कहना ठीक नहीं है। इसीका खंडन करते हुये आचार्य कहते हैं कि आत्मा है और वह अनादिकालसे चला आ रहा है। कोई कोई लोग आत्माका अस्तित्व मानते तो हैं परंतु उस आत्माको ही मानते हैं—भूत और भविष्यत कालमें उसका अस्तित्व नहीं मानते। इसी बातका खंडन करनेके लिये आचार्य कहते हैं कि वह आत्मा अनादिकालसे चला आ रहा है।

अथवा यो कहना चाहिये कि यह आत्मा अनादिकालसे कर्मोंसे बंधा हुआ चला आ रहा है। संतान प्रति संतान रूपसे बंधे हुए कर्मोंके द्वारा बंधनबद्ध होता हुआ चला आ रहा है। इस कथनसे आचार्य ने सांख्यमत का खंडन किया है। सांख्यमतवाला मानता है कि आत्मा तो सदा मुक्त ही रहता है। वह आत्मा कभी कर्मबद्ध वा पापोंसे लिप्त नहीं होता। प्रकृति ही कर्मोंसे बद्ध वा पापोंसे लिप्त होती है और वही प्रकृति उन कर्मोंसे छूटती रहती है परंतु इसका खंडन करते हुए आचार्य कहते हैं कि आत्मा सदासे मुक्त नहीं है किन्तु अनादिकालसे कर्मबंधनबद्ध हो रहा है। इसलिये सांख्य का मानना सर्वथा अयुक्त है।

इसके सिवाय सांख्यमतवाला यह भी मानता है कि यह आत्मा कर्मोंको करता नहीं है किन्तु उन कर्मोंके फलोका भोक्ता अवश्य है। परंतु सांख्यमतका यह मानना भी सर्वथा अयुक्त है, क्योंकि जो कर्ता होता है वही भोक्ता होता है।

इसी बातको निरूपण करते हुये आचार्य कहते है कि वह अनादिकालसे चला आया आत्मा स्वय-अपने आप कर्मोंको करता है और फिर उससे जो सुख दुख रूप फल प्राप्त होते है उनको भोगता है। यह जीव अपने मन वचन कायकी जैसी प्रवृत्ति करता है—जैसी कषाय उत्पन्न करता है उसीके अनुसार अपने कर्मोंका बंध करता है और फिर समयानुसार जो कुछ उन कर्मोंका फल प्राप्त होता है वह उसे भोगता पड़ता है। इसप्रकार आत्माका यथार्थ स्वरूप कह कर आचार्यने बौद्ध-वैशेषिक-योग-साख्य-चार्वाक आदि सबका खंडन कर दिया है।

अब आचार्य यह दिखलाते हैं कि जब मोक्षका स्वरूप ऊपर लिखे अनुसार नहीं है तो फिर कैसा है? इसके उत्तरमें कहते हैं कि इस आत्माने जो कर्म स्वयं किये हैं उनका अत्यंत नाश हो जाने से ही मोक्षकी प्राप्ति होती है। उन कर्मोंका नाश उन कर्मोंका फल भोग लेने पर भी होता है और विना फल भोगे भी होता है—दोनों प्रकारसे होता है। परंतु उन कर्मोंका नाश हुये विना कभी भी मोक्ष प्राप्ति नहीं होती।

इसके सिवाय वह आत्मा ज्ञाता और दृष्टा है, ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग स्वभाव सहित है। अनेक लोग आत्माका स्वरूप जड–अचेतन मानते हैं अथवा केवल चैतन्यमात्र मानते हैं। इसका खडन करनेके लिये आचार्य कहते हैं कि आत्मा जड़ नहीं और न ज्ञानशून्य केवल चैतन्यमात्र है किन्तु आत्मा ज्ञाता और दृष्टा है—जानना और देखना उसका स्वभाव है। ज्ञान और दर्शन स्वभावको ही चैतन्य कहते हैं।

आत्माका परिमाण अपने शरीरप्रमाण रहता है, साख्य-मीमासक और योग मत वाले आत्माको व्यापक मानते हैं परंतु उनका यह कहना ठीक नहीं है। यदि सबका आत्मा व्यापक है और वह समस्त शरीरोंमें रहता है तो फिर सब जीवोंको एकसा ज्ञान होना चाहिये परंतु ऐसा तो होता नहीं है अतः सिद्ध होता है कि आत्मा व्यापक नहीं है किंतु शरीरके ही बराबर रहता है। कदाचित् यहा पर कोई यह शका करे कि यदि आत्मा अपने शरीरके ही बराबर है तो फिर जो आत्मा हाथीके शरीरमें हैं वह हाथीके शरीरके बराबर है फिर वह मरकर यदि चींटीके शरीरमें जन्म ले, अथवा कोई चींटीका जीव हाथीके शरीरमें जन्मे तो

वह अपना परिमाण कैसे बदल सकता है ? इसके उत्तरमें आचार्य कहते है कि जिसप्रकार किसी दीपकको छोटे घरमें रखदें तो उतने ही घरमें वह प्रकाश फैल जाता है और यदि उसी दीपकको बडे घरमें रखदें तो उसका प्रकाश फैलकर सब घरमें फैल जाता है। यदि उसी दीपकको घडे में रखदें तो उसका प्रकाश उतना ही रह जाता है और मैदान में टांगदे तो दूर तक फैल जाता है। जिस प्रकार दीपकके प्रकाशमें सकोच होने और फैलनेकी शक्ति है उसीप्रकार आत्माके प्रदेशोंमें भी संकोच और विस्तार होनेकी शक्ति है। अपने २ कर्मोंके उदयसे यह जीव जब जैसा छोटा या बडा शरीर पाता है तब उसी परिमाण हो जाता है। जब छोटा शरीर पाता है तब आत्माके प्रदेश संकुचित होकर उसी छोटे शरीर रूप हो जाते है और जब बडा शरीर पाता है तब वे ही प्रदेश विस्तृत होकर उस बडे शरीर रूप हो जाते हैं। बच्चेके शरीरमे आत्मा उतने ही परिमाण रूप है फिर शरीर बडा होने पर वे ही आत्मा के प्रदेश फैलकर उस बड़े शरीर रूप हो जाते है। यही कारण है कि शरीरके बढ़ जाने पर भी शरीरका कोई भी भाग ऐसा नहीं रहता जिसमें आत्मा न हो। इससे सिद्ध हो जाता है कि आत्माके प्रदेशोंमें संकोच विस्तार होने की शक्ति है। जब यह आत्मा कर्मोंके उदयसे छोटा शरीर पाता है तब उसके आत्माके प्रदेश सकुचित उसी शरीरके परिमाण हो जाते हैं तथा जब बडा शरीर पाता है तब वेही आत्मप्रदेश विस्तृत होकर उस बडे शरीर रूप हो जाते हैं।

इसके सिवाय वह आत्मा उत्पादव्ययध्रौव्य स्वरूप है। साख्य-मीमासक और यौग कहते हैं कि आत्मा सर्वथा नित्य है। सर्वथा नित्य होनेके कारण उस में उत्पादव्यय नही हो सकता परतु इन लोगोंका यह कहना ठीक नहीं है। क्योंकि एक आत्मा जो आज सुखी है वही आत्मा कल दुखी हो जाता है तथा जो आज दुखी है वह कल सुखी है इस प्रकार आत्मामें उत्पाद और विनाश स्पष्ट रीति से प्रतीत होता रहता है। अतः आत्मा सर्वथा नित्य नहीं है किन्तु उत्पाद व्ययध्रौव्य स्वरूप है। बौद्धमतवाला मानता है कि आत्माका स्वभाव ज्ञानरूप है तथा ज्ञानमें सदा उत्पाद–विनाश होता रहता है। कभी ज्ञान बढ़ता है, कभी ज्ञान घटता है अत. सर्वथा नित्य नहीं है किन्तु उत्पादव्यय स्वरूप है। बौद्धमतवाला आत्माको ध्रौव्य स्वरूप नहीं मानता परंतु उसका यह

मानना भी ठीक नहीं है—क्योंकि यदि आत्मामें ध्रौव्यपना न माना जायगा तो "मैं वही हू जो बालक अवस्थामें ऐसा था और कुमार अवस्थामें ऐसा था" यह जो प्रत्येक जीवको प्रत्यभिज्ञान होता है सो नहीं होना चाहिये। यदि आत्माको सर्वथा उत्पादव्यय स्वरूप ही माना जायगा ध्रौव्यरूप न माना जायगा तो फिर लेन देनका व्यवहार वा धरोहर रखने और लेनेका व्यवहार कभी नहीं हो सकेगा परंतु ये सब व्यवहार होते हैं और "मैं वही हू" यह प्रत्यभिज्ञान सबको होता है। इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि आत्मा ध्रौव्यस्वरूप है। इस प्रकार आत्माका स्वरूप उत्पाद व्यय और ध्रौव्यस्वरूप बतला कर आचार्यने सांख्य-मीमांसक-योग और बौद्धका खडन कर दिया है।

इसके सिवाय वह आत्मा अपने ज्ञानादिगुणों से सुशोभित होनेके कारण ही उसके निज स्वरूपकी प्राप्ति अथवा मोक्षकी प्राप्ति होती है। यदि आत्माको ज्ञानादिक गुण विशिष्ट न माना जायगा तो फिर उसके निज स्वरूपकी प्राप्ति वा मोक्षकी प्राप्ति भी कभी नहीं हो सकती ज्ञानावरणादिक कर्म आत्माके ज्ञानादिकगुणोंको ढक लेते हैं—उन कर्मोंके नाश होनेसे वे ज्ञानादिक गुण प्रगट हो जाते हैं। इसीको निजस्वरूप अथवा मोक्षकी प्राप्ति कहते हैं। इससे सिद्ध होता है कि आत्मा को ज्ञानादिक गुण विशिष्ट माननेसे ही मोक्षकी प्राप्ति हो सकती है अन्यथा कभी नहीं हो सकती!

आगे यह आत्मा स्वयभू कैसे बनता है? सो दिखलाते हैं—

स त्वन्तर्बाह्यहेतुप्रभवविमलसद्दर्शनज्ञानचर्या,
संपद्धेतिप्रघातक्षतदुरिततया व्यञ्जिताचिन्त्यसारैः ॥
कैवल्यज्ञानदृष्टिप्रवरसुखमहावीर्यसम्यक्त्वलब्धि,—
ज्योतिर्वातायनादिस्थिरपरमगुणैरद्भुतैर्भासमानः ॥ ३ ॥

अन्वयार्थौ— (स) वह आत्मा (अन्तर्बाह्यहेतुप्रभवविमलसद्दर्शनज्ञान-चर्यासंपद्धेतिप्रघातक्षतदुरिततया) दर्शनमोहनीय आदि कर्म का क्षयोपसमादि-रूप अंतरंग कारण और गुरूपदेश आदि बहिरंग कारणों से उत्पन्न होनेवाले तथा निर्मल ऐसे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, और सम्यक्चारित्र संपत्ति रूपी शस्त्र के प्रघातसे ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अतराय आदि कर्मोंके नाश हो जानेसे (व्यञ्जिताचिन्त्यसारैः) जिनकामाहात्म्य अचिंत्य है ऐसे प्रगट हुये

(केवल्यज्ञानदृष्टिप्रवरसुखमहावीर्यसम्यक्त्वलब्धिज्योतिर्वातायनादिस्थिरपरमगुणैः अद्भुतैः भासमानः तु "स्वयम्भूः भवति") केवलज्ञान, क्षायिक सम्यक्त्व, अनन्तसुख, अनन्तवीर्य, अनतदर्शन, अनतदान, अनतलाभ, अनतभोग, अनन्त उपभोग, भामंडल, चौसठ चमर और तीन छत्र आदि तथा आश्चर्यकारी अनन्तकाल रहनेवाले दूसरे अनत गुणों से दैदीप्यमान स्वयम्भू होता है ॥ ३ ॥

भावार्थः—दर्शनमोहनीयकर्मका उपशम क्षय और क्षयोपशम होना सम्यग्दर्शन उत्पन्न होनेके लिये अतरग कारण हैं तथा गुरुका उपदेश, जिनबिंबदर्शन, जातिस्मरण आदि बाह्य कारण हैं। इन अतरंग और बाह्य कारणोंके मिलनेसे सम्यग्दर्शन प्रगट होता है। सम्यग्ज्ञान उत्पन्न होनेके लिये दर्शनमोहनीय और ज्ञानावरण कर्मका क्षयोपशमादि होना अतरग कारण है और गुरुका उपदेश, स्वाध्याय, तीव्रबुद्धि आदि बाह्य कारण हैं। सम्यक्चारित्र उत्पन्न होनेके लिये मोहनीयकर्मकाक्षयोपशमादिक अतरंग कारण है और गुरु उपदेश शरीर सहनन आदि बाह्य कारण हैं। इन अतरग और बहिरग कारणोंके मिलनेसे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र प्रगट होते है तथा कर्मोंके विशेप क्षयोपशम होनेसे ये सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र अत्यत निर्मल हो जाते हैं। इस प्रकार ये निर्मल सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र आत्माकी सपत्ति है। कर्मोंका नाश करनेके लिये यही रत्नत्रयरूप सपत्ति आत्माका शस्त्र है। इस रत्नत्रयरूप शस्त्रके प्रबल प्रहारसे घातिया कर्म रूपी पाप बहुत शीघ्र नष्ट हो जाते हैं। यह आत्मा अपने रत्नत्रयरूप शस्त्रके प्रबल प्रहारसे जिससमय घातिया कर्मोंको नष्ट कर देता है उसी समय इस आत्माके केवलज्ञान, केवलदर्शन, अनतसुख, अनतवीर्य अत्यत निर्मल सम्यक्त्व, क्षायिकदान, क्षायिकलाभ क्षायिकभोग, क्षायिक उपयोग, यथाख्यातचारित्र, भामडल, चमर और आदि शब्द से छत्रत्रय आदि अनेक अनुपम विभूतिया प्राप्त होती है। ये ऊपर लिखी विभूतिया सिवाय घातिया कर्मोंको नाश करनेवाले अरहंतोंके अन्य किसीके भी प्राप्त नहीं हो सकती। इन विभूतियोसे ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य, सम्यक्त्व आदि विभूतिया तो आत्मस्वभाव रूप हैं और वे शाश्वत–नित्य हैं। फिर उनका नाश कभी नहीं होता। वे शुद्ध मुक्त स्वरूप आत्माके साथ सदा बनी रहती हैं तथा भामण्डल, छत्र, चमर, सिंसासन आदि विभूतिया देवोपनीत हैं। वे शरीरके साथ तक रहती हैं। ये समस्त विभू-

तिया अद्भुत हैं, इनका चिंतवन भी नहीं किया जा सकता। इन विभूतियोंका माहात्म्य अचिंत्य हैं। वह अचिंत्य माहात्म्य स्पष्ट-प्रगट दिखाई देता है।

जब यह आत्मा घातिया कर्मोंके नाश कर देने पर ऊपर लिखे अचिंत्य और परम गुणोंके द्वारा दैदीप्यमान होता है तभी यह आत्मा स्वयभू वा अरहंत बन जाता है।

यह आत्मा किन २ कामोको करता हुआ स्वयभू होता है-यही बात आगे दिखलातेहैं:—

जानन्पश्यन्समस्तं सममनुपरत संप्रतृप्यन्वितन्वन्,
धुन्वन्ध्वान्तनितान्तं निचितमनुपमं प्रीणयन्नीशभावम्।
कुर्वन्सर्वप्रजानामपरमभिभवन् ज्योतिरात्मानमात्मा,
आत्मन्येवात्मनासौ क्षणमुपजनयन्सत्स्वयम्भूः प्रवृत्तः ॥ ४ ॥

अन्वयार्थौ———(सत्स्वयम्भू प्रवृत्तः असौ आत्मा) स्वयमू अवस्थाको प्राप्त हुआ यह आत्मा (सम अनुपरत समस्त जानन् पश्यन्) एकसाथ निरतर सम्पूर्ण लोकालोक को जानता और देखता रहता है, (संप्रतृप्यन्) पूर्ण तृप्तिको प्राप्त हो जाता है, (वितन्वन्) अनन्तकाल तक अपनी आत्मा में ही व्याप्त रहता है, (निचित नितान्त ध्वान्तं धुन्वन्) पहले उपार्जन किये हुए और घोर ऐसे मोह रूपी अधकार का पूर्णरूप से नाश कर देता है, (अनुपम प्रीणयन्) बारह-सभामें बैठे हुए भव्यजीवो को अपने अमृत के समान वचनों से सतुष्ट करता है, (ईशभावं कुर्वन्) तीनों लोकोंके प्रभुत्वको प्राप्त हुआ (सर्वप्रजानां अपरमं ज्योतिः अभिभवन) समस्त प्रजाके मध्यमें विराजमान होकर अपनी केवलज्ञान रूपी ज्योति के द्वारा दूसरे लोगों से माने हुये ईश्वर की ज्ञान रूप ज्योति को अथवा अपने प्रभामण्डल के द्वारा सूर्यके प्रकाश को तिरस्कृत करता है, तथा यह स्वयभू स्वरूप आत्मा (आत्मानं) अपने आत्मा के स्वरूपको (आत्मना) अपने ही आत्मा के द्वारा (आत्मनिएव) अपने ही आत्मा में (क्षण उपजनयन्) प्रतिक्षण निमग्न रहते हुये अनुभव करता है।

तात्पर्य—परोपदेश की अपेक्षा न करके स्वतः ही मोक्षमार्ग को जानकर और तद्रूप आचरण करके अनतज्ञानादिरूप अवस्था को प्राप्त होता है ॥ ४ ॥

भावार्थः—स्वयंभू वा अरहंत होने पर यह अत्यंत शुद्ध आत्मा समस्त लोक-

अलोकको एकसाथ निरंतर जानता और देखता रहता है। कृतकृत्य हो जाने के कारण पूर्ण तृप्तिको प्राप्त हो जाता है। अनतकाल तक अपने आत्मामें लीन रहता है अथवा केवलज्ञानके द्वारा अनतकाल तक समस्त लोकालोकको जानता और देखता रहता है। मोहरूपी घोर अधकार को उसी समय पूर्णरूपसे नष्ट कर देता है। अपनी समवशरण रूप सभामें किंवा गंधकुटीरूप सभामें अमृतके समान दिव्यध्वनि रूपी वचनोंके द्वारा कल्याणमय उपदेश देकर भव्यजीवोंको अत्यत सतुष्ट करता है उनको अत्यंत आनदित करता है। तीनों लोकोका प्रभुत्व प्राप्त करता है तथा समस्त प्रजाके मध्यमें विराजमान होकर अपने केवल-ज्ञानके द्वारा अन्य लोगोंके द्वारा माने हुये ईश्वरके ज्ञानरूप तुच्छ ज्योतिको तिर-स्कृत करता है तथा अपने शरीर की अनुपम कान्तिसे सूर्यके प्रकाशको तिरस्कृत करता है। इसप्रकार ज्ञाता-दृष्टा तथा ऊपर लिखे अनुसार अपने आत्मस्वभाव को सिद्ध करनेवाला यह अरहंतरूप शुद्ध आत्मा अपने आत्माके स्वरूप को अपने ही आत्माके द्वारा अपने ही आत्मामें प्रतिक्षण निमग्न करता रहता है फिर वह अपने आत्माको अन्य किसी भी पदार्थमें नहीं लगाता इसप्रकार वह शुद्ध आत्मा विना किसी दूसरेके उपदेशकी अपेक्षाके अपने आप मोक्षमार्गको जानकर तथा उस मोक्षमार्गका अनुष्ठान कर अनन्त ज्ञानस्वरूप हो जाता है। उस समय उस परमशुद्ध आत्माको स्वयभू कहते हैं। जो अपने आप हो (स्वय भवतीति स्वयभू.) उसको स्वयभू कहते हैं। यह आत्मा भी अपने ही रत्नत्रय रूप गुणो के द्वारा अनन्तज्ञानी हुआ है—अरहत हुआ है। इसलिये भगवान् अरहत देव को स्वयभू कहते हैं।

यह स्वयंभू अवस्थाको प्राप्त हुआ आत्मा अतमें सिद्ध वा मुक्त होता है। यही बात आगे आचार्य दिखाते हैं:—

छिंदन् शेषानशेषान्निगलबलकलींस्तैरनतस्वभावैः,
सूक्ष्मत्वाग्र्यावगाहागुरुलघुकगुणैः क्षायिकैः शोभमानः ॥
अन्यैश्चान्यव्यपोहप्रवणविषयसंप्राप्तिलब्धिप्रभावै-
रूर्ध्वव्रज्यास्वभावात्समयमुपगतो धाम्नि संतिष्ठतेऽग्र्ये ॥ ५ ॥

अन्वयार्थौः—(शेषान् अशेषान्निगलबलकलीन्) भगवान अरहतदेवके जो बाकीके अघातिया कर्म लगे हुये हैं वे भी वेड़ियों के समान अत्यत कठिक

हैं ऐसे वेदनीय, नाम, गोत्र और आयु कर्म की मूल उत्तर समस्त प्रकृतियो को (छिंदन्) विदीर्ण करते हुये (सर्वदा नाश करते हुये) (ते. अनन्तस्वभावैः) वे भगवान अनन्तस्वभाव को धारण करनेवाले सम्यग्दर्शन, ज्ञान आदि गुणो से (शोभमान) शोभायमान होते हैं, इसके सिवाय (क्षायिकैः सूक्ष्मत्वाऽव्याबगाहागुरुलघुकगुणैः "शोभमानः") समस्त कर्मोंके अत्यंत क्षय होनेसे उत्पन्न होनेवाले सूक्ष्मत्व, अवगाहनत्व और अगुरुलघुत्व आदि परमगुणों से भी वे भगवान् शोभित होते हैं, (अन्यै. चान्यव्यपोहप्रवणविषयसंप्राप्तिलब्धिप्रभावैः) इन गुणो के सिवाय उत्तरोत्तर समस्त कर्म प्रकृतियों के नाश होनेसे जो आत्मा की विशुद्धता और आत्मा का निजस्वभाव प्रगट होता है उससे जिनका माहात्म्य वा प्रभाव खूब बढ़ गया है ऐसे चौरासी लाख उत्तरगुणों से भी वे भगवान सुशोभित होते हैं। (ऊर्ध्वं व्रज्यास्वभावात) शुद्ध आत्मा का स्वभाव ऊर्ध्वगमन करना है, अतः समस्त कर्मोंके नाश होने पर (समयमुपगतः) उसी ससयमें उसी कालके सबसे छोटे भागमें वे भगवान् (धाम्नि अग्र्ये) लोकाकाशके अग्रभाग पर (सतिष्ठते) जा विराजमान होते हैं।

भावार्थः— जिस मनुष्य शरीरसे यह जीव मुक्त होता है वह उस जीवका अतिम शरीर कहलाता है, उसको चरमशरीर कहते हैं। मुक्त होनेपर इस जीवका आकार चरमेशरीरके आकारसे भिन्न आकारका नहीं हो सकता, न तो वह समस्त लोकमें व्यापक ही हो सकता है और न वटवृक्षके वीजके समान अणुमात्र हो सकता है, क्योंकि वहा पर आकार बदलनेका कोई कारण नहीं है किंतु अतिम शरीरके परिणामसे कुछ कम आकार होनेमें कारण है और वह यह है कि ससार परिभ्रमणमें इस जीवका आकार कर्मोंके उदयसे बदलता था, अब कर्मो के नष्ट हो जानेसे आकार बदलनेवाला कोई कारण नहीं रहा। इसलिये मुक्त अवस्थामें जीवका आकार अतिमशरीरके आकार ही रहता है। तथा उसका परिणाम अतिमशरीरसे कुछ कम रहता है। क्योंकि शरीरके जिन २ भागोमें आत्मा के प्रदेश नहीं हैं—उतना परिमाण घट जाता है। शरीरके भीतर पेट नाक कान आदि भाग ऐसे हैं जिनमें (पोलेभागमें) आत्माके प्रदेश नहीं है। इसीलिये आचार्य कहते हैं कि अन्य ऐसे कारण हैं जिनसे यह सिद्ध हो जाता है कि मुक्त जीवका परिमाण अतिम शरीरके परिमाणसे कुछ कम है। यह कमी आकारकी

अपेक्षासे है नहीं ही किंतु घनफलकी अपेक्षासे है। तथा मुक्त अवस्थामें जीवका आकार अंतिम शरीरके आकारके समान अत्यत देदीप्यमान रहता है।

"एव" शब्द निश्चयवाचक है और 'हि" शब्द स्पष्टता सूचित करनेके लिये है। इससे सिद्ध होता है कि मुक्त अवस्थामें जीवका आकार अतिम शरीरके आकार है। तथा उसका परिमाण अंतिम शरीरसे कुछ कम है। मुक्त जीवका यह आकार व यह परिमाण निश्चित है, स्पष्ट है। इसके सिवाय अन्यकोई आकार तथा अन्यकोई परिमाण हो ही नहीं सकता। इसके सिवाय मुक्त अवस्थामें वह आत्मा अमूर्ति रहता हैं। रूप रस गंध स्पर्श और शब्द रूप पुद्गल परिणति को मूर्ति कहते हैं। ऐसी मूर्ति जिसके न हो उसे अमूर्ति कहते हैं। सिद्धोंमें रूप रस गन्ध स्पर्शरूप मूर्ति नहीं है। अतः वे अमूर्ति स्वरूप हैं। अथवा अमूर्त भी पाठ है, जिनके रूप रसादि रूप मूर्ति हो उनको मूर्त कहते है तथा जिनके ऐसी मूर्ति न हो उनको अमूर्त कहते हैं। उन सिद्ध परमेष्ठी की परिणति रूप रस गध स्पर्श स्वरूप नहीं है, इन से सर्वथा रहित है। अतः वे अमूर्त हैं।

इसके सिवाय वे भगवान क्षुधा, तृषा, श्वास, कास, ज्वर, मरण, जरा (बुढ़ापा) अनिष्ट योग, मोह, अनेक प्रकारकी आपत्तिया, तथा इनको आदि लेकर और भी अनेक प्रकारके घोर दुःख जिससे उत्पन्न होते हैं ऐसे ससारके परिभ्रमणको उन सिद्ध भगवान ने नाश कर दिया है, अथवा कर्मोंके नाश होने से वह संसार अपने आप नष्ट हो गया है। उस ससारके नष्ट होनेसे सिद्धोंको जो अनन्त सुखकी प्राप्ति हो गई है उस सुखका परिमाण भला कौन कर सकता है? अर्थात् कोई नहीं। सिद्धोका सुख अनन्त है। उसका परिमाण कभी किसी से नहीं हो सकता।

आगे सिद्धोंका वह सुख कैसा है सो दिखलाते हैः—

अन्याकाराप्तिहेतुर्न च भवति परो येन तेनाल्पहीनः।
प्रागात्मोपात्तदेहप्रतिकृतिरुचिराकार एव ह्यमूर्तः ॥
क्षुत्तृष्णाश्वासकासज्वरमरणजरानिष्टयोगप्रमोह-
व्यापत्त्यद्युग्रदुःखप्रभवभवहतेः कोऽस्य सौख्यस्य माता ॥ ६ ॥

अन्वयार्थौ— (येन अन्याकाराप्तिहेतुः न च भवति पर) क्योंकि मुक्तजीव को पुरुषाकारपना छोड़कर दूसरे आकारकी प्राप्ति का कारण नहीं रहने से वह

आत्मा (तेन अल्पहीनः प्रागात्मोपात्तदेहप्रतिकृतिरुचिराकारः हि अमूर्त्तः एव "भवति") पहले प्राप्त किये हुये चरम शरीरके आकार का परन्तु उस शरीर से किंचित न्यून, मनोहर और अमूर्त (रूप, रस, गध और स्पर्श से रहित) आकार का रहता है। तथा (क्षुत्तृष्णाश्वासकासज्वरमरणजरानिष्टयोगप्रमोह-व्यापल्याद्युग्रदुःखप्रभवभवहतेः) भूख, प्यास, श्वास, कास (खासी) ज्वर, मरण, बुढ़ापा, अनिष्टसम्बंध, अतिशयमोह और नाना प्रकारकी आपत्ति आदि भयंकर दु.खोंको उत्पन्न करनेवाले संसारका नाश हो जाने से (अस्य) सिद्ध परमेष्ठी के (सौख्यस्य) सुखकी (माता) मर्यादा का प्रमाण (कः) कौन कर सक्ता है ? अर्थात् कोई भी नहीं कर सकता है कारण कि वे सिद्ध भगवान अनंत सुखके भोक्ता हैं ॥ ६ ॥

भावार्थः—भगवान अरहतदेवके जो बाकीके अघातिया कर्म लगे हुये हैं वे भी वेड़ीके समान अत्यंत कठिन हैं। ऐसे वेदनीय नाम गोत्र और आयु कर्मकी मूल उत्तर समस्त प्रकृतियोंको विदीर्ण करते हुये-सर्वथा नाश करते हुये वे भगवान अनन्तस्वभाव को धारण करनेवाले सम्यग्दर्शन ज्ञान आदि गुणोंसे शोभायमान होते है।

इसके सिवाय समस्त कर्मोंके अत्यतक्षय होनेसे उत्पन्न होनेवाले सूक्ष्मत्व, अवगाहनत्व, और अगुरुलघु आदि परमगुणोंसे भी वे भगवान सुशोभित होते हैं। इन गुणोंके सिवाय उत्तरोत्तर समस्त कर्म प्रकृतियोंके नाश होनेसे जो आत्मा की विशुद्धता और आत्माका निजस्वभावप्रगट होता है उससे जिनका माहात्म्य वा प्रभाव खूब बढ़ गया है ऐसे चौरासी लाख उत्तरगुणोसे भी वे भगवान सुशोभित होते हैं। शुद्ध आत्माका स्वभाव ऊर्ध्वगमन करना है-इसलिये समस्त कर्मोंके नाश होने पर उसी समयमें उसी कालके सबसे छोटे भागमें वे भगवान लोकाकाशके अग्रभाग पर जा विराजमान होते हैं।

आगे बतलाते हैं कि सिद्ध अवस्थामें आत्माका परिमाण कितना रहता है? अतिम शरीरसे कम रहता है या अधिक ?

आत्मोपादानसिद्धं स्वयमतिशयवद्वीतबाधं विशालं,
वृद्धिह्रासव्यपेतं विषयविरहितं निःप्रतिद्वन्द्वभावम् ॥

अन्यद्रव्यानपेक्षं निरुपममभितं शाश्वतं सर्वकालं,
उत्कृष्टानन्तसारं परमसुखमतस्तस्य सिद्धस्य जातम् ॥ ७ ॥

अन्वयार्थौ— क्योंकि वे सिद्धपरमेष्ठी क्षुधादिबाधा से रहित (अतः) इसलिये (तस्यसिद्धस्य) उन सिद्धोंके (स्वय आत्मोपादानसिद्ध) स्वयं आत्मारूप उपादान कारणसे उत्पन्न होनेवाला, (अतिशयवत्) परम अतिशयरूप अवस्थाको प्राप्त, (वीतबाध) बाधारहित, (विशालं) सम्पूर्ण आत्मा के प्रदेशो में व्याप्त होकर रहनेवाला, (वृद्धिहासव्यपेतं) उत्कर्ष और अपकर्षसे रहित, (विषयविरहित) इन्द्रियजन्य विषयोंकी अपेक्षा न करनेवाला, (नि प्रतिद्वन्दभाव) प्रतिद्वन्दभाव रूप दुःखसे रहित, (अन्यद्रव्यानपेक्ष) सातावेदनीय आदि दूसरे पदार्थों की अपेक्षा नहीं करनेवाला, (निरुपम) उपमारहित, (अमित) अनत, (शाश्वत) अविनश्वर, (सर्वकाल) सर्वकालमें एकरूप रहनेवाला, (उत्कृष्टानन्तसारं) परमप्रकर्ष अवस्थाको प्राप्त और मर्यादारहित माहात्म्यवाला (परममुख) उत्कृष्टसुख (जात) उत्पन्न होता है ॥ ७ ॥

भावार्थ—भगवान् सिद्धपरमेष्ठीके जो सुख होता है वह केवल आत्मासे ही उत्पन्न होता है। अन्य किसी प्रकृति आदिसे उत्पन्न नहीं होता, अतः वह सुख अनित्य नहीं होता। वह सुख स्वयं अतिशय युक्त होता है। समस्त बाधाओसे रहित होता। अत्यत विशाल वा विस्तीर्ण होता है—आत्माके समस्त प्रदेशों मे व्याप्त होकर रहता है। वह सुख न कभी घटता है न बढ़ता है। वृद्धि और ह्रास दोनोंसे रहित होकर है। जिसप्रकार ससारिक सुख विषयोंसे उत्पन्न होता है उसप्रकार वह सिद्धों का सुख किसी विषयसे उत्पन्न नहीं होता, किन्तु सब प्रकार के विषयोसे रहित स्वाभाविक होता है। सुखका प्रतिद्वन्दी दुःख है। उन दु खो से वह सर्वथा रहित है। संसारी जीवोका सुख दुःखोसे मिला हुआ है परंतु सिद्धों का सुख सदा सुखरूप ही रहता है। ससारी जीवोंका सुख सातावेदनीयकर्मके उदयसे होता तथा पुष्पमाला, चदन, भोजन आदि बाह्य सामग्रीसे उत्पन्न होता है परंतु सिद्धोका सुख अन्य किसी द्रव्यकी अपेक्षा नहीं रखता है। वह सिद्धों का सुख उपमा रहित है। अनन्त है। विनाश रहित है। और इसीलिये वह सदा बना रहता है। उस सुखका माहात्म्य परमोत्कृष्ट है और अनन्तकालतक रहता है। वह सुख परमसुख कहलाता है अर्थात् इन्द्रादिकसे भी अत्यत अतिशययुक्त

वा बढ़कर है। जिन सिद्धोंका लक्षण वा उनके गुण पहले निरूपण कर चुके हैं और जो लोकाकाशके अग्रभाग पर विराजमान हैं ऐसे सिद्धोंका अनतसुख ऊपर लिखे अनुसार होता है।

अभिप्राय यह है कि सिद्धोंका सुख संसारी जीवोंके सुखोंसे अत्यत विलक्षण है। सिद्धोंका सुख वास्तविक सुख है और इसीलिये वह सर्वोत्तम है।

सासारिक सुख अन्नादिक साधनोंसे उत्पन्न होता है परंतु सिद्धोंका सुख किसी भी साधनकी अपेक्षा नहीं रखता। आगे यही दिखलाते हुए आचार्य कहते हैं:——

नार्थः क्षुत्तृट्विनाशाद्विविधरसयुतैरन्नपानैरशुच्या,
नास्पृष्टेर्गन्धमाल्यैर्न हि मृदुशयनैर्ग्लानिनिद्राद्यभावात् ॥
आतङ्कार्तेरभावे तदुपशमनसद्भेषजानर्थतावद्,
दीपानर्थक्यवद्वा व्यपगततिमिरे दृश्यमाने समस्ते ॥ ८ ॥

अन्वयार्थौः—(क्षुत्तृट्विनाशात्) क्षुधा और तृषा के नाश हो जाने के कारण सिद्धपरमेष्ठी को (विविधरसयुतैः अन्नपानैः) नाना प्रकारके रसमिश्रित अन्न पानकी (अर्थः न) कोई आवश्यक्ता नहीं है। (अशुच्याः अस्पृष्टेः) अशुचि के अभाव हो जानेके कारण (गन्धमाल्यैः न) सुगन्धित पदार्थों की और पुष्पोंकी आवश्यकता नहीं है।। (ग्लानिनिद्राद्यभावात्) ग्लानि और निद्रा आदि दोषोंके अभाव हो जाने के कारण (हि) निश्चयसे (मृदुशयनैः अर्थः न) कोमल शय्याकी आवश्यकता नहीं है। (व्यपगततिमिरे) जिस प्रकार अंधकार के नष्ट हो जाने पर (वा समस्ते दृश्यमाने) और सम्पूर्ण पदार्थ स्पष्ट दीखने पर (दीपानर्थक्यवत्) दीपक की कोई आवश्यकता नहीं रहती है उसी प्रकार (आतङ्कार्तेरभावे) भयंकर रोगादिके कारण होनेवाली पीड़ा के अभाव होनेपर (तदुपशमनसद्भेषजानर्थतावत्) उसको शात करनेवाली औषधि आदि की कोई आवश्यकता नहीं लगती है।

तात्पर्य-सिद्ध जीवोंका सुख आत्मोत्थान होने के कारण बाह्य पदार्थो की आवश्यकता नहीं पड़ती है ॥ ८ ॥

तादृक्सम्पत्समेता विविधनयतपः संयमज्ञानदृष्टि,-
चर्यासिद्धाः समन्तात्प्रविततयशसो विश्वदेवाधिदेवाः ॥

भूता भव्या भवन्तः सकलजगति ये स्तूयमाना विशिष्टैः,
तान्सर्वान्नौम्यनंतान्निजिगमिषुररं तत्स्वरूपं त्रिसन्ध्यम् ॥ ९ ॥

अन्वयार्थौ—(ये तादृक् सम्यत्समेताः) जो अनन्तज्ञानादि सम्पत्ति से युक्त, (विविधनयतपः सयमज्ञानदृष्टिचर्यासिद्धाः) नैगमादिक नानाप्रकार के नय, बारह तप, सामायिकादि पाच सयम, मतिज्ञानादि पाचज्ञान, तत्त्वार्थ श्रद्धान-लक्षण सम्यग्दर्शन और तेरहप्रकारको चारित्र, इन सबके निमित्तसे कृतकृत्य अवस्थाको प्राप्त, (समन्तात्प्रविततयशसः) जिनका यश तीनों लोकोमे व्याप्त है, (विश्वदेवाधिदेवाः) जो सम्पूर्ण देवोंके देव हैं, (विशिष्टैः स्तूयमानाः) जिनकी भव्यजीव स्तुति करते है ऐसे (भूताः भव्या' भवन्त) पहले जो हो गये, वर्तमानकालमें होते हुये और आगामी कालमें होने वाले (सकलजगति) सम्पूर्ण जगतके जो सिद्ध हैं (तान् अनन्तान् सर्वान्) उन अनन्त सर्व सिद्धो को (तत्स्वरूप निजिगमिषुरर,) उनके अनन्तगुणोको प्राप्त करनेकी इच्छा करनेवाला मे (त्रिसन्ध्य) तीनों काल (नौमि) वंदना करता हू (नमस्कार करता हू) ॥ ९ ॥

भावार्थः—जिसप्रकार किसी जीवके प्राण हरण करनेवाली व्याधि की कोई पीड़ा वा दुःख न हो तो फिर उसके लिये पीड़ाको शात करनेवाली किसी भी श्रेष्ठ औषधिकी आवश्यकता नहीं होती अथवा जिस समय अधकार का सर्वथा अभाव हो और समस्त पदार्थ स्पष्ट दिखाई दे रहे हो उस समय दीपककी कोई आवश्यकता नहीं होती। उसी प्रकार उन सिद्ध भगवान् के क्षुधा और तृषाका सर्वथा नाश हो गया है इसलिये उनको अनेक प्रकारके रसोंसे परिपूर्ण ऐसे अन्नजलकी कोई आवश्यकता नहीं होती तथा सिद्धोंके किसी भी प्रकारकी अपवित्रताका स्पर्श नहीं होता इसलिये उनको केशर वा चन्दन वा पुष्पमाला आदिकी कोई आवश्यकता नहीं होती। इसी प्रकार उन सिद्ध भगवानके ग्लानि वा थकावटका सर्वथा अभाव है, निद्राका सर्वथा अभाव है, और ज्वरादिक रोगोका सर्वथा अभाव है। अतः उन्हे कोमलशय्याकी भी कोई आवश्यकता नहीं होती।

अर्थात् सिद्धोंका सुख ससारी जीवोंके सुख के समान भोगोपभोग की सामग्री से उत्पन्न नहीं होता, अतः उनके सुखमें किसी भी बाह्य सामग्रीकी आवश्यकता नहीं होती। उनका सुख स्वाभाविक सुख होता है और केवल स्वात्मजन्य

होता है। इसीलिये वह सदा एकसा अनंत स्वरूप बना रहता है।

आगे सिद्धोंका स्वरूप कहते हुये उनको नमस्कार करते हैं—

—आर्या—

कृत्वा कायोत्सर्गं चतुरष्टदोषविरहितं सुपरिशुद्धम्।
अतिभक्तिसंप्रयुक्तो यो वंदते स लघु लभते परमसुखम्॥

अन्वयार्थौ—(चतुरष्टदोषविरहित) बत्तीसदोषरहित (कायोत्सर्गं) कायोत्सर्गको (कृत्वा) करके (य.) जो (अतिभक्तिसंप्रयुक्तः) अत्यंत भक्ति सहित (सुपरिशुद्ध) शुद्धात्म स्वरूप परमेष्ठीको (वदते) वदना करता है (सः) वह (लघु) शीघ्र (परमसुख) परमसुख (मोक्ष) को (लभते) प्राप्त करता है।

भावार्थ—वे सिद्ध भगवान् अनत ज्ञान आदि अनेक उत्तम गुणोंसे सुशोभित है। नैगम, संग्रह आदि अनेक प्रकारके नयोंके द्वारा कृतकृत्य हो चुके हैं, अनशन आदि बारह प्रकारके तपश्चरणके द्वारा कृतकृत्य हो चुके हैं, सामायिक आदि पाच प्रकारके सयमसे कृतकृत्य हो चुके हैं, मतिज्ञान आदि पांच प्रकारके ज्ञानोंसे कृतकृत्य हो चुके हैं, तत्त्वोंके श्रद्धान करने रूप सम्यग्दर्शनके द्वारा कृतकृत्य हो चुके हैं और तेरह प्रकारके चारित्रके द्वारा कृतकृत्य हो चुके हैं। इसके सिवाय उनका यश चारों ओर फैल रहा है, वे समस्त देवोंके अधिदेव वा स्वामी कहे जाते है और तीनों लोकोंमें समस्त भव्य जन जिनको सदा नमस्कार करते रहते हैं अथवा जिनकी स्तुति करते रहते हैं ऐसे भूतकाल में होनेवाले, भविष्यत् कालमें होनेवाले और वर्तमानकालमें होनेवाले समस्त अनन्तानन्त सिद्धोंको मै उन सिद्धोंके स्वरूपको बहुत शीघ्र ही प्राप्त करनेकी इच्छासे प्रात काल मध्याह्नकाल और सायंकाल तीनो समय नमस्कार करता हूं।

सिद्धपरमेष्ठी अनन्तज्ञानी हैं, कृतकृत्य हैं, देवाधिदेव हैं और इन्द्र चक्रवर्ती तीर्थंकर आदि समस्त महापुरुषोंके द्वारा वदनीय हैं ऐसे समस्त सिद्धोंको मैं उनके स्वरूपकी प्राप्तिके लिये नमस्कार करता हू।

इच्छामि भंते सिद्धिभत्ति काउस्सग्गो कओ तस्सालोचेउं सम्मणाणसम्मदंसण सम्मचारित्तजुत्ताणं अट्टविहकम्मविप्पमुक्काणं अट्ठगुणसंपण्णाणं उड्ढलोयमज्झयम्मि पयट्ठियाणं तवसिद्धाणं णयसिद्धाणं संजमसिद्धाणं अतीताणागदवट्टमाणकालत्तयसिद्धाणं सव्वसिद्धाणं मया णिच्चकालं अंचेमि वदामि

पूजेमि णमंस्सामि दुक्खवओ कम्मक्खाओ वोहिलाओ सुगइगमणं समाहि- मरणं जिणगुणसंपत्ति होउ मज्झं ॥

छाया—इच्छामि भगवन् सिद्धभक्ति कायोत्सर्गः कृतस्तमालोचयितु सम्यग्ज्ञानसम्यग्दर्शनसम्यक्चारित्रयुक्तान् अष्टविधकर्मविप्रयुक्तान् अष्टगुणसंपन्नान् ऊर्ध्वलोकमस्तकप्रस्थितान् तप सिद्धान नयसिद्धान् सयमसिद्धान् चरित्रसिद्धान् अतीतानागतवर्तमानकालत्रयसिद्धान् सर्वसिद्धान् सदा नित्यकाल अर्चामि वंदे पूजये नमस्यामि दुःखक्षयः कर्मक्षयः बोधिलाभः सुगतिगमन समाधिमरणं जिन गुणसम्पत्तिर्भवतुमह्यम् ॥

अर्थः—हे भगवन् ! सिद्धभक्ति करनेके अनन्तर जो मैने कायोत्सर्ग किया है उसमें लगे हुये दोपोकी आलोचना करने की मै इच्छा करता हू। जो सिद्धभगवान सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र सहित हैं, आठों कर्मोसे रहित हैं, सम्यक्त्व आदि आठ गुणोंसे सुशोभित हैं, जो ऊर्ध्वलोकके मस्तकपर जाकर विराजमान हैं, जो तपश्चरणसे सिद्ध हुये है, नयोंसे सिद्ध हुये हैं, सयमसे सिद्ध हुये हैं, चारित्रसे सिद्ध हुये हैं, जो भूतकाल, भविष्यत्काल और वर्तमानकाल तीनों कालोंसे सिद्ध हुये है ऐसे सिद्धोंकी मै सदा हर समय पूजा करता हू, वदना करता हू, अर्चा करता हूं और नमस्कार करता हू। मेरे दुःखोंका नाश हो कर्मों का नाश हो, मुझे रत्नत्रयकी प्राप्ति हो, श्रेष्ठगतिकी प्राप्ति हो, समाधिमरणकी प्राप्ति हो और भगवान जिनेन्द्रदेवके गुणोंकी प्राप्ति हो।

॥ इति सिद्धभक्तिः ॥

अथ सिद्धभक्तिः [प्राकृत]

अट्ठविहकम्ममुक्के अट्ठगुणड्ढे अणोवमे सिद्धे। अट्ठमपुढविणिविट्ठे णिट्ठियकज्जे य वंदिमो णिच्चं ॥ १ ॥ तित्थयरेदरसिद्धे जलथलआयासणिव्वुदे सिद्धे। अंतयडेदरसिद्धे उक्कस्सजहण्णमज्झिमोगाहे ॥ २ ॥ उड्ढमहतिरिय-

लोए छव्विहकाले य णिव्वुदे सिद्धे । उवसग्गणिरुवसग्गे दीवोदहिणिव्वुदे य वंदामि ॥ ३ ॥ पच्छायडेय सिद्धे दुगतिगचदुणाण पंचचदुरजमे । परिवडिदापरिवडदे सजंमसम्मत्तणाणमादीहिं ॥ ४ ॥ साहरणासाहरणे सम्मुग्धादेदरे य णिव्वादे । ठिदपलियंकणिसण्णे विगयमले परमणाणगे वंदे ॥ पुंवेद वेदंता जे पुरिसा खवगसेढिमारुढा । सेसोदयेण वि तहा ज्झाणुवजुत्ता य ते दु सिज्झंति । पत्तेयसयं बुद्धावोहियबुद्धा य होंति ते सिद्धा । पत्तेयं पत्तेय समये समयं पणिवदामि ॥ ७ ॥ पणणवदु अट्ठवीसा चउतियणवदीय दोण्णि पचेव । वावण्णहीणवियसय पयडिविणासेण होंति ते सिद्धा ॥ ८ ॥ अइसयमव्वावाह सोक्खमणंतं अणोवमं परमं । इंदियविसयातीदं अप्पत्तअच्चव च ते पत्ता ॥ ९ ॥ लोयग्गमत्थयत्था चरमसरीरेण ते हु किंचूणा । गयसित्थमूसगब्भे जारिस आयार तारिमायारा ॥ १० ॥ जरमरणजम्मरहिया ते सिद्धा मम सुभत्तिजुत्तस्स । देतु वरणाणलाहं बुहयण परिपत्थणं परमसुद्धं ॥ ११ ॥ किच्चा काउस्सग्गं चउरट्ठय दोसविरहियं सुपरिसुद्धं । अइभत्तिसंपउत्तो जोवदइ लहु लहइ परमसुह ॥ १२ ॥ संसारचक्रगमनागतिविप्रमुक्तान् । नित्यं जरमरणजन्मविकारहीनान् ॥ देवेन्द्रदानवगणैरभिपूज्यमानान् । सिद्धांस्त्रिलोकमहितान् शरणं प्रपद्ये ॥ १ ॥ अमरीग जीवघणा उवजुत्ता दंसणे य णाणे य । सायारमणायार लक्खणमेयं तु सिद्धाणं ॥ २ ॥ मूलुत्तरपयडीणं बंधोदयसत्तकम्मउम्मुक्का । मंगलभूदा सिद्धा अट्ठगुणातदिसंसारा ॥ ३ ॥ अट्ठविहकम्मवियला सीदीभूदा णिरंजणा णिच्चा । अट्ठगुणा किदकिच्चा लोयग्गणिवासिणो सिद्धा ॥ ४ ॥ सिद्धा णट्ठमला विसुद्धबुद्धीय लद्धसब्भावा । तिहुयणसिरसेहरया पसियंतु भंडारया सव्वे ॥ ५ ॥ गमणागमणविमुक्के विहडियकम्मपयडिसंघाए । सासयसुहसंपत्ते ते सिद्धा वंदिमो णिच्चं ॥ ६ ॥ जयमंगलभूदाणं विमलाणं णाणदंसणमयाणं । तइलोयसेहराण णमो सया सव्वसिद्धाणम् ॥ ७ ॥ संमत्त णाण दसण वीरियसुहुमं तहेव अवगहणं । अगुरुलहुमव्वावाहं अट्ठगुणा होंति सिद्धाणं ॥ ८ ॥ तवसिद्धे णयसिद्धे संजमसिद्धे चरित्तसिद्धे य । णाणम्मि दंसणम्मि य सिद्धे सिरसा णमंसामि

कृत्वा कायोत्सर्गं चतुरष्टदोषविरहितं सुपरिशुद्धम्। अतिभक्तिसंप्रयुक्तो यो वदते स लघु लभते परमसुखम् ॥ १ ॥ इच्छामि भंते सिद्धिभत्ति काउस्सग्गो कओतस्सालोचेउं सम्मणाणसम्मदंसणसम्मचारित्तजुत्ताणं अट्ठविहकम्मविप्पमुक्काणं अट्ठगुणसंपण्णाणं उड्ढलोयमच्छयम्मि पयट्ठियाणं तवसिद्धाणं णयसिद्धाणं संजमसिद्धाणं अतीताणागदवट्टमाणकालत्तयसिद्धाणं सव्वसिद्धाणं सया णिच्चकालं अंचेमि वंदामि पूजेमि णमंस्सामि दुक्खक्खओ कम्मक्खओ बोहिलाहो सुगइगमणं समाहिमरणं जिणगुणसंपति होउ मज्झं।

श्री श्रुतभक्तिः ॥

स्तोष्ये संज्ञानानि परोक्षप्रत्यक्षभेदभिन्नानि।
लोकालोकविलोकनलोलितसल्लोकलोचनानि सदा ॥ १ ॥

अन्वयार्थ—(लोकालोकविलोकनलोलितसल्लोकलोचनानि) लोक और अलोकको देखनेके लिये उत्कण्ठित हुये सम्यग्दृष्टियोंके लिये लोचन [नेत्र] समान (परोक्षप्रत्यक्षभेदभिन्नानि) परोक्ष और प्रत्यक्ष इसप्रकार दो भेदरूप—मति, श्रुत, [परोक्ष] अवधि, मनः पर्यय, [विकलप्रत्यक्ष] और केवलज्ञान [सकलप्रत्यक्ष] (सज्ञानानि) इन पाच नामक सम्यग्ज्ञानोंकी मै (सदा) सर्वदा (स्तोष्ये) स्तुति करता हू।

भावार्थ—सम्यक् (ज्ञान) कहनेसे मिथ्याज्ञानका निषेध हो जाता है। लोकाकाशमें भरेहुए जीव अजीव आदि समस्त पदार्थोंको प्रकाशित करनेवाला एक सम्यग्ज्ञान है। इसीलिये मै सम्यग्ज्ञानकी स्तुति करता हू।

मतिज्ञानकी स्तुति—

अभिमुखनियमितबोधनमाभिनिबोधिकमनिन्द्रियेन्द्रियजं।
बह्वाद्यवग्रहादिककृतषट्त्रिंशत्त्रिशतभेदम् ॥ २ ॥
विविधर्द्धिबुद्धिकोष्ठस्फुटबीजपदानुसारिबुद्धयधिकं।
संभिन्नश्रोतृतया सार्धं श्रुतभाजनं वन्दे ॥ ३ ॥

अन्वयार्थ—(अभिमुखनियमितबोधन) योग्य देश और योग्यकाल में स्थित नियमित पदार्थको जाननेवाले ज्ञानको (आभिनिबोधिक) आभिनिबोधिक–मतिज्ञान कहते हैं, वह मतिज्ञान (अनिन्द्रियेन्द्रियज) पाच इन्द्रिय और मनसे उत्पन्न होता है तथा (बह्वाद्यवग्रहादिककृतषट्त्रिंशत् त्रिशतभेद) बहु बहुविध आदि बारह प्रकार के पदार्थोंका अवग्रहादि रूप ज्ञान होनेसे तीनसौ छत्तीस (३३६) भेद वाला है उसको (वन्दे) वदना करता हू तथा (विविधर्द्धिबुद्धिकोष्ठस्फुटबीजपदानुसारिबुद्धयधिकं) नानाप्रकारकी ऋद्धि कोष्ठबुद्धि, बीजबुद्धि, पदानुसारिणी बुद्धिरूप और (सभिन्नश्रोतृतया सार्धं) सभिन्न श्रोतृताबुद्धि सहित (श्रुतभाजन) श्रुतज्ञानको (वदे) मैं वंदना करता हू।

भावार्थ.—मतिज्ञानको आभिनिबोधिक ज्ञान कहते हैं। लिखा भी है–"मतिः स्मृति. सज्ञाचिंताभिनिबोध इत्यनर्थान्तरम्" अर्थात् मति, स्मृति, संज्ञा (प्रत्यभिज्ञान) चिंता (तर्क) आभिनिबोध (अनुमान) ये सब एक ही मतिज्ञानके वाचक हैं। यह आभिनिबोधिक संज्ञा सार्थक है। ज्ञानके लिये जो योग्य देश, काल और ग्रहणकरने योग्य सामग्री है उसको 'अभि' कहते हैं। 'नि' शब्दका अर्थ नियम है। जैसे–चक्षुके द्वारा रूपका ज्ञान होता है, नाकके द्वारा गंधका ज्ञान होता है, कानके द्वारा शब्दका ज्ञान होता है, जिह्वासे रस का ज्ञान होता है, स्पर्शन इन्द्रियसे स्पर्शका ज्ञान होता है। इन सबका पृथक् पृथक् इन्द्रियोंसे जो नियमित रीतिसे ज्ञान होता है उसको 'निबोध' कहते हैं। इसप्रकार योग्य स्थानपर योग्यकालमें निर्दोष इन्द्रियोंमे जो पदार्थोंका ज्ञान होता है उसको मतिज्ञान कहते हैं।

मतिज्ञानके भेद—

अवग्रह, ईहा, अवाय, धारणा ये चार भेद हैं। इनमेंसे प्रत्येकके बहु, बहुविध, एक, एकविध, शीघ्र, देरसे, नि.सृत (प्रगट) अनिःसृत (अप्रगट) उक्त, अनुक्त, ध्रुव, अध्रुव ये बारह विषय होते हैं। इस हिसाबसे (१२×४=४८) अड़तालीस भेद हो जाते हैं। ये सब पाच इन्द्रिय और मनसे उत्पन्न होते हैं, अतः इनसे गुणा कर देनेसे (४८×६=२८८) दोसौ अठासी भेद होते हैं। ये अर्थावग्रह के भेद हैं। व्यञ्जनावग्रहका (अप्रगट पदार्थका) केवल अवग्रह ही होता है। ईहा, अवाय, धारणा नहीं होते तथा वह आखसे और मनसे नहीं होता। इस

प्रकार उसके (१२×४=४८) अड़तालीस भेद होते हैं। दोनों मिला कर (२८८+४८=३३६) तीनसौ छत्तीस भेद होते हैं।

इसके सिवाय वह मतिज्ञान अनेक ऋद्धियोंसे सुशोभित है। तपश्चरणादिक के द्वारा मतिज्ञानावरण कर्म का विशेष क्षयोपशम होनेसे ये ऋद्धिया उत्पन्न होती हैं। वे ऋद्धिया नीचे लिखे अनुसार हैं--

कोष्ठ बुद्धि--जिसप्रकार भंडारी एक ही कोठेमें अनेक प्रकारके धान्य रखता है तथा उनको नष्ट भी नहीं होने देता। उसीप्रकार अपनी बुद्धिमें अनेक ग्रथोकी धारणा रखता है, उनकी अलग अलग अवस्था रखता है तथा किसी भी धारणाको नष्ट नहीं होने देता। ऐसी कोठेके समान बुद्धिकी प्राप्तिको कोष्ठबुद्धि ऋद्धि कहते हैं।

वीजवुद्धि--जिसप्रकार अच्छे खेतमें कालके अनुसार वोया हुआ एक वीज भी अनेक धान्य उत्पन्न कर देता है उसीप्रकार वीजके समान एक पदके ग्रहण करनेसे ही जिस बुद्धिके द्वारा अनेक पदार्थोंका ज्ञान हो जाय-उस बुद्धिको बीज बुद्धि कहते हैं।

पदानुसारिबुद्धि-जिसबुद्धिमें किसी ग्रथका पहला पद अथवा अतका पद ग्रहण करनेमात्रसे समस्त ग्रथका ज्ञान हो जाय, ऐसी बुद्धिकी ऋद्धिको पदानुसारि ऋद्धि कहते हैं।

मभिन्नश्रोतृता--एक ही साथ अनेक शव्द होते हो उन सबको एक साथ अलग अलग जिस विशेष बुद्धिके द्वारा जान सकते हैं उस बुद्धिकी ऋद्धि को ममिन्नश्रोतृता ऋद्धि कहते हैं। चक्रवर्तीकी सेना बारह योजन लम्बे और नौ योजन चोड़े मैदानमें रहती है। उसमें हाथी, घोड़ा, ऊट, मनुष्य आदि सभी एक साथ वोलते हैं उन सबकी अक्षररूप और अनक्षररूप भाषाको एक साथ अलग अलग जान लेना इस ऋद्धिका काम है। ऐसी ऋद्धि इसी जन्ममें अथवा पहले जन्ममें उपार्जित किये हुये तप विशेष क्षयोपशम होने के कारण होती है। इस प्रकार ये चार बुद्धि ऋद्धि कहलाती हैं। इनमें बुद्धिकी विशेषता है, तपश्चरणसे उत्पन्न होनेवाली शक्तिकी मुख्यता है। इसलिये इनका वर्णन अलग किया है।

इसके सिवाय वह मतिज्ञान श्रुतज्ञानका कारण है। मतिज्ञानसे ही श्रुतज्ञान

उत्पन्न होता है। लिखा भी है---"श्रुत मतिपूर्वं" इत्यादि। अर्थात श्रुतज्ञान मतिपूर्वक ही होता है। इन ऊपर लिखे समस्त भेदोंसे और ऋद्धियों से सुशोभित ऐसे मतिज्ञानके लिए मै नमस्कार करता हूं।

श्रुतज्ञानकी स्तुति-----

श्रुतमपि जिनवरविहितं गणधररचितं द्व्यनेकभेदस्थम्।
अङ्गागबाह्यभावित्तमनन्तविषयं नमस्यामि ॥ ४ ॥

अन्वयार्थ---(जिनवरविहितं) जिनेन्द्र भगवान के द्वारा कथित (गणधररचित) गणधरों द्वारा रचित (अगांगबाह्यभावित) अग और अंगबाह्य सहित (द्व्यनेकभेदस्थं) दो और अनेक भेद रूप (अनन्तविषय) अनन्तपदार्थोंको विषय करनेवाले (श्रुतं अपि) श्रुतज्ञानको भी (नमस्यामि) नमस्कार करता हू।

भावार्थः---मै केवल मतिज्ञानको ही नमस्कार नही करता किन्तु उस श्रुतज्ञानको भी नमस्कार करता हू कि जो श्रुतज्ञान अर्थरूपसे श्रीजिनेन्द्रदेवने निरूपण किया है तथा अर्थ और पदरूपसे जिसकी अग-पूर्व रूप रचना गणधर देवोंने की है। जिस श्रुतज्ञानके दो भेद हैं और अनेक भेद हैं। उनमेंसे श्रुतज्ञान के दो भेद अंग और अगबाह्य हैं तथा द्रव्यश्रुतज्ञान और भावश्रुतज्ञानके भेदसे श्रुतज्ञानके अनेक भेद हैं। शब्द रूप ज्ञानको द्रव्यश्रुत कहते हैं और उनसे जो पदार्थज्ञान होता है उसको भावश्रुत कहते हैं। उसश्रुतज्ञानका विषय अनत पदार्थोंसे भरा हुआ यह समस्त लोकाकाश है। ऐसे श्रुतज्ञान को मै नमस्कार करता हूं।

भावश्रुतज्ञान---

पर्यायाक्षरपदसंघातप्रतिपत्तिकानुयोगविधीन्।
प्राभृतकप्राभृतक प्राभृतकं वस्तुपूर्वं च ॥ ५ ॥
तेषां समासतोऽपि च विंशतिभेदान्समश्नुवानं तत्।
वदे द्वादशधोक्तं गंभीरवरशास्त्रपद्धत्या ॥ ६ ॥

अन्वयार्थ---(पर्यायाक्षरपदसंघातप्रतिपत्तिकानुयोगविधीन् प्राभृतकप्राभृतक प्राभृतकं च वस्तुपूर्वं) पर्याय, पर्यायसमास, अक्षर, अक्षरसमास पद, पदसमास, संघात, सघातसमास, प्रतिपत्ति, प्रतिपत्तिसमास, अनुयोग, अनुयोगसमास, प्राभृतप्राभृत, प्राभृतप्राभृतसमास, प्राभृतक, प्राभृतकसमास, वस्तु, वस्तुसमास,

पूर्व और पूर्वसमास, रूप जो भेद, है (तेषा समसतः अपि च) उन [पर्याया-दिक का सक्षेपसे ही जिसमें समावेश है ऐसे (विंशतिभेदान् समश्नुत्रानं) वीस भेद सहित तथा (गंभीरवरशास्त्रपद्धत्या द्वादशधोक्तं) गमीरश्रेष्ठ जिनवाणीकी पद्धतिसे बारह प्रकारका कहा गया जो (ततश्रुत) वह श्रुतज्ञान है उसको (वदे) वदना करता हू ।

भावार्थ -पर्यायादिक श्रुतज्ञानके वीस (२०) भेद है । इनका अन्तर्भाव द्वादशाग श्रुतज्ञानमें हो जाता है । वीस भेदोंका वर्णन नीचे लिखे अनुसार है-

१--पर्याय- सूक्ष्मनित्यनिगोदके लब्ध्यपर्याप्त जीवके पहले समय में जो श्रुतज्ञान होता है, उसको **पर्याय श्रुतज्ञान** कहते हैं । यह ज्ञान सबसे जघन्य होता है-लब्ध्यक्षर इसका नाम है । श्रुतज्ञानावरणकर्मके क्षयोपशमको लब्धि[१] कहते हैं । जिस ज्ञानका कमी नाश न हो उसको **अक्षर** कहते हैं । यह ज्ञान सदा बना रहता है । इसका कमी आवरण नहीं होता । यह ज्ञान एक अक्षरके अनन्तवें भाग होता है । इसीलिये यह ज्ञान सबसे जघन्य कहा जाता है । यह ज्ञान सदा आवरण रहित रहता है । अतएव इतना ज्ञान सदा बना रहता है । यदि इसका मी अभाव मान लिया जाय तो जीवका नाश ही हो जाय, क्योकि उपयोग ही जीवका लक्षण है । यदि उसका भी नाश मान लिया जायगा तो जीवका ही अभाव हो जायगा । इसलिये जीवके कमसे कम इतना ज्ञान अवश्य रहता है । सो ही लिखा है-

सुहुमणिगोदअपज्जत्तस्स जादस्स पढमसमयह्मि ।
हवदि हु सव्वजहण्णं णिच्चुग्घाडं णिरावरणं ॥

(गोम्मटसार जीवकाड गा० ३१९)

२ **पर्यायसमास**-जब पर्याय श्रुतज्ञान अनतभागवृद्धि, असख्यात भाग-वृद्धि, सख्यातभागवृद्धि, सख्यातगुणवृद्धि, असंख्यातगुणवृद्धि, अनतगुणवृद्धि-इसप्रकार षट्गुणीवृद्धि होते होते जब असख्यातलोकप्रमाण हो जाता है तब उस को पर्यायसमासज्ञान कहते हैं । अक्षरश्रुतज्ञानसे पहले तक **पर्यायसमास** कह-लाता है

१-क्षयोपशमजन्यविशुद्धिर्लब्धि

३—**अक्षरश्रुतज्ञान**—अकार आकार आदि अक्षररूप श्रुतज्ञान को **अक्षरश्रुतज्ञान** कहते हैं।

४—**अक्षरसमास**—अक्षर श्रुतज्ञानसे ऊपर पद श्रुतज्ञानसे नीचे जो श्रुतज्ञानके भेद हैं-उनको **अक्षरसमास** कहते हैं।

५—**पदश्रुत**—अक्षर श्रुतज्ञानसे आगे क्रम क्रमसे अक्षरोंकी वृद्धि होते होते जब सख्यात अक्षरोंकी वृद्धि हो जाती है तब उस ज्ञानको **पदश्रुतज्ञान** कहते हैं।

६—**पदसमास**—पद श्रुतज्ञानसे आगे संघात श्रुतज्ञान होने तक श्रुतज्ञानके जितने भेद हैं उन सबको **पदसमास** कहते हैं।

७—**संघात**—एक पदज्ञानके आगे एक एक अक्षरकी वृद्धि होते होते जब संख्यात हजार पदोंकी वृद्धि होती है तब यह **संघात ज्ञान** होता है। यह ज्ञान चारों गतियोंमेंसे किसी एक गतिका वर्णन कर सकता है।

८—**संघातसमास**—अक्षरोंके द्वारा बढता हुआ जो ज्ञान संघात से लेकर प्रतिपत्ति श्रुतज्ञान तक हो जाता है उसको **संघातसमास** श्रुतज्ञान कहते हैं।

९—**प्रतिपत्तिज्ञान**— संघात समस्तसे बढ़ते बढते जब संख्यात हजार संघातोंकी वृद्धि हो जाय तब **प्रतिपत्ति श्रुतज्ञान** होता है। इस ज्ञानके द्वारा चारों गतियों का स्वरूप वर्णन किया जा सकता है।

१०—प्रतिपत्ति समास—प्रतिपत्ति ज्ञानसे आगे जब संख्यात प्रतिपत्ति रूप ज्ञान बढ़ जाता है-तब अनुयोगसे पहले तक उसको प्रतिपत्ति समास कहते हैं।

११—अनुयोग—प्रतिपत्ति समाससे एक एक अक्षरकी वृद्धि होते होते जब सख्यात हजार प्रतिपत्ति की वृद्धि हो जाती है तब एक अनुयोग श्रुतज्ञान होता है। इस ज्ञानसे चौदह मार्गणाओंका स्वरूप जाना जाता है।

१२—अनुयोग समास—अनुयोग ज्ञानसे आगे और प्राभृतप्राभृतज्ञान से पहले जितने ज्ञानके विकल्प है वह सब अनुयोग समास है।

१३—प्राभृतप्राभृत—अनुयोग ज्ञानके आगे एक एक अक्षर की वृद्धि होते होते सख्यात अनुयोग होने पर प्राभृतप्राभृत ज्ञान होता है। प्राभृत शब्दका अर्थ अधिकार है। वस्तु नामक श्रुतज्ञानके अधिकारको प्राभृत और उसके

१—उपयोगो लक्षणं। तत्त्वार्थ० अ० २

भी अधिकार को प्राभृतप्राभृत कहते हैं।

१४—प्राभृतप्राभृतसमास—प्राभृतप्राभृतसे आगे और प्राभृतसे पहले तक श्रुतज्ञान के जितने विकल्प हैं उन सबको प्राभृतप्राभृतसमास कहते हैं।

१५—प्राभृत—प्राभृतप्राभृतज्ञान की वृद्धि होते होते जब जब चौवीस प्राभृतप्राभृत हो जाते हैं तब एक प्राभृत ज्ञान होता है।

१६—प्राभृतसमास—प्राभृतसे ऊपर और वस्तुसे नीचे जो श्रुतज्ञानके विकल्प हैं-उन सबको प्राभृत समास कहते हैं।

१७—वस्तु श्रुतज्ञान--प्राभृतज्ञानकी वृद्धि होते होते जब वीस प्राभृत बढ जाते हैं-तब वस्तु श्रुतज्ञान होता है।

१८—वस्तुसमास--वस्तुज्ञानसे ऊपर क्रमसे अक्षर पदोंकी वृद्धि होते होते दस वस्तुज्ञानकी वृद्धि हो जाय-उसमेंसे एक अक्षर कम तक जो ज्ञानके विकल्प हैं-उनको वस्तुसमास ज्ञान कहते हैं।

१९--पूर्वश्रुत - पूर्वज्ञानके चौदह भेद हैं। वस्तु समासके अन्तिम भेदमें अक्षर मिलनेसे उत्पादपूर्व होता है

२०—उत्पादपूर्वसमास—उत्पादपूर्वमें भी वृद्धि होते होते चौदह वस्तु पर्याय वृद्धि होने पर उसमेंसे एक अक्षर कम करनेसे उत्पादपूर्व समास ज्ञान होता है। उसमें एक अक्षर बढानेसे अग्रायणीयपूर्व और उसकी वृद्धि होते होते अग्रायणीयपूर्व समास होता इसीप्रकार आगेके पूर्व और पूर्व समास समझने चाहिये।

इसप्रकार वह द्वादशाग श्रुतज्ञान अनन्त पदार्थों को विषयभूत करनेसे अत्यत गंभीर है और अबाधित विषय होने से अत्यत श्रेष्ठ है। इसप्रकारकी शास्त्र प्रणाली के अनुसार वह श्रुतज्ञान बारह प्रकार है। ऐसे श्रुतज्ञान को मैं नमस्कार करता हूं।

श्रुतज्ञानके बारह भेद----

आचारं सूत्रकृतं स्थानं समवायनामधेयं च।
व्याख्याप्रज्ञप्तिं च ज्ञातृकथोपासकाध्ययने ॥ ७ ॥
वन्देऽन्तकृद्दशमनुत्तरोपपादिकदशं दशावस्थम्।
प्रश्नव्याकरणहि विपाकसूत्रं च विनमामि ॥ ८ ॥

अन्वयार्थ—(आचारं) आचाराग (सूत्रकृत) सूत्रकृताग (स्थान)

स्थानांग (च समवायनामधेयं) तथा समवायाग नामक (व्याख्याप्रज्ञप्तिं) व्याख्याप्रज्ञप्त्यंग (च ज्ञातृकथोपासकाध्ययने) ज्ञातृकथाग व उपासकाध्ययनांग (अतकृद्दशं) अतकृद्दशाग (दशावस्थं[1] अनुत्तरोपपादिकदश) दश दश मुनियोंके व्याख्यान करनेवाले अनुत्तरोपपादिकदशांग (हि प्रश्नव्याकरणं) निश्चयसे प्रश्नव्याकरणाग (च विपाकसूत्र) और विपाकसूत्राग को (वन्दे, विनमामि) वदना करता हू, नमस्कार करता हू। (दृष्टिवाद का वर्णन ९ वें श्लोकमें है)

भावार्थ.—इन बारह अगोंकी पदसंख्या और स्वरूप इसप्रकार है.—

१-आचागग---इसकी पदसंख्या अठारह हजार है। इसमें गुप्ति, समिति आदि मुनियोंके आचरणोंका वर्णन है।

श्रुतज्ञानके दो भेद हैं- एक द्रव्यश्रुत और दूसरा भाव श्रुत। द्रव्यश्रुतकी रचना शब्दात्मक है इसलिये उसकी पदसंख्या कही जा सकती है परंतु भावश्रुत ज्ञानमय है इसलिये उसकी पदसंख्या आदि कुछ नहीं कही जा सकती।

द्वादशांगमें आचारांगको सबसे पहले स्थान मिला है। इसका कारण यह है कि मोक्षका साक्षात् कारण मुनिमार्ग है और वह गुप्ति, समिति, पंचाचार, दशधर्म आदि रूप है। इन सबका वर्णन आचारागमें है। इसलिये सबसे पहले यही कहा है। अथवा भगवान अरहतदेवने अपनी दिव्यध्वनिके द्वारा मोक्षमार्ग का निरूपण किया, उसीको सुन कर गणधरदेवने द्वादशाग श्रुतज्ञानकी रचना की। उसमें सबसे पहले मोक्षका साक्षात् कारण होने से आचाराग की रचनाकी। इसलिये भी आचाराग सबसे पहला अग कहा जाता है।

२—सूत्रकृताग—इसमें ज्ञान-प्राप्तिके लिये ज्ञानका विनय व अध्ययनके कारण आदिका वर्णन है। इसकी पदसंखया छत्तीस हजार है।

३--स्थानाग---इसमें जीवादिक द्रव्योंके एकसे लेकर अनेक स्थानों तक का वर्णन किया है। जैसे-सग्रहनयसे आत्मा एक है। संसारी, मुक्तके भेदसे दो

१—'दशावस्थं' यह पद ८ वें अन्तकृद्दशाग व ९ वें अनुत्तरोपपादिकदशाग दोनों अंगो के साथ समझें, क्योंकि दोनों ही अंगोंमें १०-१० मुनियोंका विशेष वर्णन होता है। स्पष्टीकरणके लिये इन्हीं श्लोकों का भावार्थ—देखिये। सं०

प्रकार है, उत्पादव्ययध्रौव्यकी अपेक्षा तीन प्रकार है। गतियोंकी अपेक्षा चार प्रकार है। औपशमिक, क्षायिक, क्षयोपशमिक, औदयिक, पारिणामिक भावोंकी अपेक्षा पांच प्रकार है। पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, ऊपर, नीचे इन छह दिशाओंकी ओर (विग्रहगतिमें) गमनकरनेके कारण छह प्रकार है। स्यात अस्ति, स्यान्नास्ति आदि सप्त भंगोंकी अपेक्षा सात प्रकार है। आठ कर्मोंके प्रति-क्षण आश्रवकी अपेक्षा आठ प्रकार हैं। नवपदार्थरूप स्वरूपकी अपेक्षा नौ प्रकार है। पृथिवीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक, प्रत्येक-साधारण वनस्पति, दो इन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चौइन्द्रिय, पचेन्द्रियके भेदसे दश प्रकार है। इसप्रकार जीवके अनेक भेद हैं।

इसीप्रकार पुद्गल, धर्म, अधर्म आदि समस्त द्रव्योंके विकल्प समझने चाहिये। ये सब भेद स्थानांगमें निरूपण किये हैं। इस अंगकी पदसंख्या ब्यालीस हजार है।

४-समवायांग— इसमें द्रव्य क्षेत्र, काल, भावकी अपेक्षासे द्रव्योंमें जो परस्पर समानता हो सकती है वह दिखलाई है। जैसे-धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य लोकाकाश और एक जीवके प्रदेश समान हैं यह द्रव्यकी अपेक्षा समानता है। जम्बूद्वीप, अप्रतिष्ठान नरक, नदीश्वरकी बावडिया और सर्वार्थसिद्धि विमान समान क्षेत्र हैं। यह क्षेत्रकृत समानता हैं। उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी दोनोंका काल समान है। यह कालकी समानता है। क्षायिकज्ञान और क्षायिकदर्शन दोनों समान हैं। यह भावकृत समानता है। इसप्रकार समानता को निरूपण करनेवाला समवा-यांग है। इसकी पदसंख्या एक लाख चौसठ हजार हैं।

५-व्याख्याप्रज्ञप्त्यंग— जीव है अथवा नहीं है, इसप्रकार गणधरदेवने साठ-हजार प्रश्न भगवान् अरहंतदेवसे पूछे। उन सब प्रश्नोंका तथा उनके उत्तरोंका वर्णन इस अंगमें है। इसकी पदसंख्या दो लाख अट्ठाइस हजार है।

६—ज्ञातृकथांग—इसमें भगवान् तीर्थंकर परमदेव और गणधरदेवोंकी कथाओंका तथा उपकथाओंका वर्णन है। अन्य महापुरुषोंकी कथाएं भी उसीमें है। इसकी पदसंख्या पाच लाख छप्पन हजार है।

७—उपासकाध्ययनांग—इसमें श्रावकोंके समस्त आचरण, क्रिया, अनु-ष्ठान आदिका वर्णन है। इसकी पदसंख्या ग्यारह लाख सत्तर हजार है।

८–अंतकृद्दशांग–प्रत्येक तीर्थंकरके समयमें दश दश मुनीश्वर ऐसे होते हैं जो भयंकर उपसर्गोंको सहन कर समस्त कर्मोंका नाश कर मोक्ष जाते हैं। उनका वर्णन इस अंगमें है। संसारका अंत करनेवाले दश दश मुनियोंका वर्णन जिसमें हो-उसको अंतकृद्दशांग कहते है। इसकी पदसंख्या तेईसलाख अट्ठाइस हजार है।

९–अनुत्तरोपपादिकदशांग—प्रत्येक तीर्थंकरके समयमें दश दश मुनि ऐसे होते है जो घोर उपसर्ग सहनकर समाधिमरणसे अपने प्राणोंका त्याग करते हैं और विजय, वैजयंत, जयंत, अपराजित और सर्वार्थसिद्धि इन अनुत्तर विमानों में उत्पन्न होते हैं। उन सबका वर्णन इस अंगमें है। इसकी पदसंख्या बानवे-लाख चवालीस हजार है।

१०–प्रश्नव्याकरणांग–जो वस्तु खो गई है, या मुट्ठीमें है या और कोई चिंताका विषय हो-उन सब प्रश्नोंको लेकर उनका पूर्ण यथार्थ व्याख्यान वा समाधानका वर्णन इस अंगमें है। इसकी पदसंख्या तिरानवेलाख सोलह हजार है।

११–विपाकसूत्रांग—इसमें अशुभकर्मोंका उदय, शुभकर्मोंका उदय तथा उनका फल वर्णन किया है। इसकी पदसंख्या एक करोड़ चौरासीलाख है।

इसप्रकार ग्यारह अंगोंकी पदसंख्या चारकरोड़ पन्द्रहलाख दो हजार है। ऐसे श्रुतज्ञानको मैं नमस्कार करता हूं।

दृष्टिवाद (बारहवें) अंगकी स्तुति—

परिकर्म च सूत्रं च स्तौमि प्रथमानुयोगपूर्वगते।
सार्द्धं चूलिकया च पंचविधं दृष्टिवादं च ॥ ९ ॥

अन्वयार्थ—(परिकर्म) परिकर्म (च) और (सूत्रं) सूत्र (च) और (प्रथमानुयोगपूर्वगते) प्रथमानुयोग (च) और पूर्वगत (च) और (चूलिकया सार्द्धं) चूलिका सहित–इसप्रकार (पचविधं) पांचप्रकारके (दृष्टिवादं) दृष्टि-वाद नामक बारहवे अंगकी (स्तौमि) स्तुति करता हूं।

भावार्थः—दृष्टिवाद नामक बारहवें अंगके पांच भेद है। परिकर्म, सूत्र, प्रथमानुयोग, पूर्वगत, चूलिका। इन सबको मैं नमस्कार करता हूं।

१–परिकर्म–जिसमें गणितकी व्याख्याकर उसका पूर्ण विचार किया हो उसको परिकर्म कहते हैं। इसके पांच भेद है-चंद्रप्रज्ञप्ति, सूर्यप्रज्ञप्ति, जम्बूद्वीप-

प्रज्ञप्ति, द्वीपसागरप्रज्ञप्ति और व्याख्याप्रज्ञप्ति।

चन्द्रप्रज्ञप्ति—इसमें चद्रमाकी आयु, गति, परिवार, विभूति आदिका वर्णन है। इसकी पदसंख्या छत्तीसलाख पाच हजार है।

सूर्यप्रज्ञप्ति—इसमें सूर्यकी आयु, गति, परिवार, विभूति, ग्रहण आदिका वर्णन है। इसकी पदसंख्या पांचलाख तीन हजार है।

जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति—इसमें जम्बूद्वीप सम्बधी सात क्षेत्र, कुलाचल, पर्वत, सरोवर, नदिया आदिका वर्णन है। इसकी पदसंख्या तीनलाख पच्चीस हजार है।

द्वीपसागरप्रज्ञप्ति—इसमें असंख्यात द्वीपसमुद्रोंका वर्णन है। उन द्वीप समुद्रोंमें अकृत्रिम चैत्यालय, ज्योतिष, व्यंतर आदि सबका वर्णन है। इसकी पदसंख्या बावनलाख छत्तीस हजार है।

व्याख्याप्रज्ञप्ति—इसमें जीवाजीवादिक द्रव्योंका स्वरूप, उनका रूपी अरूपीपना आदिका वर्णन है। इसकी पदसंख्या चौरासीलाख छत्तीस हजार है।

२—सूत्र—इसमें जीव कर्मोका कर्त्ता है, उनके फलका भोक्ता है, शरीरप्रमाण है इत्यादि पदार्थोंका यथार्थ स्वरूप निरूपण किया है तथा यह जीव पृथिवी, जल, अग्नि, वायुसे उत्पन्न नहीं हुआ है, अणुमात्र नहीं है, सर्वगत नहीं है इत्यादि रूपसे अन्य मतोके द्वारा माने हुए पदार्थोंके स्वरूपका खडन है। इसकी पदसंख्या अठासीलाख है।

३-प्रथमानुयोग—इसमें त्रेसठ शलाका पुरुषोंके चरित्र व पुराणोका निरूपण है इसकी पदसख्या पाच हजार है।

४—पूर्वगत—इसमें समस्त पदार्थोंके उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य, आदिका वर्णन है। इसकी पदसंख्या पिचानवे करोड़ पचासलाख पाच है।

५—चूलिकाके पाच भेद हैं—जलगता, स्थलगता, मायागता, रूपगता, और आकाशगता।

जलगता—इसमें, जलमें गमन करनेकेलिये तथा जलका स्तभन करनेकेलिये जो कुछ मंत्र, तत्र वा तपश्चरण कारण है उन सबका वर्णन है। इसकी पदसख्या दो करोड़ नौ लाख नवासी हजार दोसौ है.

स्थलगता—इसमें पृथिवीपर गमनकरने के कारण मत्र, तंत्र व तपश्चरणोंका वर्णन है। पृथिवी पर होनेवाली जितनी वास्तु विधाएं हैं, मकान बनाने

आदिकी विद्याए हैं उन सबका वर्णन है। इसकी पदसंख्या दो करोड़ नौ लाख नवासी हजार दोसौ है।

मायागता–इसमें इन्द्रजाल सम्बधी मत्र तत्रों का वर्णन है। इसकी पदसख्या दो करोड़ नौ लाख नवासी हजार दोसौ है।

रूपगता–इसमें सिंह, व्याघ्र, हिरण आदिके रूप धारण करनेके मत्र तत्रों का वर्णन है तथा अनेक प्रकारके चित्रबनानेका वर्णन है। इसकी पदसंख्या दो करोड़ नौ लाख नवासी हजार दोसौ है।

आकाशगता—इसमें, आकाशमें गमन करनेके कारण मत्र तत्र और तपश्चरणका वर्णन है। इसकी पदसंख्या दो करोड नौ लाख नवासी हजार दोसौ है।

आगे–यद्यपि पूर्वगतकी स्तुति कर चुके हैं तथापि उसके अनेक भेद हैं। इसलिये उन सब भेदो को कहते हुए उस पूर्वगतकी फिर भी स्तुति करते हैं।

पूर्वगतं तु चतुर्दशधोदितमुत्पादपूर्वमाद्यमहम्।
आग्रायणीयमीडे पुरुवीर्यानुप्रवाद च ॥ १० ॥
संततमहमभिवंदे तथास्तिनास्तिप्रवादपूर्वं च।
ज्ञानप्रवादसत्यप्रवादमात्मप्रवादं च ॥ ११ ॥
कर्मप्रवादमीडेऽथ प्रत्याख्याननामधेयं च।
दशमं विद्याधारं पृथुविद्यानुप्रवादं च ॥ १२ ॥
कल्याणनामधेयं प्राणावायं क्रियाविशालं च।
अथ लोकबिंदुसारं वन्दे लोकाग्रसारपदं ॥ १३ ॥

अन्वयार्थ—(पूर्वगत तु) १२ वा दृष्टिवादाग अंतर्गत पूर्वगत (चतुर्दशधा) चौदह प्रकार का (उदित) कहा गया है, उनमें (आद्यं) पहला (उत्पादपूर्वं) उत्पादपूर्व व (आग्रायणीय) आग्रायणीपूर्वको (अह ईडे) मैं नमस्कार करता हू [स्तुति करता हू] (चपुरुवीर्यानुप्रवाद) और महान्[1] वीर्यानुप्रवादपूर्वको (सततं) सदा (अह अभिवदे) मैं नमस्कार करता हू

१–पुरु=महत (महान) यह शब्द (विशेषण) हरेक पूर्वके पहले लगा लेना चाहिये।

(तथा अस्तिनास्तिप्रवादपूर्वं) तथा अस्तिनास्तिप्रवादपूर्वको (च) और (ज्ञान-प्रवादसत्यप्रवादं) ज्ञानप्रवादपूर्वको, सत्यप्रवादपूर्वको (च) और आत्मप्रवादपूर्व को (अथ) तथा (कर्मप्रवादं) कर्मप्रवादपूर्वको (ईडे) वंदना करता हू (च) और (प्रत्याख्याननामधेयं) प्रत्याख्याननामपूर्वको (दशम) दशवें (विद्याधार पृथुविद्यानुप्रवाद) ७०० क्षुद्रविद्या व ५०० महाविद्यावाले पृथुविद्यानुप्रवादपूर्वको (च) और (कल्याणनामधेय) कल्याणवादपूर्व नामक (प्राणावाय) प्राणा-वायपूर्व (च) और (क्रियाविशाल) क्रियाविशालपूर्व (अथ) तथा (लोका-ग्रसारपद) लोकमें श्रेष्ठ सारभूतसुखको देनेवाले (लोकविन्दुसार) लोकविन्दु-सार पूर्वको (वदे) नमस्कार करता हू।

भावार्थ—पूर्वगतके चौदह भेद हैं। उनके नाम ये है—
उत्पादपूर्व, अग्रायणीयपूर्व, वीर्यानुवादपूर्व, अस्तिनास्तिप्रवादपूर्व, ज्ञानप्रनादपूर्व, सत्यप्रवादपूर्व, आत्मप्रवादपूर्व, कर्मप्रवादपूर्व, प्रत्याख्यानपूर्व, विद्यानुवादपूर्व, कल्याण प्रवादपूर्व, प्राणावायपूर्व, क्रियाविशालपूर्व, लोकविंदुसार।

उत्पादपूर्व—इसमें जीवादिक पदार्थोंके उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यस्वरूप धर्मो का वर्णन है। इसकी पद सख्या एक करोड़ है।

आग्रायणीयपूर्व—इसमें प्रधान–मुख्य पदार्थोंका निरूपण है। दुर्नय, सुनय और द्रौव्योंका वर्णन है, इसकी पद सख्या छयानवे लाख है।

३–वीर्यानुवादपूर्व—इसमें चक्रवर्ती, इन्द्र, धरणेन्द्र, केवली आदिकी साम-र्थ्यका माहात्म्य दिखलाया है। इसकी पदसख्या सत्तरलाख है।

४–अस्तिनास्तिप्रवादपूर्व—इसमें अनेक प्रकार से छहों द्रव्योंके अस्तित्व और नास्तित्व आदि कर्मोका वर्णन है। इसकी पद सख्या साठ लाख है।

५–ज्ञानप्रवादपूर्व—इसमें पाँचों ज्ञानोंका तथा तीनों मिथ्या ज्ञानोंके स्वरूप का वर्णन है। उसके प्रगट होने के कारण और उनके आधार वा पात्र (जिनसे वह ज्ञान होता है) आदिका वर्णन है। इसकी पद सख्या निन्यानवे हजार नौ सौ निन्यानवे है।

६–सत्यप्रवाद—इसमें वचनगुप्तिका वर्णन है, वचनोंका सस्कार किस प्रकार होता है, उसका वर्णन है। कंठ, तालु आदि उच्चारण स्थानोंका वर्णन है। जिनके बोलनेकी शक्ति उत्पन्न हो गई है ऐसे दो इन्द्रिय, तेइद्रिय, चौइन्द्रिय,

पचेन्द्रिय जीवोंके शुभ-अशुभ वचनोंके प्रयोगोंका वर्णन है। इसकी पद संख्या एक करोड़ छह है।

७—आत्मप्रवादपूर्व—इसमें जीवके ज्ञान, सुख और कर्तृत्व आदि धर्मोंका वर्णन है। इसकी पद संख्या-छव्वीस करोड़ है।

८—कर्मप्रवादपूर्व—इसमें कर्मोंका बंध, उदय, उदीरणा, उपशम और निर्जरा आदिका वर्णन है। इसकी पद संख्या एक करोड़ अस्सीलाख है।

९—प्रत्याख्यानपूर्व—इसमें द्रव्य और पर्यायों के त्यागका वर्णन है। उपवास-करना, व्रत, समिति, गुप्तिपालन करना, अतिक्रमण प्रतिलेखन, विराधना, विशुद्धि आदिका वर्णन है। इसकी पदसंख्या चौवीसलाख है।

१०—विद्यानुवादपूर्व—इसमें सातसौ लघुविद्या, पांचसौ महाविद्याओंका वर्णन है। आठों महानिमित्तोंका वर्णन है तथा सब विद्याओंका साधनका वर्णन है। इसकी पदसंख्या एक करोड दश लाख है।

११—कल्याणवादपूर्व—इसमें तीर्थंकर परमदेव, चक्रवर्ती, बलदेव, नारायण आदिके गर्भकल्याणक, जन्मकल्याणक आदिका वर्णन है। इसकी पद-संख्या छव्वीस करोड़ है।

१२—प्राणावायपूर्व—इसमें प्राण, अपानके विभाग का वर्णन है, आयुर्वेद शास्त्र, मन्त्रशास्त्र, गारुडीविद्या आदिका वर्णन है। इसकी पदसंख्या तेरह करोड है।

१३—क्रियाविशाल—इसमें बहत्तर कलाओंका वर्णन है तथा छंदशास्त्र और अलकार शास्त्र का वर्णन है। इसकी पदसंख्या नौ करोड़ है।

१४-लोकबिंदुसार—इस लोकमें सबसे प्रधान और सारभूत जो मोक्ष है, उसके सुख, साधन और इसको प्राप्त करने के लिये कहे गये समस्त अनुष्ठानोंका वर्णन है। इसकी पदसख्या बारह करोड पचास लाख हैं।

इसप्रकार पूर्वगतके चौदह भेद हैं इन सबको मै भक्तिपूर्वक नमस्कार करता हू। इनकी वंदना करता हू और स्तुति करता हू। इसप्रकार चौदह पूर्वोंकी स्तुति की।

पूर्वोंके अधिकार तथा प्रत्येक अधिकार के प्राभृत आदिका वर्णन—

दश च चतुर्दश चाष्टावष्टादश च द्वयोर्द्विपञ्चं च।
षोडश च विंशतिं च त्रिंशतमपि पञ्चदश च तथा॥ १४॥

वस्तूनि दश दशान्येष्वनुपूर्वं भाषितानि पूर्वाणाम् ।
प्रतिवस्तु प्राभृतकानि विंशतिं विंशतिं नौमि ॥ १५ ॥

अन्वयार्थ—उत्पादपूर्व के (दश) दश अधिकार हैं (च चतुर्दश और आग्रायणीयपूर्वके चौदह अधिकार है (च अष्टौ) तथा वीर्यानुवादके आठ (च अष्टादश) अस्तिनास्तिप्रवादके अठारह (च द्वयोः द्विषङ्क) ज्ञानप्रवाद के बारह, सत्यप्रवाद के बारह (च षोडश) आत्मप्रवादके सोलह (च विंशतिं) कर्मप्रवादके बीस (अपि त्रिंशत) प्रत्याख्यानपूर्वके तीस (च पञ्चदश) विद्या-नुवादके पन्द्रह, (तथा अन्येषु पूर्वाणि अनुपूर्वं दश दश वस्तूनि भाषितानि) क्रम से कल्याणवादके दश, प्राणावाय के दश, क्रिया विशाल के दश और लोकबिंदुके दश अधिकार कहे गये हैं। (प्रतिवस्तु) एक एक वस्तु (अधिकार) में (विंशतिं विंशति) बीस बीस (प्राभृतकानि) प्राभृतक होते है--उनको (नौमि) नमस्कार करता हू ।

भावार्थ—उत्पादपूर्व आदि १४ पूर्वों के वस्तु (अधिकारो) की संख्या क्रमसे १०, १४, ८, १८, १२, १२, १६, २०, ३०, १५, १०, १०, १० १० है। ये सब मिलकर १९५ अधिकार होते है। इन सब अधिकारो को वस्तु कहते हैं। एक एक वस्तु (अधिकार) में बीस बीस प्राभृत होते है। इस प्रकार १९५ अधिकारों में ३९०० प्राभृत होते है तथा एक एक प्राभृत में चौबीस चौबीस प्राभृत प्राभृत होते हैं। सब प्राभृत प्राभृतों की सख्या ९३६०० होती है ।

पूर्व १४, वस्तु १९५, प्राभृत ३९०० प्राभृत प्राभृत ९३६०० होते है। इन सबको मै भक्ति पूर्वक नमस्कार करता हू।

आग्रायणीयपूर्वके १४ अधिकारोंके नाम—

पूर्वांतं ह्यपरान्त ध्रुवमध्रुवच्यवनलब्धिनामानि ।
अध्रुवसंप्रणिधिं चाप्यर्थं भौमावयाद्यं च ॥ १६ ॥
सर्वार्थकल्पनीयं ज्ञानमतीतं त्वनागतं कालं ।
सिद्धिमुपाध्य च तथा चतुर्दशवस्तूनि द्वितीयस्य ॥ १७ ॥

अन्वयार्थ — (द्वितीयस्य) दूसरे आग्रायणीय पूर्वक (चतुर्दशवस्तूनि) चौदह अधिकार हैं– (पूर्वान्त) पूर्वान्त (हि अपरान्त) अपरान्त (ध्रुवमध्रुव-

च्यवनलब्धिनामानि) ध्रुव, अध्रुव, च्यवनलब्धि (अध्रुवसंप्रणिधि) अध्रुवसप्रणिधि (अपि च अर्थं) अर्थ (च भौमावयाद्य) भौमावद्य (सर्वार्थकल्पनीयं) सर्वार्थकल्पनीय (ज्ञानं) ज्ञान (अतीत तु अनागत काल) अतीतकाल और अनागतकाल (सिद्धिं) सिद्धि (तथा च उपाध्य) और उपाध्य। ये नाम आचार्य परम्परा से चले आ रहे हैं। इनको भी मैं नमस्कार करता हूं।

आग्रायणीयपूर्वक के ५ वें अधिकार 'च्यवनलब्धि' के चौथे अध्याय 'कर्म प्रकृति' के २४ अनुयोगों के नाम—

पंचमवस्तुचतुर्थप्राभृतकस्यानुयोगनामानि ।
कृतिवेदने तथैव स्पर्शनकर्मप्रकृतिमेव ॥ १८ ॥
बंधननिबंधनप्रक्रमानुपक्रममथाभ्युदयमोक्षौ ।
संक्रमलेश्ये च तथा लेश्यायाः कर्मपरिणामौ ॥ १९ ॥
सातसमातं दीर्घं हृस्वं भवधारणायसंज्ञं च ।
पुरुपुद्गलात्मनाम च निधत्तमनिधत्तमभिनौमि ॥ २० ॥
सनिकाचितमनिकाचितमथ कर्मस्थितिकपश्चिमस्कंधौ ।
अल्पबहुत्वं च यजे तद्द्वाराणां चतुर्विंशम् ॥ २१ ॥

अन्वयार्थ— (पचमवस्तुचतुर्थप्राभृतकस्यानुयोगनामानि) आग्रायणीयपूर्वके पांचवें अधिकार 'च्यवनलब्धि' के चौथे अध्याय 'कर्मप्रकृति' के २४ अनुयोगों के नाम ये हैं-(कृतिवेदने) कृति, वेदना, (तथैव स्पर्शनकर्मप्रकृतिमेव) उसी प्रकार स्पर्शन, कर्म, प्रकृति, (बंधननिबंधनप्रक्रमानुपक्रमं) बंधन, निबंधन प्रक्रम, अनुपक्रम, (अथ) और (अभ्युदयमोक्षौ) अभ्युदय, मोक्ष (च) तथा (संक्रमलेश्ये) संक्रम, लेश्या (द्रव्य), (तथा लेश्यायाः कर्मपरिणामौ) तथा भावलेश्या, (सातमसातं) सातमसात, (दीर्घं) दीर्घ, (हृस्वं) हृस्व (च भवधारणीयसंज्ञ) तथा भवधारणीय (च पुरुपुद्गलात्मनाम) और पुरुपुद्गलात्म, (निधत्तमनिधत्त) निधत्तमनिधत्त, (सनिकाचितमनिकाचितं) सनिकाचितमनिकाचित, (अथ) तथा (कर्मस्थितिकपश्चिमस्कंधौ) कर्मस्थितिक, पश्चिमस्कंध, (च अल्पबहुत्वं) और अल्पबहुत्व (तद्द्वाराणा चतुर्विंश) ये चौवीसों अनुयोग चतुर्थप्राभृत के द्वारसमान हैं—इनको (अभिनौमि-यजे) भक्ति पूर्वक नमस्कार करता हू और पूजा करता हूं।

भावार्थ--ऊपर कहे अनुसार २४ अनुयोग 'कर्मप्रकृति' के हैं। इनसे चतुर्थ प्राभृत में प्रवेश हो जाता है। इनके सिवाय एक पच्चीसवां 'सर्वानुयोग' नामका अनुयोग और है। इसमें जो कथन है वह समस्त अनुयोगो के लिये उपयोगी है। इसलिये इसका नाम 'सर्वानुयोग' है। इसके होने से ही सबकी परिपूर्णता होती है। इस प्रकार ये २४ अनुयोग अथवा २५ अनुयोग आग्रायणीय पूर्वके पाचवें 'च्यवनलब्धि' नामके अधिकारके कर्मप्रकृति नामक चौथे प्राभृत कहे जाते है। इनको मैं भक्ति पूर्वक नमस्कार करता हू।

द्वादशाग श्रुतज्ञानकी पद सख्या—

कोटीनां द्वादशशतमष्टापंचाशतं सहस्राणाम्।
लक्षत्र्यशीतिमेव च पंच च वंदे श्रुतपदानि ॥ २२ ॥

अन्वयार्थ—(कोटीना द्वादशशतं च लक्षत्र्यशीति अष्टापचाशतं सहस्राणां च पच एव श्रुतपदानि वंदे) एक सौ बारह करोड़ तिरासीलाख अट्ठावन हजार पांच श्रुतज्ञान के पदों को नमस्कार करता हू। (११२८३५८००५)

एक एक पदमें कितने कितने अक्षर होते हैं?

षोडशशतं चतुस्त्रिंशत्कोटीनां त्र्यशीतिलक्षाणि।
शतसंख्याष्टासप्ततिमष्टाशीतिं च पदवर्णान् ॥ २३ ॥

अन्वयार्थ--(षोडशशत चतुस्त्रिंशत् कोटीना त्र्यशीतिलक्षाणि शतसंख्याष्टासप्तति च अष्टाशीतिं पदवर्णान 'वंदे') सौलह सौ चौंतीस करोड़, तिरासीलाख अठत्तर सौ अठासी अक्षर अर्थात् सोलह अरब चौंतीस करोड़ तिरासीलाख सात हजार आठसौ अठासी अक्षर एक एक मध्यमपदके होते हैं—उनको नमस्कार करता हू।

भावार्थ--पद तीन प्रकार के होते हैं—अर्थ पद, प्रमाणपद और मध्यम पद। कहने वालेका अभिप्राय जितने अक्षरों से पूर्ण हो जाय उतने अक्षरों का एक पद अर्थ पद होता है। इस पद के अक्षर नियत नहीं हैं। किसी पदमें अधिक अक्षर होते हैं और किसी में कम। जैसे-'अग्नि लाओ' इसमें थोडे अक्षर है और 'इस सफेद गायको अपनी जगह पर बाध दो' इसमें अधिक अक्षर हैं।

आठ अक्षर वा इससे अधिक अक्षरों के समुदायको प्रमाणपद कहते हैं। इससे अंगबाह्य श्रुतकी सख्या कही जा सकती है। जैसे—अनुष्टुप श्लोकके प्रत्येक

चरणमें आठ अक्षर होते हैं।

अगप्रविष्ट श्रुतकी संख्या के निरूपण करनेवाले जो पद हैं-उनको मध्यमपद कहते हैं। इस श्लोकमें उन्हीं मध्यम पदके अक्षरोंकी सख्या का प्रमाण कहते है। १६३४८३०७८८८ अक्षर एक एक मध्यम पदके होते हैं।

समस्त श्रुतज्ञानके अक्षरों की संख्या 'एकट्ठीप्रमाण' है। अर्थात् १८४४-६७४४०७३७०९५५१६१६ इतने अक्षर हैं।

इसमें मध्यमपदके अक्षरों का भाग देना चाहिये, जो फल आवे वह द्वादशागकी पदसख्या समझनी चाहिये। तथा जो अक्षर बाकी रहते हैं वे अक्षर अगबाह्य श्रुतज्ञानके समझने चाहिये। जो अक्षर बाकी रह जाते हैं उनसे मध्यम पद नहीं बनता। इसीलिये वे अक्षर अगबाह्य के समझे जाते हैं। उनकी संख्या आठ करोड एक लाख आठ हजार एक सौ पिचहत्तर है। (८०१०८१-७५) उस अगबाह्यके अनेक भेद हैं।

अगबाह्यके भेदोकी स्तुति——

सामायिकं चतुर्विंशतिस्तवं वंदना प्रतिक्रमणम्।
वैनयिकं कृतिकर्म च पृथुदशवैकालिकं च तथा ॥ २४ ॥
वरमुत्तराध्ययनमपि कल्पव्यवहारमेवमभिवदे।
कल्पाकल्पं स्तौमि महाकल्पं पुण्डरीकं च ॥ २५ ॥
परिपाटया प्रणिपतितोऽस्म्यहं महापुण्डरीकनामैव।
निपुणान्यशीतिकं च प्रकीर्णकान्यंगबाह्यानि ॥ २६ ॥

अन्वयार्थ —(अगबाह्यानि निपुणानि प्रकीर्णकानि) अगबाह्य श्रुतज्ञानके सूक्ष्मार्थके प्रतिपादक प्रकीर्णक (भेद) चौदह हैं वे इसप्रकार हैं-(सामायिक) सामायिक (चतुर्विंशतिस्तव) चतुर्विंशतिस्तव (वदना) वदना (प्रतिक्रमण) प्रतिक्रमण (वैनयिक) वैनयिक (च कृतिकर्म) कृतिकर्म (च तथा पृथुदशवैकालिकं) दशवैकालिक (अपि वर उत्तराध्ययन) उत्तराध्ययन (एवं कल्पव्यवहार) कल्पव्यवहार को (अभिवदे) भक्ति पूर्वक नमस्कार करता हू। (कल्पाकल्प) कल्पाकल्प (महाकल्प) महाकल्प (च पुण्डरीकं) पुंडरीक की (स्तौमि) स्तुति करता हू। (महापुडरीकनामैव) महापुडरीक (च अशीतिकं) और अशीतिक को (अहं) मै (परिपाटया) क्रमसे (प्रणिपतितोऽस्मि) नमस्कार करता हू।

भावार्थ—अंगबाह्य श्रुतज्ञानके ऊपर वाले १४ भेद हैं। इन्हीं को प्रकीर्णक भी कहते हैं। इनमें पदार्थों का स्वरूप अत्यंत सूक्ष्म रीतिसे वर्णन किया है। ऐसे इन १४ प्रकीर्णकोंको मैं बड़ी भक्ति, विनय के साथ वंदना करता हूं।

१--सामायिक—गृहस्थ वा मुनि जो नियत काल तक अथवा अनियत काल तक समता धारण करते हैं, उसको सामायिक कहते हैं। उसका जिसमें वर्णन हो-वह सामायिक प्रकीर्णक है।

२—चतुर्विंशतिस्तव—वृषभादि चौवीस तीर्थङ्करोंके आठ प्रातिहार्य, चौंतीस अतिशय, चिह्न तथा अनंतचतुष्टय आदिकी स्तुति करना स्तव है। उसका जिसमें वर्णन हो वह चतुर्विंशतिस्तव है।

३--वंदना—पंच परमेष्ठियोंमें से प्रत्येक की अलग-अलग वंदना करना वंदना है। उसका जिसमें वर्णन हो-वह वंदना है।

४-प्रतिक्रमण—जिसमें ७ प्रकारके प्रतिक्रमणका वर्णन हो, उसे प्रतिक्रमण कहते हैं।

दैवसिकप्रतिक्रमण—दिनके दोषों को निराकरण करने वाला प्रतिक्रमण।

रात्रिक प्रतिक्रमण—रात्रिके दोषो का निराकरण करनेवाला प्रतिक्रमण।

पाक्षिकप्रतिक्रमण—पन्द्रह दिनके दोषोंका निराकरण करनेवाला प्रतिक्रमण।

चातुर्मासिकप्रतिक्रमण—जिसमें ४ मास के दोषोंका निराकरण हो।

सांवत्सरिकप्रतिक्रमण—जिसमें एक वर्षके दोषोंका निराकरण हो।

ऐर्यापथिकप्रतिक्रमण—जिसमें ईर्यापथ सम्बंधी दोषोंका निराकरण हो।

उत्तमार्थिक प्रतिक्रमण—जिसमें समस्त पर्यायसम्बंधी दोषोंका निराकरण किया जाय। इसप्रकार ७ प्रकारके प्रतिक्रमणों का वर्णन जिसमें हो-उसको प्रतिक्रमण प्रकीर्णक कहते हैं।

५--वैनयिक--जिसमें ज्ञानविनय, दर्शनविनय, चारित्रविनय, तपविनय और उपचारविनयों का वर्णन हो-उसको वैनयिक प्रकीर्णक कहते हैं।

६--कृतिकर्म—जिसमें दीक्षा देने और दीक्षा लेने का विधान हो-उसको कृतिकर्म कहते हैं।

७--दशवैकालिक-द्रुम पुष्पित आदि दश दश अधिकारों के द्वारा इसमें मुनियोंके समस्त आचरणोंका वर्णन है।

८--उत्तराध्ययन—इसमें अनेकप्रकार के उपसर्ग सहन करने और उनको सहन करने के फलोंका वर्णन है।

९--कल्पव्यवहार—इसमें मुनियोंके योग्य आचरणोंका तथा उन आचरणों से च्युत होने पर योग्य प्रायश्चित्तका वर्णन है।

१०-कल्पाकल्प—इसमें गृहस्थ और मुनियोंके योग्य तथा अयोग्य आचरणोंका वर्णन हो। द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावकी अपेक्षा वा विशेष समयके अनुसार योग्य आचरणोंका निरूपण इसमें किया गया है।

११—महाकल्प—दीक्षा, शिक्षा, गणपोषण, आत्म संस्कार, भावना, उत्तमार्थ ये ६ कालभेद माने हैं, इनके अनुसार इसमें मुनियों के आचरणोंका निरूपण है।

१२—पुंडरीक—इसमें भवनवासी, व्यंतर आदि देवोंमें उत्पन्न होनेके कारणों का वर्णन है।

१३—महापुडरीक—इसमें देव, देवांगना, अप्सरा आदि स्थानो में उत्पन्न होने के कारणोंका वर्णन है।

१४-अशीनिक—इसमें मनुष्यो की आयु और सामर्थ्यके अनुसार स्थूल दोप और सूक्ष्म दोपोंके प्रायश्चित्तोका वर्णन है।

इसप्रकार ये १४ प्रकीर्णक कहलाते हैं। इनमें अत्यंत सूक्ष्म पदार्थोंका वर्णन है इसीलिये इन्हें निपुण कहते हैं। ये अगबाह्य इतने ही हैं। न इनसे कम हैं और न इनसे अधिक हैं। ऐसे इस अगबाह्य को मै नमस्कार करता हू तथा स्तुति करता हू।

अवधिज्ञानकी स्तुति—

पुद्गलमर्यादोक्तं प्रत्यक्षं सप्रभेदमवधिं च।
देशावधिपरमावधिसर्वावधिभेदमभिवंदे ॥ २७ ॥

अन्वयार्थ—(पुद्गलमर्यादोक्तं) पुद्गल [रूपीपदार्थ-मूर्तिक] ही है मर्यादा जिसकी अर्थात् जो रूपीपदार्थोंको ही विषय करता हो-जानता हो, ऐसा शास्त्रों में वर्णित (प्रत्यक्ष) प्रत्यक्ष [मति श्रुतज्ञान की तरह इन्द्रिय, मनकी सहायता नहीं होने वाला] (च सप्रभेद) भेद-प्रभेद सहित अर्थात् (देशावधिपरमावधि-

सर्वावधिभेद) देशावधि, परमावधि, सर्वावधि भेद सहित (अवधिं) अवधिज्ञान को (अभिवंदे) भक्तिपूर्वक नमस्कार करता हूं।

भावार्थ—जो अधिकतर नीचेके विषयको जाने, उसको अवधि कहते हैं। अथवा जिस ज्ञानका विषय पुद्‌गल ही हो, उसको अवधिज्ञान कहते हैं। अवधिज्ञान रूपी पदार्थको ही जानता है अन्यको नहीं। यह अवधिज्ञान प्रत्यक्ष है। केवल आत्मा से उत्पन्न होता है। मतिज्ञान श्रुतज्ञानके समान इन्द्रियोंसे उत्पन्न नहीं होता है और इसीलिये परोक्ष नहीं है। इस अवधिज्ञानके अनेक भेद हैं और वे सब अबाधित हैं। देशावधि, परमावधि और सर्वावधि ये तीन मुख्य भेद हैं। इनमें से परमावधि और सर्वावधि चरमशरीरी मुनियोंके ही होता है तथा देशावधि अवधिज्ञान सबके होता है। देशावधि और परमावधिमे जघन्य, मध्यम उत्कृष्ट आदि अनेक भेद हैं, क्योंकि अवधिज्ञानावरण कर्मोंका क्षयोपशम जैसा जैसा बढ़ता जाता है वैसा ही यह ज्ञान भी बढता जाता है। सर्वावधिमें एक उत्कृष्ट भेद ही होता है, क्योंकि यह सर्वावधिज्ञान समस्त अवधिज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशमसे ही प्रगट होता है। ऐसे इस अवधिज्ञानको मैं नमस्कार करता हूं।

मन पर्ययज्ञानकी स्तुति—

परमनिस स्थितमर्थं मनसा परिविद्य मंत्रिमहितगुणम्।
ऋजुविपुलमतिविकल्पं स्तौमि मनःपर्ययज्ञानम् ॥ २८ ॥

अन्वयार्थ—(परमनिस) दूसरों के मनमें (स्थितं) स्थित (अर्थं) अर्थ को-पदार्थको (मनसा) मनके द्वारा (परिविद्य) जानकर [जाननेवाले] और (मंत्रिमहितगुण) मुनीश्वरों से जो गुण [ज्ञान] पूजित है (ऋजुविपुलमतिविकल्प) ऋजुमति और विपुलमति जिसके भेद हैं ऐसे (मनःपर्ययज्ञान) मनःपर्ययज्ञानकी (स्तौमि) स्तुति करता हू।

भावार्थ—दूसरोंके मनमें स्थित पदार्थोंको जो प्रत्यक्ष जानले, उसको मनःपर्ययज्ञान कहते हैं। यह जन्ममरणरूप अपार संसार एक प्रकार का दुर्वार विष है। उस संसाररूपी विषको दूर करने में ऐसा अपराजित मत्र मुनियोंके ही पास रहता है। इसलिये उन मुनियों को मत्री कहते हैं। ऐसे मुनिराज भी विशेष बढते हुये चारित्रके साथ रहनेवाले इस मनःपर्ययज्ञानकी पुजा वा आराधना करते हैं। मनःपर्यय ज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशमसे केवल आत्माके द्वारा

दूसरेके मनमें ठहरे हुये पदार्थोंको प्रत्यक्ष जान लेना मनःपर्ययज्ञान है। यह मनःपर्ययज्ञान उत्तम मुनियोंके ही होता है।

यहांपर कदाचित कोई यह प्रश्न करे कि जब यह ज्ञान दूसरे के मन के सम्बध से होता है तो फिर उसको अतीन्द्रियज्ञान नहीं कह सकते। क्योंकि इस ज्ञानके द्वारा दूसरे के मनमें ठहरे हुए पदार्थ ही जाने जाते हैं। अतएव मनका सम्बन्ध होने से इसको इन्द्रियजन्य ज्ञान कहना चाहिये? यहां पर यह प्रश्न ठीक नहीं है क्योंकि 'बादलमें चन्द्रमा देखो' इस वाक्यसे जो ज्ञान होता है उसमें चन्द्रमाका ज्ञान करानेवाला बादल नहीं है, किन्तु चन्द्रमा ही स्वयं अपना ज्ञान कराता है। इसीप्रकार मनःपर्ययज्ञान उत्पन्न होने में दूसरेका मन कारण नहीं है। जिन पदार्थोंको मनःपर्ययज्ञान जानता है, वे पदार्थ दूसरेके मनमें ठहरे हैं। मन केवल उन पदार्थों का आधार है इसलिये वह ज्ञान उत्पन्न होने में कारण नहीं है। इससे स्पष्ट मालूम हो जाता है कि मनःपर्यय मनसे उत्पन्न नहीं होता। किन्तु आत्मासे उत्पन्न होता है। मनःपर्ययज्ञानावरण और वीर्यांतराय कर्मके विशेष क्षयोपशम होनेसे ही यह मनःपर्ययज्ञान उत्पन्न होता है। अतएव यह ज्ञान अतीन्द्रिय ही है।

इस मनःपर्ययज्ञानके दो भेद हैं—एक ऋजुमति और दूसरा विपुलमति जिसके मन वचन काय सरल है ऐसे पुरुष के मनमें ठहरे हुये पदार्थोंको प्रत्यक्ष जान लेना ऋजुमति मनःपर्यय ज्ञान है। तथा जिसके मन वचन काय सरल हों वा कुटिल हों ऐसे पुरुषके मनमें ठहरे हुये पदार्थोंको जान लेना विपुलमति मनःपर्ययज्ञान है। ऐसे मनःपर्ययज्ञानकी मै स्तुति करता हूं।

केवलज्ञानकी स्तुति--

क्षायिकमनन्तमेकं त्रिकालसर्वार्थयुगपदवभासम्।
सकलसुखधाम सततं वन्देऽहं केवलज्ञानम् ॥ २९ ॥

अन्वयार्थ--(क्षायिकं) क्षायिक (अनन्त) अनन्त (एकं) एक (त्रिकालसर्वार्थयुगपदवभास) त्रिकालवर्ती समस्त पदार्थोंको एकसाथ जानने वाले (सकलसुखधाम) अनन्त सुखके स्थान रूप (केवलज्ञान) केवलज्ञान को (अहं) मै (सततं) सदा (वन्दे) वदना करता हूं।

भावार्थ--यह केवलज्ञान क्षायिक है, क्योंकि समस्त ज्ञानावरणकर्मके

अत्यंत क्षय होने से उत्पन्न होता है अथवा ज्ञानावरण दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय इन चारों घातिया कर्मोंके अत्यन्त क्षय होने से केवलज्ञान प्रगट होता है अतः इसको क्षायिक कहते हैं। इसके सिवाय यह केवलज्ञान अनन्त है। इसका कभी नाश नहीं होता। अनतकाल तक बराबर बना रहता है। तथा एक है, अद्वितीय है। इसको किसकी सहायता की आवश्यकता नहीं होती तथा न इसका कोई भेद है यह ज्ञान अभेदरूप है। यह ज्ञान भूत, भविष्यत और वर्तमान तीन कालोंमें होनेवाले समस्त पदार्थ और उनकी समस्त पर्यायोंको एक साथ जानता है। यह ज्ञान अनंत सुखका स्थान है। केवलज्ञानके होते ही अनंत सुखकी प्राप्ति अवश्य होती है, ऐसे केवलज्ञानकी मे सदा वंदना करता हूं।

स्तुनिके फलकी प्रार्थना —

एवमभिष्टुवतो मे ज्ञानानि समस्तलोकचक्षूषि।
लघु भवताज्ज्ञानर्द्धि ज्ञानफलं सौख्यमच्यवनम्॥ ३०॥

अन्वयार्थ—(एव) इसप्रकार (समस्तलोकचक्षूषि) लोकाकाशके समस्त पदार्थोंको जानने के लिये नेत्र-समान (ज्ञानानि) पाचों ज्ञान (मे) मुझे (अभिष्टुवतः) अभीष्ट होते हुये अर्थात् मैने स्तुति की है अतः उन ज्ञानसे (अच्यवन) नाश रहित—अविनाशी (सुख) सुख और (ज्ञानर्द्धि ज्ञानफल परम प्रकर्षताको प्राप्त ज्ञान-फल अतीन्द्रियज्ञान (लघु) शीघ्र (भवतात) प्राप्त हो।

भावार्थ—ये पाचों ही ज्ञान लोकाकाशके समस्त पदार्थोंको जानने के लिये नेत्रके समान हैं। इसी लिये मैंने इन ज्ञानोंकी स्तुति की है। ज्ञानकी स्तुति करने से मुझे बहुत शीघ्र उस अनत सुखकी प्राप्ति हो—ये अनत सुख कभी नष्ट नहीं होता तथा जो सुख ज्ञान पैदा होता है। इन्द्रियोंसे उत्पन्न नहीं होता अथवा पुष्पमाला, भेजना, स्त्री आदि बाह्य पदार्थोंसे उत्पन्न नहीं होता। केवल ज्ञानमय आत्मासे उत्पन्न होता है। तथा जिस सुखमें ज्ञानकी अनेक ऋद्धिया भरी हुई हैं। अनंतदर्शन और अनतवीर्य जिस अनंत सुखके साथ हैं, ऐसा अनंत सुख मुझे शीघ्र ही प्राप्त हो।

इसके आगे-कायोत्सर्ग करना चाहिये—

इच्छामि भंते! सुदभत्तिकाउस्सग्गो कओ तस्स आलोचेउं अंगोवंगपइण्णए पाहुडयपरियम्मसुत्तपढमाणिओगपुव्वगयचूलिया चेव सुत्त-

त्थयथुइधम्मकहाइय णिच्चकालं अंचेमि, पूजेमि, वंदामि, णमंसामि, दुक्खक्खओ, कम्मक्खओ बोहिलाओ, सुगइगमणं, समाहिमरणं, जिणगुण संपत्ति होउ मज्झं।

हे भगवन्! श्रुतभक्ति करने के बाद मैंने जो कायोत्सर्ग किया है और उसमें जो दोष लगे हैं उनकी मैं आलोचना करने की इच्छा करता हूं। श्रुतज्ञान के जो अंग और उपांग हैं, प्रकीर्णक, प्राभृतक, परिकर्म, सूत्र, प्रथमानुयोग, पूर्वगत, चूलिका, सूत्रार्थ, स्तुति, धर्मकथा आदि हैं, उन सबकी मैं सदाकाल अर्चा करता हूं सबकी पूजा करता हूं, सबकी वंदना करता हूं और सबके लिये नमस्कार करता हूं,। ऐसा करने से मेरे समस्त दुःखोंका नाश हो, समस्त कर्मोंका नाश हो, मुझे रत्नत्रयकी प्राप्ति हो, सुगति प्राप्त हो, समाधिमरणकी प्राप्ति हो और भगवान जिनेन्द्रदेवके अनंतगुणोंकी प्राप्ति हो।

॥ इति श्रुतभक्तिः ॥

अथ श्रुतभक्तिः (प्राकृत)

सिद्धवरसासणाणं सिद्धाणं कम्मचक्कमुक्काणं। काऊण णमुक्कारं भत्तीए णमामि अंगाइं ॥ १ ॥ आयारं सुद्दयडं ठाणं समवाय विहायपण्णत्ती। णाणाधम्मकहाओ उवासयाणं च अज्झयणं ॥ २ ॥ वंदे अंतयडदसं अणुत्तरदसं च पण्हवायरणं। एयारसमं च तहा विवायसुत्तं णमंसामि ॥ ३ ॥ परियम्म सुत्तपढमाणुओ य पुव्वगयचूलिया चेव। पवरवरदिट्ठिवादं तं पंचविहं पणिवदामि ॥ ४ ॥ उप्पाय पुव्वमग्गायणीय विरियत्थिणत्थि य पवादं। णाणासच्चपवादं आदा कम्मप्पवादं च ॥ ५ ॥ पच्चक्खाणं विज्जाणुवाय कल्लाणणाम वरपुव्वं। पाणावायं किरियाविसालमथलोयबिंदुसारसुदं ॥ ६ ॥ दसचउदस अट्ठारस वारस तह य दोसु पुव्वेसु। सोलसवीसं तीसं दसमम्मिय पण्णरसवत्थू ॥ ७ ॥ ऐदेसिं पुव्वाणं जावदियो वत्थुसंगहो भणियो ॥ सेसाणं पुव्वाणं दसदसवत्थू पणिवंदामि ॥ ८ ॥ एक्केक्कम्मि य वत्थू वीसं वीसं च पाहुडा भणिया।

विसमसमा विय वत्थू सव्वे पुण पाहुडेहि समा ॥ ९ ॥ पुव्वाणं वत्थुसयं पंचाण वदी हवंति वत्थूओ ॥ पाहुड तिण्णिसहस्सा णवय सया चउद-साणंपि ॥ १० ॥ एवमए सुदपवरा भत्तीरायेण संथुया तच्चा ॥ सिग्घ मे सुदलाहं जिणवरवसहा पयच्छंतु ॥ ११ ॥ इच्छामि भंते ! सुदभत्ति-काउस्सग्गो कओ तस्स आलोचेउ अंगोवंगपइण्णए पाहुडयपरियम्मसुत्त-पढमा णिओगपुव्वगयचूलिया चेव सुत्तत्थयथुइ धम्मकहाइयं णिच्चकाल अंचेमि, पूजेमि, वंदामि, णमंसामि, दुक्खक्खओ, कम्मक्खओ, बोहिलाहो, सुगइगमणं, समाहिमरणं जिणगुणसंपत्ति होउ मज्झं ।

इति श्रुतभक्तिः ।

चारित्रभक्तिः

* येनेन्द्रान्भुवनत्रयस्य विलसत्केयूरहारांगदान् ।
भास्वन्मौलिमणिप्रभाप्रविसरोत्तुगोत्तमाङ्गान्नतान् ॥
स्वेषा पादपयोरुहेषु मुनयश्चक्रुः प्रकामं सदा ।
वंदे पंचतयं तमद्य निगदन्नाचारमभ्यर्चितम् ॥ १ ॥

अन्वयार्थ---(येन) जिस आचरण द्वारा (विलसत्केयूरहारागदान्) जिनके शरीर केयूर, हार और बाजूबंद आदि आभूषणोसे सुशोभित हैं (भास्वन्मौलिमणिप्रविसरोत्तुगोत्तमागान्) जिनके मस्तक दैदीप्यमान मुकुटकी मणियों की कांतिके फैलाव से बहुत ऊंचे दिखाई देते हैं ऐसे (भुवनत्रयस्य इन्द्रान्) तीनो लोकोंके समस्त इन्द्रोंको (मुनय) जिन मुनियोंने (स्वेषा पादपयोरुहेषु) अपने चरणकमलोंमें (नतान् चक्रु) नम्रीभूत कर लिया ऐसे (अभ्यर्चित) अत्यंत पूज्य (तम् पंचतय) उन पंचाचारोंके (निगदन्) स्वरूपको कहनेकी इच्छा करनेवाला मै (सदा) सदैव (प्रकाम) भक्तिपूर्वक (वंदे) नमस्कार करता हूं ।

---

*शार्दूलविक्रीडितवृत्त

भावार्थ--इन्द्रादिकदेव भी मुनियो के चरणकमलोमें नमस्कार करते है, यह पचाचारका ही प्रभाव है। वे मुनि पचाचारका पालन करते हैं, इसीलिये इन्द्रादिक देव उनको नमस्कार करते है। उन्हीं पचाचारोंको नमस्कार करता हू।

ज्ञानाचारका स्वरूप--

अर्थव्यञ्जनतद्द्वयाविकलताकालोपधाप्रश्रयाः !
स्वाचार्याद्यनपह्नवो बहुमतिश्चेत्यष्टधा व्याहृतम् ।।
श्रीमज्ज्ञातिकुलेन्दुना भगवता तीर्थस्य कर्त्राऽजसा ।
ज्ञानाचारमहं त्रिधा प्रणिपताम्युद्धूतये कर्मणाम् ।। २ ।।

अन्वयार्थ--(अर्थव्यञ्जनतद्द्वयाविकलताकालोपधाप्रश्रया.) अर्थ, शब्द और उन दोनों (अर्थ, शब्द) की परिपूर्णता, काला उपधा, प्रश्रय (स्वाचार्यद्यनपह्नव.) अपने आचार्य [गुरु] का नाम न छिपाना (च बहुमतिः) और बहुमति (इति अष्टधा ज्ञानाचारं) यह आठ प्रकारका ज्ञानाचार (श्रीमज्ज्ञाति-कुलेन्दुना) लक्ष्मीसे युक्त ज्ञाति [जाति] और कुलमें चन्द्रमाके समान (अजसा) परमार्थसे (तीर्थस्य कर्त्रा) धर्म रूपीतीर्थ के करनेवाले (भगवता) भगवान् तीर्थंकरदेवने (व्याहृत) प्रतिपादन किया है। (अहं) मैं (कर्मणा उद्धूतये) कर्मोंके नाश करनेके लिये उस ज्ञानाचारको (त्रिधा) मन, वचन काय से (प्रणिपतामि) नमस्कार करता हू।

भावार्थ---ज्ञानाचार आठ प्रकारका है।

१ अर्थाचार--ज्ञानके द्वारा जाने हुये अर्थ वा पदार्थको अच्छी तरह धारण करना।

२ व्यञ्जनाचार---शब्दोंको स्पष्ट और निर्दोष उच्चारण करना।

३ तदुभयाचार---उन दोनोंकी पूर्णता अर्थात् अर्थाचार और शब्दाचार [व्यञ्जनाचार] की पूर्णता।

४ कालाचार---योग्य समयमें ज्ञानका आराधन करना। प्रातःकाल, मध्याह्नकाल, सन्ध्याकाल, भूकंप, सूर्यग्रहण, चन्द्रग्रहण, उल्कापात, वज्रपात आदिके समय ज्ञानका आराधन नहीं करना चाहिये। इन सबको छोड़कर योग्य समयमें ज्ञानका आराधन करना चाहिये।

५ उपधाचार---स्मरणपूर्वक अध्ययन करना चाहिये।

६ प्रश्रयाचार—(विनयचार) शास्त्रोंका विनय करते हुये अध्ययन करना चाहिये।

७ स्वाचार्याद्यनपन्हव—अर्थात् पञ्चाचारको निरूपण करनेवाले आचार्य अथवा ज्ञान देनेवाले उपाध्याय आदि का नाम नहीं छिपाना चाहिये।

८ बहुमति—आचार्य वा उपाध्यायोंका आदर सत्कार करते हुये अध्ययन करना चाहिये।

इस प्रकार ज्ञानाचारके आठ भेद हैं। जिनके अनंतचतुष्टयरूप अंतरंग लक्ष्मी और समवशरणादिक बहिरंग लक्ष्मी विद्यमान है। जो अपनी जाति और कुल को प्रकाशित करनेके लिये चन्द्रमाके समान हैं और जो श्रुतज्ञान रूप तीर्थ के अथवा धर्मरूपतीर्थके यथार्थ कर्ता हैं, धर्म वा श्रुतज्ञानको प्रगट करनेवाले वा निरूपण करनेवाले हैं। ऐसे भगवान् जिनेन्द्रदेवने इस आठ प्रकारके ज्ञानाचारका निरूपण किया है। ऐसे ज्ञानाचारको मै अपने समस्त कर्मोंको नाश करनेके लिये मन, वचन, काय से नमस्कार करता हूं।

दर्शनाचारका स्वरूप—

शङ्कादृष्टिविमोहकांक्षणविधिव्यावृत्तिसन्नद्धताम्।
वात्सल्य विचिकित्सनादुपरतिं धर्मोपबृंहक्रियाम्॥
शक्त्या शासनदीपनं हितपथाद्भ्रष्टस्य संस्थापनम्।
वंदे दर्शनगोचरं सुचरितं मूर्ध्ना नमन्नादरात्॥ ३॥

अन्वयार्थ—(शंकादृग्विमोहकांक्षणविधिव्यावृत्तिसन्नद्धता) शंका दृष्टि-विमोह, कांक्षा करनेकी निवृत्ति रूप तत्परता अर्थात् शंकाकी निवृत्ति—निःशंकित अंग, दृष्टिविमोहकी निवृत्ति—अमूढदृष्टि अंग, कांक्षाकी निवृत्ति—निःकांक्षित अंग (वात्सल्य) वात्सल्य अंग (विचिकित्सनात् उपरति) ग्लानिका त्याग (धर्मोपबृंहक्रिया) उपगूहन अंग (शक्त्या शासनदीपन) शक्तिअनुसार जैन-धर्मका प्रकाश करना—प्रभावना अंग (हितपथात भ्रष्टस्य संस्थापन) हितपथ रत्नत्रय से भ्रष्ट—च्युत जीवोंको फिर उसी में स्थिर करना स्थितिकरण अंग ये (दर्शनगोचरं) दर्शनाचारके (सुचरित) गणधरदेवादिकके द्वारा प्रतिपालित हैं—उन आठों दर्शनाचारके अंगोंको (मूर्ध्ना नमन् आदरात वंदे) मस्तक नमाकर आदर सहित वंदना करता हूं।

भावार्थ—इस सम्यग्दर्शनरूप दर्शनाचारके भी आठ अग है। पहले अग का नाम निःशकित है। सर्वज्ञ है या नहीं, अथवा ये पदार्थ सर्वज्ञदवके कहे हुये हैं या नहीं– इस प्रकारके सदेह को शका कहते है। ऐसी शका कभी न करना–ऐसी शका की निवृत्तिमें सदा तत्पर रहना अर्थात सर्वज्ञ प्रणीत पदार्थों में पूर्ण विश्वास करना निःशंकित अग है। दूसरे अंग का नाम—अमूढदृष्टि है। दृष्टिशव्दका अर्थ पदार्थों का यथार्थ श्रद्धान है, उसकी मूढ़ता अन्य मिथ्यादृष्टियो की प्रशंसा करना है। ऐसी मूढ़ता न करना, ऐसी मूढ़ताकी निवृत्ति करने में सदा तत्पर रहना अमूढ़दृष्टि अग है, तीसरा अग निःकाक्षित है। आगामी भोगों की इच्छाका होना काक्षा कहलाती है। ऐसी काक्षा न करना, इच्छाओं की निवृत्ति में सदा तत्पर रहना निःकांक्षित अग है। चौथा अग वात्सल्य है। साधर्मी भाइयोके साथ स्नेह रखना वात्सल्य है। पाचवा अग निर्विचिकित्सा है। विचिकित्सा ग्लानि को कहते हैं। मुनियोंके मलिन शरीरको भी देखकर ग्लानि न करना निर्विचिकित्सा अग है। छठा अग उपवृहण (उपगूहन) है। उत्तम क्षमा आदि धर्मों की वृद्धि करना अथवा धर्मका अनुष्ठान करनेवाले धर्मात्मा भाइयों के प्रमादवश लगे हुये दोषोंको ढक कर धर्म की वृद्धि करना धर्मोपवृंहण नामका अग कहा जाता है। सातवे अग का नाम प्रभावना है। अपनी शक्ति के अनुसार तपश्चरण आदिके द्वारा जैनधर्मका माहात्म्य प्रगट करना प्रभावना है। आठवे अगका नाम स्थितिकरण है। जो मुनि या श्रावक रत्नत्रयसे भ्रष्ट हो रहा है, उसको उदाहरण देकर या हेतुवादसे या नयवादसे समझाकर रत्नत्रयमें स्थिर करना भ्रष्ट न होने देना स्थितिकरण अग कहलाता है। इस प्रकार जिस दर्शनाचारमें सम्यग्दर्शनके ये आठ अग हैं जिनका अनुष्ठान या धारण करना अत्यन्त मनोहर वा सुगति देनेवाला है अथवा जिसका अनुष्ठान गणधरादिकदेव करते हैं ऐसे दर्शनाचारको मै बडे आदर से मस्तक नमाकर नमस्कार करता हू।

तपाचारका स्वरूप—(वाह्यतप)

एकान्ते शयनोपवेशनकृतिः संतापनं तानवम् ।
संख्यावृत्तिनिबन्धनामनशनं विष्वाणमर्द्धोदरम् ॥

त्यागं चेन्द्रियदन्तिनो मदयतः स्वादो रसस्यानिशम्।
षोढा बाह्यमहं स्तुवे शिवगतिप्राप्त्यभ्युपायं तपः ॥ ४ ॥

अन्वयार्थ—(एकान्ते शयनोपवेशनकृतिः) एकान्त स्थानमें सोना बैठना [विविक्तशय्यासन] (तानव सतापन) शरीरको क्लेशित करना [कायक्लेश) (सख्यावृत्तिनिबन्धना) आहारादिवृत्तिके कारणोकी गिनती [वृतपरिसख्यान] (अनशनं) अनशन —उपवास (अर्द्धोदर विभवाया) आधापेट भोजन करना [अवमौदर्य] (च इन्द्रियदन्तिनः मदयतः स्वादः रसस्य अनिश त्याग) तथा इन्द्रियरूपी हाथीको मद उत्पन्न करनेवाले इन (षोढा) छह प्रकारके (शिवगतिप्राप्त्यभ्युपाय) मोक्षकी प्राप्तिके कारणरूप (बाह्य तपः) बाह्यतपोकी (अह) मै (स्तुवे) स्तुति करता हू।

भावार्थ—तपश्चरणके दो भेद हैं-एक अतरगतपश्चरण और दूसरा बाह्य तपश्चरण। इन दोनों तपोंके छह छह भेद हैं। इनमें से बाह्य तपके छह भेद यहा दिखलाते हैं। जहा पर पशु, स्त्री, नपुसक आदि न रहते हों ऐसे एकान्त स्थानमें सोना-बैठना विविक्तशय्यासन नामका तप है। अनेक प्रकारके तपश्चरणोंसे शरीरको क्लेशित करना कायक्लेश नामका तप है। अपने आहार विहार आदि प्रवृत्तिके जो कारण हैं-उनकी गिनती या नियम करना वृतपरिसख्यान तप है। चार प्रकारके आहारका त्याग कर उपवास करना अनशन तप है। अर्ध पेट भोजन करना-अवमौदर्य तप है। इन्द्रियरूपी हाथीको मद उत्पन्न करनेवाले स्वादिष्ट या पौष्टिक रसोंका सदाके लिये त्याग करना-रसपरित्याग नामका तप है। इस प्रकार बाह्य तपके छह भेद है। ये छहों प्रकारके तप बाहरसे दिखाई देते है, लोगोंको मालूम हो जाते हैं अतः इनको बाह्य तप कहते हैं। तथा ये छहों तप मोक्षमार्गको प्राप्त करानेके कारण हैं, उनसे मोक्षप्राप्ति अवश्य होती है। ऐसे छह प्रकारके बाह्य तपोंकी मै स्तुति करता हू तथा वदना करता हू।

अन्तरग तपोका वर्णन—

स्वाध्यायः शुभकर्मणश्च्युतवतः संप्रत्यवस्थापनम् ।
ध्यानं व्यापृतिरामयाविनि गुरौ वृद्धे च बाले यतौ ॥
कायोत्सर्जनसत्क्रिया विनय इत्येवं तपः षड्विधं ।
वंदेऽभ्यन्तरमन्तरंगवलवद्विद्विषिविध्वसनम् ॥ ५ ॥

अन्वयार्थ—(स्वाध्यायः) स्वाध्याय (शुभकर्मणश्च्युत व्रतः संप्रत्यव-स्थापन) शुभकर्मोंको–सामायिक, वदनादिको जो छोड़ रहे हैं या छोड चुके हैं उनको प्रायश्चित्तादि देकर फिर उसी मार्गमें लगाना [प्रायश्चित्त] (ध्यान) ध्यान (आमयाविनि गुरौ, वृद्धे च बाले यतौ व्यापृतिः) रोगी गुरु, वृद्ध और बाल यतियोंकी वैयावृत्त्य करना (कायोत्सर्जनसत्क्रिया) कायसे ममत्त्व छोड़ने रूप सत्क्रिया [कायोत्सर्ग] (विनयः) विनय (इति एवं षड्विधः अभ्यन्तर तपः) इस प्रकार छह तरहके अतरग तपोंको (अन्तरंगबलवद्विद्वेषिविध्वसन) जो अत्यन्त बलवान अन्तरग शत्रुओंको जड मूलसे नष्ट करने वाले हैं—उन (तपों) को नमस्कार करता हू।

भावार्थ—अतरग तपके छह भेद इस प्रकार हैं—लाभ, सम्मान, कीर्ति आदिकी इच्छा रहित केवल कर्मोंका नाश करने के लिये धर्मशास्त्रोंका अध्ययन करना स्वाध्याय है। जो सामायिक, वदना आदि शुभकार्योंको छोड़ रहे है या छोड़ चुके हैं उनको प्रायश्चित्त दकर फिर उसी सनातन मोक्षमार्गमें लगाना प्रयश्चित्त नामका तप है। अपने मनको किसी एक पदार्थ पर लगा कर अन्य समस्त चिंतवनोंको रोक देना ध्यान[1] है। जो गुरु या आचार्य रोगी हो अथवा कोई मुनि अत्यन्त वृद्ध हो या कोई बालक अवस्थामें (कम अवस्थामें) मुनि हो गया और वह रोगी हो तो अपने शरीरसे उसकी सेवा करना वैयावृत्य नाम का तप है। अपने शरीरसे ममत्वका त्याग कर देना कायोत्सर्ग नामका तप है। चार प्रकारका विनय धारण करना विनय तप है। इस प्रकार अतरंग तपके छह भेद हैं। ये सब अतरग तप अत्यन्त बलवान ऐसे क्रोधादिक अतरंग शत्रुओंको नाश करनेवाले हैं। ऐसे इन छहों तपोंको मै बड़ी भक्तिके साथ नमस्कार करता हू।

वीर्याचारका वर्णन—

सम्यग्ज्ञानविलोचनस्य दधतः श्रद्धानमर्हन्मते ।
वीर्यस्याविनिगूहनेन तपसि स्वस्य प्रयत्नाद्यतः ॥
या वृत्तिस्तरणीव नौरविवरा लघ्वी भवोदन्वतो ।
वीर्याचारमहं तमुर्जितगुणं वंदे सतामर्चितम् ॥ ६ ॥

१–एकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यानम्।

अन्वयार्थः—(सम्यग्ज्ञानविलोचनस्य दधतः) सम्यग्ज्ञानरूपी[२] नेत्रों को धारण करनेवाले (अर्हन्मते श्रद्धान 'दधतः' यतेः) अर्हंत भगवानके मत में गाढ श्रद्धानको धारण करने वाले मुनिके (वीर्यस्य भविनिगूहनेन) वीर्यशक्ति को न छिपाकर (स्वस्य प्रयत्नात्[3] तपसि या वृत्तिः) अपने प्रयत्नसे तप में जो प्रवृत्ति है, वह (भवोदन्वतो) ससार समुद्रसे (अविवरा[४]) छिद्रा रहित (लघ्वी) हल्की (नौः इव) नावके समान (तरणी) पारकरनेवाली है ऐसी शक्तिरूप (तं उर्जितगुणं सता अर्चित बीर्याचार अह वदे) उस समस्त कर्मों के नाश करने में समर्थ, सत्पुरुषोके द्वारा पूज्य वीर्याचारको मै नमस्कार करता हू।

भावार्थ—जो मुनि वस्तुके यथार्थ स्वरूपको जाननेवाले सम्यग्ज्ञानरूपी नेत्रोंको धारण करते हैं और भगवान् अरहतदेवके कहे हुये मतमें गाढ श्रद्धान धारण करते हैं ऐसे सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान को धारण करनेवाले मुनि अपने वीर्य या शक्तिको न छिपाकर बड़े यत्नसे–आदरसे ऊपर कहे हुये बारह प्रकारके तपश्चरण पालन करने में अपनी प्रवृत्ति करते हैं, वह उनकी प्रवृत्ति ससार रूपी समुद्रसे पार करने के लिये नावके समान होती है। जिस प्रकार नाव छिद्र रहित होती है उसी प्रकार उन मुनियोंकी प्रवृत्ति भी अतिचार रहित होती है तथा नाव जिस प्रकार छोटी और हल्की एक ही लकडी की बनी हुई अवश्य पार कर देती है उसी प्रकार उन मुनियों की प्रवृत्ति भी आडबर रहित केवल तपश्चरण रूप होती है। ऐसी जो वह मुनियोंकी शक्ति है या वीर्याचार है–जो कि समस्त कर्मों के नाश करने में अथवा कठिन तपश्चरणोंके धारण करने में अत्यन्त गुणशाली है और गणधरादिक बडे बड़े ऋद्धिधारी मुनि भी जिसकी पूजा करते है ऐसे वीर्याचारको अत्यन्त कठिन और घोर तपश्चरण करने की शक्ति को मैं नमस्कार करता हू।

चारित्राचारका वर्णन—

तिस्रः सत्तमगुप्तयस्तनुमनोभाषानिमित्तोदयाः।
पंचेर्यादिसमाश्रयाः समितयः पञ्चव्रतानीत्यपि ॥

२—यथावस्थितवस्तुग्राहिज्ञान सम्यग्ज्ञानं। ३—आदरात्।
३—वृत्यर्थे निरतिचारा। (अविवरा छिद्ररहिता)

चारित्रोपहितं त्रयोदशतयं पूर्वं न दृष्टं परै-
राचारं परमेष्ठिनो जिनपतेर्वीरं नमामो वयम् ॥ ७ ॥

अन्वयार्थः—(तनुमनोभाषानिमित्तोदयाः) शरीर, मन, भाषाके निमित्त से होनेवाली (तिस्रः) तीन (सत्तम गुप्तयः) शोभनीक गुप्तिया (ईर्यादिसमाश्रयाः पञ्च समितयः) ईर्यादिक पाच समिति (अपि) और (पंच व्रतानि) पाच व्रत[1] (इति) इस प्रकार (त्रयोदशतय) तेरह प्रकारका (चारित्रोपहितं) चारित्राचार जो (परमेष्ठिनः जिनपतेः वीरं परैः) अरहंत परमेष्ठी तीर्थंकर-परमदेव भगवान् वीरनाथके सिवाय (पूर्वं न दृष्ट) पहिले किसी ने निरूपण नहीं किया ऐसे (आचार) चारित्राचारको (वय नमामः) हम नमस्कार करते हैं।

भावार्थ—चारित्रके तेरह भेद हैं और वे इस प्रकार हैं। मनको वशकरना, वचनको वश करना और कायको वश करना अर्थात मन वचनकायकी कोई क्रिया न होने देना गुप्तिया[2] कहलाती हैं। इस प्रकार गुप्तियोंके तीन भेद हैं। समितिया पांच हैं। ईर्यासिमिति, भाषासिमिति, एषणा समिति, आदान निक्षेपण समिति और उत्सर्ग समिति।

सूर्यके प्रकाशमें चार हाथ भूमि देखकर चलना ईर्या समिति है। हित मित प्रिय भाषा बोलना भाषा समिति है। शास्त्रमें कही हुई विधिके अनुसार शुद्ध निर्दोष भोजन ग्रहण करना एषणा समिति है। उपकरणों को देख शोधकर रखना, उठाना आदाननिक्षेपण समिति है। जमीनको देखकर (जीवजतु रहित) मलमूत्र निक्षेपण करना व्युत्सर्ग समिति है। इनके सिवाय पाच महाव्रत हैं। हिंसा झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह इन पाच पापोका मनवचनकाय और कृतकारित अनुमोदना से सर्वथा त्याग कर देना पाच महाव्रत कहलाते हैं। यह सब तेरह प्रकारका चारित्र कहलाता है। इस तेरह प्रकारके चारित्रके समुदायको चारित्राचार कहते हैं। उस चारित्राचारके ऊपर लिखे हुये तेरह भेद हैं। यह तेरह प्रकारका चारित्राचार भगवान वीर प्रभु ने ही निरूपण किया है।

१-हिंसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहेभ्यो विरतिर्व्रतम्
२-सम्यग्योगनिग्रहो गुप्तिः

अरहंत परमेष्ठी तीर्थंकर परमदेव भगवान वीरनाथके सिवाय तथा भगवान वृषभदेव (प्रथमतीर्थंकर) के सिवाय अन्य अजितनाथ तीर्थंकर से लेकर पार्श्वनाथ तीर्थंकर तक २२ तीर्थंकरोंमें से किसी ने भी निरूपण नहीं किया है। श्री वृषभदेव तीर्थंकर के समय लोगोंकी बुद्धि सरल थी परंतु मार्ग वद होने के कारण लोग जानकार नहीं थे। इसलिये उन्होंने तेरह प्रकारका चारित्र निरूपण किया तथा महावीर भगवान् के समयमें लोगोंकी बुद्धि जड़रूप थी–परिणामोंमें कुटिलता थी, अतः उन्होंने ऐसे भव्यजीवोंके लिये तेरह प्रकारका चारित्र निरूपण किया। बाकीके तीर्थंकरोंने समस्त पापोंकी निवृत्तिरूप एक सामायिक चारित्र का ही निरूपण किया था। क्योंकि उनके समय न तो जीव भोले थे और न जड बुद्धिवाले ही थे। ऐसे चारित्राचारके लिये मै नमस्कार करता हू।

पञ्चाचार पालनेवाले मुनियोंकी वंदना––

आचारं सहपंचभेदमुदित तीर्थं[1] परं मंगलम्[2] ।
निर्ग्रंथानपि[3] सच्चरित्रमहतो वदे समग्रान्यतीन् ॥
आत्माधीनसुखोदयामनुपमां लक्ष्मीमविध्वंसिनीम् ।
इच्छन्केवलदर्शनावगमनप्राज्यप्रकाशोज्वलाम् ॥ ८ ॥

अन्वयार्थ––(सहपचभेदमुदित आचारं) ऊपर कहा गया पाच प्रकार का आचार (तीर्थं) ससार समुद्रसे पार करनेवाला तीर्थ है (परं मगल) उत्कृष्ट मंगल रूप है उस आचारको मै (वंद) नमस्कार करता हूं। तथा इस आचारको पालन करनेवाले (सच्चरित्रमहत·) जो उत्तम चारित्र पालनेसे पूज्य है (निर्ग्रंथान्) परिग्रहसे रहित हैं ऐसे (समग्रान् यतीन अपि 'वंद') समस्त मुनियों को भी वदना करता हूं। जो लक्ष्मी (आत्माधीनसुखोदया) आत्मासे उत्पन्न होने वाले सुखमय है (अनुपमा) अनुपम है (अविध्वसिनीं) नाश रहित अविनाशी है तथा (केवलदर्शनावगमनप्राज्यप्रकाशोज्वलां) केवलदर्शन, केवलज्ञान इन दोनोंके अनत प्रकाशसे अत्यन्त देदीप्यमान है ऐसी (लक्ष्मी) लक्ष्मींकी (इच्छन्

१-भवोदधि भव्यास्तरन्त्यनेनेति तीर्थं।

२-मंगं सुखं-पुण्य लाति आदत्ते इति मंगल अथवा मं पापं-मलं गालयति विनाशयति इति मंगलं ॥

३-ग्रथान्निष्क्रांताः, निरस्तो वा ग्रंथो यैस्ते निर्ग्रन्थाः तान्।

इच्छा करता हुआ मै 'आचारं यतीन अपि' उस आचार और आचार धारण करनेवाले मुनियोंको नमस्कार करता हू।

भावार्थ—जिस आचारके ऊपर पाच भेद बतलाये हैं, जो आचार भव्य जीवोंको इस ससार समुद्रसे पार कर देनेवाला तीर्थ है, जो मोक्ष मार्गमे सर्वोत्कृष्ट है और जो पापोंको नाश करनेवाला है, अनत पुण्य उत्पन्न करनेवाला मगलमय है, ऐसे पचाचारके लिये मै वदना करता हू। तथा इनकी वदना के साथ साथ इन पचाचारोको धारण करनेवाले समस्त मुनियोकी भी वदना करता हू, जो उत्तम चारित्रको पालन करने से ही पूज्य है ऐसे समस्त मुनियोके लिये मै वंदना करता हू।

इस ससारमें एक मोक्ष लक्ष्मी ही अविनश्वर है, बाकीकी समस्त लक्ष्मियां नाश होनेवाली हैं। इसके सिवाय यह मोक्ष लक्ष्मी केवल आत्मासे उत्पन्न होने वाली अनत सुखमय है तथा केवलदर्शन और केवलज्ञान इन दोनोंके अनत प्रकाशसे अत्यन्त देदीप्यमान है और इसीलिये वह उपमा रहित है ऐसी मोक्ष लक्ष्मी के प्राप्त करनेकी इच्छा करता हुआ मै पचाचारोंको और पंचाचार धारण करनेवाले समस्त मुनियोंको नमस्कार करता हू।

चारित्र पालनमें दोषोंकी आलोचना—

अज्ञानाद्यदवीवृतं नियमिनोऽवर्तिष्यहं चान्यथा।
तस्मिन्नर्जितमस्यति प्रतिनव चैनो निराकुर्वति॥
वृत्ते सप्ततयीं निधिं सुतपसामृद्धिं नयत्यद्भुत।
तन्मिथ्या गुरुदुष्कृत भवतु मे स्वं निंदतो निंदितम्॥ ९॥

अन्वयार्थः—मैंने (अज्ञानात्) अज्ञानसे जो (नियमिन.) मुनियोंको (अन्यथा) शास्त्रमें कही गई विधिके प्रतिकूल (यदवीवृत) प्रवर्तन कराया हो (च अहं 'अन्यथा' अवर्तिपि) अथवा यदि मैंने स्वय अपने अज्ञान से आगमसे विरुद्ध प्रवर्तन किया हो और (तस्मिन् 'अन्यथा वर्तने') उस आगम के प्रवर्तन करने अथवा करानेमें जो (एनः अर्जितम्) पाप लगे हों वे सब पाप (अस्यति) नष्ट हो जाते हैं (च) और (प्रतिनव) नवीन नवीन जो पाप आते हैं वे भी इस चारित्रके पालन करने से (निराकुर्वति) नष्ट हो जाते हैं। इसके सिवाय (वृत्तेः) इस चारित्रके प्रभावसे (सुतपसा) श्रेष्ठ तप करने

वाले मुनियोंको (अद्भुतं) आश्चर्य करनेवाली (सप्ततयीं) सात (निधिं ऋद्धिं) निधिस्वरूप ऋद्धियां (नयति) प्राप्त होती है, ऐसे इस चारित्रके पालन करनेमें ('यत्' गुरुदुष्कृत) जो महा पाप बन गया हो जोकि (निंदितम्) निंदित हो (तत्) वह सब पाप (स्व निंदत. मे) अपनी आत्माकी निंदा करने वाले मेरे (मिथ्या भवतु) मिथ्या हो।

भावार्थ--मैंने अपने अज्ञानसे यदि मुनियोंको शास्त्रमें कही गई विधिके प्रतिकूल प्रवर्तन कराया हो अथवा यदि मैने स्वय अपने अज्ञानसे आगम के विरुद्ध प्रवर्तन किया हो और उस आगमके प्रतिकूल प्रवर्तन करने अथवा कराने में जो पाप लगे हों वे सब पाप इस चारित्रके पालन करने से नष्ट हो जाते हैं तथा नवीन नवीन जो पाप आते हैं वे भी सब इस चारित्रके पालन करने से नष्ट हो जाते हैं। इसके सिवाय इस चारित्रके प्रभावसे श्रेष्ठ तपश्चरण करने वाले मुनियोको आश्चर्य करनेवाली तपश्चरणकी सात ऋद्धिया उत्पन्न हो जाती हैं। बुद्धिऋद्धि, घोरतपऋद्धि, विक्रियाऋद्धि, औषधिऋद्धि, रसऋद्धि, बलऋद्धि, अक्षीण ऋद्धि ये सात प्रकारकी ऋद्धिया मुनियोको इस चारित्रके ही प्रभावसे होती हैं। ऐसे इस चारित्रके पालन करने में जो मुझ से महापाप बन गया हो-जोकि अत्यन्त गर्हित वा निंदनीय हो वह सब पाप अपने आत्माकी निंदा करने वाले मेरे मिथ्या हो।

चारित्र धारण करनेका उपदेश--

संसारव्यमनाहतिप्रचलिता नित्योदयप्रार्थिनः ।
प्रत्यासन्नविमुक्तयः सुमतयः शान्तैनसः प्राणिनः ॥
मोक्षस्येव कृत विशालमतुलं सोपानमुच्चैस्तराम् ।
आरोहन्तु चरित्रमुत्तममिदं जैनेन्द्रमोजस्विनः ॥ १० ॥

अन्वयार्थ--(ससारव्यसनाहतिप्रचलिता) जो भव्य जीव ससारके दुःखों के धक्कोंसे भयभीत हो गये हैं (नित्योदयप्रार्थिनः) जो सदाकाल रहनेवाली मोक्ष लक्ष्मीके प्राप्त होने की प्रार्थना करते है (प्रत्यासन्नविमुक्तयः) जो आसन्न भव्य हैं-मोक्ष लक्ष्मी जिनके समीप तक आ पहुची है (सुमतयः) जिनकी बुद्धि उत्तम है (शान्तैनस.) जिनके पाप कर्मोका उदय शान्त हो गया है (ओजस्विनः प्राणिनः) जो बडे तेजस्वी हैं ऐसे जीव (जैनेन्द्र) जिनेन्द्र भगवान् के

द्वारा निरूपण किये हुये (अतुलं) जिसकी संसार में कोई उपमा नहीं है (विशालं) जो अत्यन्त विशाल है (उच्चैस्तराम्) अत्यंत ऊंचा है ऐसा (मोक्ष-स्यकृत सोपानं इव) मोक्षके लिये बनाये हुए जीने के समान (इद उत्तम चरित्रं आरोहतु) उस उत्तम चारित्रको धारण करो।

भावार्थ—जो जीव संसारके दुःखोंके धक्कोंसे भयभीत हो गये हैं, जो सदा-काल रहनेवाली मोक्षलक्ष्मीके प्राप्त होनेकी प्रार्थना करते हैं, जो आसन्न भव्य हैं या मोक्ष लक्ष्मी जिनके समीप तक आ पहुची है, जिनकी बुद्धि मोक्षमार्ग में लगी रहनेके कारण अत्यन्त उत्तम है, जिनके पापकर्मोंका उदय शान्त हो गया है और जो बड़े तेजस्वी या मोक्षमार्गमें उद्यम करनेवाले हैं ऐसे भव्य जीव इस ऊपर कहे हुए, श्रीजिनेन्द्रदेवके द्वारा निरूपण किये हुए तथा जिसकी ससारमें कोई उपमा नहीं है, जो अत्यन्त विशाल और अत्यन्त ऊचा है ऐसा मोक्ष के लिये बनाये हुये जीने के समान इस उत्तम चारित्रको धारण करें–पालन करें।

कायोत्सर्ग। इसके आगे कायोत्सर्ग करना चाहिये। अथ आलोचना—

इच्छामि भंते! चारित्तभत्तिकाउस्सग्गो कओ तस्स आलोचेउं। सम्मणाणजोयस्स सम्मत्ताहिट्ठियस्स सव्व पहाणस्स णिव्वाणमग्गस्स कम्म-णिज्जरफलस्स खमाहारस्स पञ्चमहव्वयसंपण्णस्स तिगुत्तिगुत्तस्स पञ्च समि-दिजुत्तस्स णाणज्झाण साहणस्स समया इव पवेसयस्स सम्मचारित्तस्स सया अंचेमि, पूजेमि, वंदामि, णमसामि, दुक्खक्खओ, कम्मक्खओ, बोहिलाहो सुगइगमणं, समाहिमरणं, जिणगुणसंपत्ति होउ मज्झं।

अर्थ—हे भगवन्! मै चारित्रभक्ति करके कायोत्सर्ग करता हूं तथा उस कायोत्सर्गमें जो अतिचार या दोष लगे हों उसकी आलोचना करनेकी इच्छा करता हूं। यह सम्यक्चारित्र सम्यग्ज्ञान सहित है, सम्यग्दर्शनसे परिपूर्ण है, मोक्ष प्राप्त करानेके कारणों में से सबमें प्रधान है, मोक्षका साक्षात् कारण है, कर्मोंकी निर्जरा होना ही इसका फल है, उत्तम क्षमा ही इसका आधार है, पच महाव्रतोंसे सुशोभित है, तीनों गुप्तियों से इसकी रक्षा होती है यह पाचों समितियों सहित है, ज्ञान और ध्यानका मुख्य साधन है, समताका प्रवेश इसके अन्तर्गत है ऐसे सम्यक्चारित्रकी मै अर्चा करता हू, सदा पूजा करता हू, सदा वदना करता हूं, और सदा नमस्कार करता हूं। ऐसा करने से मेरे समस्त दुखोंका

नाश हो, समस्त कर्मोंका नाश हो, रत्नत्रयकी प्राप्ति हो, शुभगतिकी प्राप्ति हो, समाधिमरणकी प्राप्ति हो और श्रीजिनेन्द्रदेवके गुणोंकी प्राप्ति हो।

इति चारित्रभक्तिः।

अथ चारित्रभक्तिः [प्राकृत]

तिलोयसव्वजीवाणं हिदं धम्मोवदेसिणं। वड्ढमाणं महावीरं वंदित्ता सव्ववेदिणं ॥ १ ॥ घादिकम्मविघादत्थं घादिकम्मविणासिणा। भासियं सव्वजीवाणं चारित्तं पञ्चभेददो ॥ २ ॥ सामाइय तु चारित्तं छेदोवट्ठावणं तहा ॥ तं परिहारविसुद्धिं च संजम सुहुमं पुणो ॥ ३ ॥ जहाखाद तु चारित्त तहाखादं तु तं पुणो ॥ किच्चाहं पञ्चहाचारं मंगलं मलसोहणं ॥ ४ ॥ अहिंसादीणि उत्ताणि महव्वयाणि पञ्च य। समिदीओ तदो पञ्च पञ्च इंदियणिग्गहो ॥ ५ ॥ छब्भेया वा सभूसिज्जा अण्हाणत्तमचेलदा। लोयत्त ठिदिभुत्तिं च अदंतधावणमेव य ॥ ६ ॥ एयभत्तेण संजुता रिसि मूलगुणा तहा। दसधम्मा तिगुत्तीओ सीलाणि सयलाणि च ॥ ७ ॥ सव्वेवि य परीसहा उत्तरोत्तरगुणा तहा ॥ अण्णे विभासिया संता तेसिं हाणिं मए कया ॥ ८ ॥ जइ रायेण दोसेण मोहेणाणादरेण वा ॥ वंदिता सव्वसिद्धाणं संजदा सा मुमुक्खुणा ॥ ९ ॥ संजदेण मए सम्म सव्वसंजमभाविणा। सव्वसंजमसिद्धीओ लब्भदे मुत्तिज सुहं ॥ १० ॥

व्रतसमुदयमूलः संयमस्कंधबंधो। संयमनियमपयोभिर्वर्धितः शीलशाखः। समितिकलिकभारो गुप्तिगुप्तप्रवालो गुणकुसुमसुगंधिः सत्तपश्चित्रपत्रः ॥१॥ शिवसुखफलदायी यो दयाछाययोद्धः। शुभजनपथिकानां खेदनोदे समर्थः॥ दुरितरविजतापं प्रापयन्नंतभावं। स भवविभवहान्यै नोऽस्तुचारित्रवृक्षः ॥ २ ॥ चारित्र सर्वजिनैश्चरित्र प्रोक्तं च सर्वशिष्येभ्यः ॥ प्रणमामि पच-भेदं पञ्चमचारित्रलाभाय ॥ ३ ॥ धर्मः सर्वसुखाकरो हितकरो धर्मं बुधा-श्चिन्वते। धर्मेणैव समाप्यते शिवसुखं धर्माय तस्मै नमः। धर्मान्नास्त्य-

परः सुहृद्भवभृतां धर्मस्य मूलं दया । धर्मे चित्तमहं दधे प्रतिदिनं हे धर्म मां पालय ॥ ४ ॥ धम्मो मङ्गलमुक्किट्ठं अहिंसा संजमो तओ । देवा वि तस्स पणमंति जस्स धम्मो सया मणो ॥ ५ ॥

इच्छामि भंते चारित्तभत्तिकाउस्सग्गो कओतस्स आलोचेउं सम्मणाणजोयस्स सम्मत्तहिट्ठियस्स सव्वपहाणस्स णिव्वाणमग्गस्स कम्मणिज्जर फलस्स खमाहारस्स पंचमहव्वयसंपण्णस्स तिगुत्तिगुत्तस्स पंचसमिदिजुत्तस्स, णाणज्झाणसाहणस्स समयाइव पवेसयस्स सम्मचारित्तस्स सया अंचेमि, पूजेमि वंदामि णमंसामि, दुक्खक्खओ कम्मक्खओ, बोहिलाहो, सुगइमणं समाहिमरणं जिणगुणसंपति होउ मज्झं ।

योगिभक्तिः

दुवई छन्द —

जातिजरोरुरोगमरणातुरशोकसहस्रदीपिताः ।
दुःसहनरकपतनसन्त्रस्तधियः प्रतिबुद्धचेतसः ॥
जीवितमंबुबिंदुचपलं तडिदभ्रसमा विभूतयः ।
सकलमिदं विचिन्त्य मुनयः प्रशमाय वनान्तमाश्रिताः ॥१॥

अन्वयार्थ— (जातिजरोरुरोगमरणातुरशोकसहस्रदीपिताः) जो जन्म, जरा, बुढ़ापा, उरुरोग—पेटके महारोग भगदर जलोदरादिक मरण आदि रोगों से पीडित-दुखी हैं, हजारों शोकों—पुत्रस्त्री आदिके वियोगजनित संतापसे अत्यन्त जाज्वल्यमान हैं (दुःसहनरकपतनसन्त्रस्तधियः) असह्य नरक पतनसे जिनकी बुद्धि भयभीत हो रही है (प्रतिबुद्धचेतसः) जिनके हृदयमें हेयोपादेय का विवेक जागृत हो रहा है ऐसे (मुनयः) मुनि (जीवित अबुबिंदुचपल) इस जीवनको पानीकी बूंदके समान चञ्चल समझ (विभूतयः) तथा संसारकी समस्त विभूतियों को (तडित्अभ्रसमा) बिजली व बादलके समान (इद सकल विचिन्त्य) क्षणविनश्वर समझ कर (प्रशमाय) शांतिके लिये—रागद्वेषको दूर करनेके लिये-

ससारका नाश करने के लिये (वनान्तं आश्रिताः) वनका आश्रय लेते हैं—वनमें चले जाते हैं।

वनमें जाकर क्या करते हैं?

भद्रिका छद.

व्रतसमितिगुप्तिसंयुताः शमसुखमाधाय[1] मनसि वीतमोहाः।
ध्यानाध्ययनवशंगताः विशुद्धये कर्मणां तपश्चरन्ति ॥ २ ॥

अन्वयार्थः— (व्रतसमितिगुप्तिसयुताः) जो मुनि व्रत–पांच महाव्रत, समिति–ईर्यादि पांचों समिति, गुप्ति–मनोगुप्ति आदि तीन गुप्ति कर सहित हैं अर्थात ५ महाव्रत, ५ समिति, ३ गुप्ति, इस प्रकार १३ प्रकारका चारित्र प्रयत्न पूर्वक पालते हैं (वीतमोहाः) जिनका दर्शन मोहनीय कर्म सर्वथा नष्ट हो गया है (ध्यानाध्ययनवशगताः) जो ध्यान और अध्ययन–स्वाध्याय में ही सदा लीन रहते हैं वे मुनि (कर्मणा विशुद्धये) कर्मोंका नाश करने के लिये (मनसि शम-सुखमाधाय) परम वीतरागताके सुखको हृदयमें धारण कर (तपः चरन्ति) तपश्चरण करते हैं।

दिनकरकिरणनिकरसंतप्तशिलानिचयेषु निस्पृहाः।
मलपटलावलिप्ततनवः शिथिलीकृतकर्मबंधनाः॥
व्यपगतमदनदर्परतिदोषकषायविरक्तमत्सराः।
गिरिशिखरेषु चंडकिरणाभिमुखस्थितयो दिगम्बराः॥ ४ ॥

अन्वयार्थः— (मलपटलावलिप्ततनवः) मैलके पटलों से जिनका शरीर लिप्त हो रहा है—स्नान नहीं करने से जिनके शरीर पर मैलके पटल जम गये हैं (शिथिलीकृतकर्मबधनाः) जिनके कर्मोंके स्थितिबध और अनुभागबध सब शिथिल हो गये हैं—नष्ट हो गये हैं (व्यपगतमदनदर्परतिदोषकषायविरक्तमत्सराः) जिनके कामका उद्रेक, इष्ट पदार्थों में रति–राग, मोहादिक दोष, क्रोधादिक कषाय और मात्सर्य नष्ट हो गये हैं (चडकिरणाभिमुखस्थितयः) सूर्यकी प्रचड किरणोंके सामने जो विराजे हुये हैं ऐसे (दिगम्बराः) दिगम्बर मुनिराज (गिरि-शिखरेषु) पर्वतोंके शिखर पर (दिनकरकिरणनिकरसतप्तशिलानिचयेषु) सूर्यकी

१-शिवसुखमित्यपि पाठः

किरणोंके समूहसे संतप्तअत्यत तप्तायमान शिलाओंके समूह पर (निस्पृहाः) निरुपृह होकर ('तपः चरन्ति') घोर तपश्चरण करते हैं।

भद्रिका छंदः—

सज्ज्ञानामृतपायिभिः क्षान्तिपयः सिच्यमानपुण्यकायैः।
धृतसंतोपच्छत्रकैः तापस्तीव्रोऽपि सह्यते मुनीन्द्रैः ॥ ४ ॥

अन्वयार्थ—(सज्ज्ञानामृतपायिभिः) जो मुनि सम्यग्ज्ञानरूपी अमृत को पीते रहते हैं (क्षान्तिपयः सिच्यमानपुण्यकायैः) जो अपने पुण्यमय शरीर को क्षमारूपी जल से सींचते रहते हैं अथवा जो अपने पुण्यके समूह को क्षमा रूप जलसे सींचते रहते हैं (धृतसन्तोषच्छत्रकैः) जो संतोषरूपी छत्रको धारण करते रहते हैं ऐसे (मुनीन्द्रैः) मुनिराज (तीव्रोऽपि ताप) असह्य कायक्लेश (सह्यते) सहन करते हैं।

भावार्थ—मुनिराज गर्मीके दिनोंमें पर्वतकी शिखरपर जाकर तपश्चरण करते हैं, केवलज्ञानरूपी जलको पीते हैं, क्षमारूप जलसे स्नान करते हैं और संतोषरूपी छत्र धारण करते हैं। इस प्रकार गर्मीके दिनोंमें घोर तपश्चरण करते हैं।

वर्षा ऋतुमें मुनिराज क्या करते हैं?

शिखिगलकज्जलालिमलिनैर्विबुधाधिपचापचित्रितैः।
भीमरवैर्विसृष्टचण्डाशनिशीतलवायुवृष्टिभिः॥
गगनतलं विलोक्य जलदैः स्थगितं सहसा तपोधनाः।
पुनरपि तरुतलेषु विषमासु निशासु निशंकमासते ॥ ५ ॥

अन्वयार्थः— (शिखिगलकज्जलालिमलिनैः) मोरकी गर्दन के समान काले अथवा काजल, भ्रमरके समान कृष्ण (विबुधाधिपच्चायचित्रितैः) इन्द्रधनुषोंसे सुशोभित (भीमरवैः) भयकर शब्द करनेवाले (विसृष्टचण्डाशनिशीतलवायुवृष्टिभिः) बिजली गिरानेवाले, शीतल वायु करनेवाले, घनघोर वर्षा करनेवाले (जलदैः) बादल (गगनतल स्थगित) आकाशमें छाये हुये (विलोक्य) देखकर (तपोधनाः) मुनि (पुनरपि) फिर भी (विषमासु) भयानक (निशासु) रात्रियोमें (तरुतलेषु) वृक्षोंके नीचे (विशंक) निर्भय (आसते) 'आतापन योग धारण कर' विराजते हैं।

वे मुनि वर्षाऋतुमें वृक्षके नीचे विराजमान रहते हैं, मूसलधार वर्षासे उनके शरीरको बहुत कष्ट पहुचता है तथापि वे मुनिराज अपने प्रतिज्ञा किये हुये व्रत से च्युत नहीं होते हैं—ऐसा बताते हैं——

* भद्रिका छन्द *

जलधाराशरताडिता न चलन्ति
चरित्रतः सदा नृसिंहाः ।
संसारदुःखभीरवः परीषहाराति-
घातिनः प्रवीराः ॥ ६ ॥

अन्वयार्थ —— (जलधाराशरताडिता) वे मुनिराज पानी की धारारूपी बाणों से ताडित किये जाते हैं—वर्षाकी धारा बाणोंके समान उनको दुख देती है तथापि वे (नृसिंहाः) मनुष्योंमें सिंहके समान शूरवीर होते हैं (ससारदुःख-भीरवः) ससारके दुखोंसे वे भयभीत रहते हैं (परिषहारातिघातिनः प्रवीराः) परीषह रूपी शत्रुओं को वे सर्वथा घातनेवाले हैं—इसीलिये शूरवीरोमें भी मुख्य गिने जाते हैं (सदा) वे हमेशा ऐसी घोर वर्षामें भी (चरित्रतः) अपने चारित्र से (न चलन्ति) चलायमान नहीं होते हैं ।

शीतकालमें वे मुनिराज क्या करते है '

* दुवई छन्दः *

अविरतवहलतुहिनकणवारिभिरंघ्रिपपत्रपातनै-
रनवरतमुक्तसात्काररवैः परुषैरथानिलैः शोषितगात्रयष्टयः ।
इह श्रमणा धृतिकंबलावृताः शिशिरनिशां ।
तुषारविषमां गमयन्ति चतुःपथे स्थिताः ॥ ७ ॥

अन्वयार्थः——(अथ) वर्षाकाल के बाद (इह) इस लोकमें (अविरत-बहलतुहिनकणवारिभिः) शीतकालमें सदा बहनेवालीचलनेवाली वायु बरफ या पालेकी बड़ी बड़ी बूंदों से भरी रहती हैं (अंघ्रिपपत्रपातनैः) वह वायु, वृक्षो के सब पत्तोको गिरा देती है (अनवरतमुक्तसात्काररवैः) उससे सदा 'साय-साय' ऐसा बड़ा भारी शब्द होता रहता है (परुषैः अनिलैः) वह वायु अत्यत कठोर एव असह्य होती है-ऐसी झझा वायुसे (शोषितगात्रयष्टयः) जिनकी शरीररूपी लकडी सब सूख गई है ऐसे (श्रमणाः) वे मुनिराज (चतुःपथे

स्थिताः) चौराहेपर-चौड़े मैदानमें विराजमान होकर (धृतिकंबलावृताः) धैर्य-संतोष रूपी कम्बलको धारण कर बडे सुखसे (तुषारविषमा) पाला—बरफ पड़ने से अत्यन्त असह्य ऐसी (शिशिरनिशा) शीतकालकी रात्रिको (गमयन्ति) व्य-तीत करते हैं।

स्तुतिफलकी याचना—

इति योगत्रयधारिणः सकलतपशालिनः प्रवृद्धपुण्यकायाः ।
परमानंदसुखैषिणः समाधिमग्र्यं दिशंतु नो भदन्ताः ॥ ८ ॥

अन्वयार्थः—— (इति) इसप्रकार (योगत्रयधारिणः) तीन योग धारण करनेवाले—गर्मीमें पर्वतके शिखरपर आतापन योग धारण करनेवाले, वर्षा में वृक्षके नीचे विराजमान होनेवाले और शीतकालमें चौरायेपर विराजमान होने-वाले अथवा मन वचन काय तीनों गुप्तियोंको पालन करनेवाले (सकलतपशा-लिनः) बाह्य-अभ्यंतर समस्त तपोंसे सुशोभित होनेवाले (प्रवृद्धपुण्यकायाः) अपने पुण्यके समूहको परम अतिशय से सुशोभित करनेवाले अथवा अनेक प्रकारके तपश्चरण करनेमें अपने शरीरको उत्साहित करनेवाले (परमानदसु-खैषिणः) मोक्षरूपी सुखकी इच्छा करनेवाले (भदन्ताः) वे मुनिराज (नो) स्तुतिकरनेवाले मुझको (अग्र्य समाधिं) परमसर्वोत्तम शुक्लध्यानकी (दिशन्तु) प्राप्ति करो।

इसके आगे कायोत्सर्ग करना चाहिये।

आलोचना—इच्छामि भंते! योगिभत्तिकाउस्सग्गो तस्सालोचेउं । अड्ढाइज्जदीवदो समुद्देसु पण्णारसकम्मभूमीसु आदावणरुक्खमूलअब्भोवा-सठाणमोणविरासणेक्कपासकुक्कुडासण चउछपक्खखवणादियोगजुत्ताण सव्वसाहूणं वंदामि, णमंसामि, दुक्खक्खओ, कम्मक्खओ, बोहिलाहो, सुगइगमणं, समाहिमरणं, जिणगुणसंपत्ति होउ मज्झं ॥

हे भगवन्! मै योगिभक्ति कर कायोत्सर्ग करता हूं इसमें जो दोष हुये हों, उनकी आलोचना करना चाहता हूं। ढाई द्वीप और दो समुद्रोंमें जो पन्द्रह कर्मभूमिया हैं उनमें जो साधु आतापनयोग धारण करते हैं, वृक्षके नीचे रहते हैं और चौड़े मैदानमें रहते हैं इस प्रकारके तीनों योगोंको जो धारण करते हैं, जो मौनव्रत धारण करते हैं, वीरासन, एक पार्श्व (एक करवटसे सोना) और

कुक्कुरासन (मुर्गेका सा आसन) आदि अनेक आसनोंसे तपश्चरण करते हैं, जो वेला तेला करते हैं, पन्द्रह दिनका उपवास और अधिक उपवास करते है-ऐसे समस्त मुनियोंकी मै वंदना करता हूं, सबको नमस्कार करता हूं। मेरे दु.खोंका क्षय हो, कर्मोंका क्षय हो, मुझे रत्नत्रयकी प्राप्ति हो, शुभगतिकी प्राप्ति हो, समाधिमरण की प्राप्ति हो व भगवान् जिनेन्द्रदेवके गुणोंकी प्राप्ति हो।

इति योगिभक्तिः।

अथ क्षेपक श्लोकानि।

योगीश्वरान् जिनान्सर्वान्योगनिर्धूतकल्मषान्। योगैस्त्रिभिरहं वंदे योगस्कंधप्रतिष्ठितान् ॥ १ ॥ प्रावृट्कालेसविद्युत्प्रपतितसलिले वृक्षमूलाधिवासाः॥ हेमंते रात्रिमध्ये प्रतिविगतभया काष्ठवत्त्यक्तदेहाः॥ ग्रीष्मे सूर्यांशुतप्ता गिरिशिखरगताः स्थानकूटांतरस्थाः॥ ते मे धर्मं प्रदद्युर्मुनिगणवृषभा मोक्षनिःश्रेणिभूताः ॥ २ ॥ गिह्मे गिरिसिहरत्था वरिसायाले रुक्खमूलरयणीसु सिसिरे वाहिरसयणा ते साहू वंदिमो णिच्चं॥ १ ॥ गिरिकंदरदुर्गेषु ये वसंति दिगंबराः। पाणिपात्रपुटाहारास्ते यांति परमां गतिम्॥ २ ॥

योगिभक्तिः [प्राकृत]

थोस्सामि गुणधराण अणयाराण गुणेहि तच्चेहिं। अंजलिमउलियहत्थो अभिवंदंतो सविभवेण ॥ १ ॥ सम्म चेव य भावे मिच्छाभावे तहेव बोधव्वा। चइऊण मिच्छभावं सम्मम्मि उवठ्ठिदे वंदे ॥ २ ॥ दोदोसविप्पमुक्के तिदंडविरद तिसल्लपरिसुद्धे। तिण्णियगारवरहिये तियरणसुद्धे णमसामि ॥ ३ ॥ चउविहकसायमहणा चउगयसंसारगमण भयभीए। पचासवपडिविरदे पंचेंदियणिज्जिदे वंदे ॥ ४ ॥ छज्जीवदयावण्णे छडायदणविवज्जिदे समिदभावे। सत्ता भयविप्पमुक्के सत्ताण सिवंकरे वंदे ॥ ५ ॥ णट्ठट्ठमयट्ठा णे पणट्ठकम्मट्ठणिट्ठियट्ठे अट्ठगुणड्ढीसरे वंदे ॥ ६ ॥ णवब-

भचेरगुत्ते णवणयसब्भावजाणगे वंदे ।। दहविहधम्मट्ठाई दससंजमसंजदे वंदे ।। ७।। एयारसंगसुदसायरपारगे वारसंगसुदणिऊणे । वारमविहतवणिरदे तेरसकिरियादरे वंदे ।। ८ ।। भूदेसु दयावण्णे चउदस चउदससु गंथपरिसुद्धे । चउदसपुव्वपगब्भे चउदसमलविवज्जिदे वंदे ।। ९ ।। वंदे चउत्थभत्तादिजावछम्मासखवणपडिवण्णे । वंदे आदावंते सूरस्स य अहिमुहट्ठिदे सूरे ।। १० ।। वहुविहपडिमट्ठाई णिसिज्जवीरासणेक्कवासीय । अणिट्ठीवकंडुवदीवे चत्तदेहे य वंदामि ।। ११ ।। ठाणी मोणवदीये अब्भोवासीय रुक्खमूलीय । धुवकेसमंसुलोमे णिप्पडियम्मे य वंदामि ।। १२ ।। जल्लमल्ललित्तगत्ते वंदे कम्ममलकलुसपरिसुद्धे । दीहणहमंसुलोमे तवसिरिभरिये णमंसामि ।। १३ ।। णाणोदयाहिसित्ते सीलगुणविहूसिये तवसुगंधे । ववगयरायसुदड्ढे सिवगइपहणायगे वंदे ।। १४ ।। उग्गतवे दित्ततवे तत्ततवे महातवे य घोरतवे । वंदामि तवमहंते तवसंजमइड्ढिसंजुत्ते ।। १५ ।। आमोसहिये खेलोसहिये जल्लोसहिये तवसिद्धे । विप्पोसही य सव्वोसही य वंदामि तिविहेण ।। १६ ।। अमयमहुखीरसप्पिसवीयअक्खिणमहाणसे वंदे । मणवलिवचणवलिकायवलिणो य वंदामि तिविहेण ।। १७ ।। वरकुट्ठवीयवुद्धी पदाणुसारीय भिण्णसोदारे ।। उग्गहईहसमत्थे सुत्तत्थविसारदे वंदे ।। १८ ।। आभिणिवोहियसुदओहिणाणिमणणाणिसव्वणाणीय । वंदे जगप्पदीवे पच्चक्खपरोक्खणाणीय ।। १९ ।। आयाभनंतुजलसेढिचारणे जङ्घचारणे वंदे ।। विउवणइड्ढिपहाणे विज्जाहरपण्णसवणे य ।। २० ।। गइचउरंगुलगमणे तहेव फलफुल्लचारणे वंदे ।। अणुवमतवमहंते देवासुरवंदिदे वंदे ।। २१ ।। जियभय जियउवसग्गे जियइंदियपरीसहे जियकसाए ।। जियरायदोसमोहे जियसुहदुक्खे णमंसामि ।। २२ ।। एवं मचेमित्थुया अणयारा रायदोसपरिसुद्धा । सङ्घस्स वरसमाहिं मज्झवि दुक्खक्खय दिंतु ।। २३ ।। इच्छामि भंते योगिभत्तिकाउस्सग्गो कओ तस्सालोचेउं अड्ढाइज्जदीवदोसमुद्देसु पण्णारसकम्मभूमीसु आदावणरुक्खमूलअब्भोवासठाणमोणविरासणेक्कपासकुक्कुडासण चउछपक्खखवणादियोगजुत्ताणं सव्वसाहूणं वंदामि, णमंसामि, दुक्खक्खओ कम्मक्खओ, वोहिलाहो, सुगइगमणं समाहिमरणं जिणगुणसंपत्ति होउ मज्झ ।।

आचार्यभक्तिः

स्कन्द छन्दः—

सिद्धगुणस्तुतिनिरतानुद्धतरुषाग्नि-
जालवहुलविशेषान् ।
गुप्तिभिरभिसंपूर्णान्
मुक्तियुतः सत्यवचनलक्षितभावान् ॥ १ ॥

अन्वयार्थः—जो आचार्य (सिद्धगुणस्तुतिनिरतान्) सिद्धोंके सम्यक्त्वादि गुणोंकी स्तुति करने में सदा लवलीन हैं (उद्धूतरुषाग्निजालबहुलविशेषान्) क्रोधरूपी अग्नि—उपलक्षणसे मान, माया, लोभ आदि कषायों का जो समूह उसके अनन्तानुवधी आदि अनेक भेद हैं—अर्थात् कषायोंके जो भेद हैं वे सब जिन्होंने नष्ट कर दिये हैं (गुप्तिभिः अभिमपूर्णान्) जो मनगुप्ति, वचनगुप्ति, और कायगुप्तिका पालन करते हैं—गुप्तियों से परिपूर्ण हैं, जो (मुक्तियुतः) मुक्ति-मोक्षसे ही सदा सम्बंध रखते हैं (सत्यवचनलक्षितभावान) जिनके भाव सत्यवचनसे ही भरपूर हैं—जो कभी किसी को नहीं ठगते ऐसे आचार्यों को मै नमस्कार करता हूं[1] ।

मुनिमाहात्म्यविशेषान्
जिनशासनसत्प्रदीपभासुरमूर्तीन् ॥
सिद्धिं प्रपित्सुमनसो
बद्धरजोविपुलमूलघातनकुशलान् ॥ २ ॥

अन्वयार्थः—(मुनिमाहात्म्यविशेषान्) जो मुनियोंके विशेष माहात्म्यको—ज्ञानके अतिशयको प्रकाशित करनेवाले हैं (जिनशासनसत्प्रदीपभासुरमूर्तीन्) जिनकी मूर्ति जिनशासनको प्रकाशित करनेके लिये दीपक के समान देदीप्यमाम

१—इस श्लोक में तथा आगेके श्लोकों में नमस्कार सूचक कोई वाक्य नहीं है, वह वाक्य दशवें श्लोकमें है और वहा तक सब श्लोकोंका सम्बन्ध है । अत "नमस्कार करता हू" यह वाक्य वहा से लिया गया है । आगे भी ऐसा ही समझना चाहिये ।

है अथवा तपश्चरणके माहात्म्यसे जिनके शरीरकी मूर्ति दीपक के समान दैदी-प्यमान हो रही है (सिद्धिं प्रपित्सुमनसः) जिनके मनमें सिद्धपद प्राप्त करने की इच्छा है (बद्धरजोविपुलमूलघातनकुशलान्) और जो ज्ञानावरण आदि कर्मों के वंध होने के तत्प्रदोष, निह्नव, मात्सर्य आदि कारणोंको नाश करनेमें अत्यंत कुशल हैं—ऐसे आचार्यों को मै नमस्कार करता हूं।

गुणमणिविरचितवपुषः
षड्द्रव्यविनिश्चितस्य धातॄन्सततम्।
रहितप्रमादचर्यान् दर्शनशुद्धान्
गणस्य संतुष्टिकरान् ॥ ३ ॥

अन्वयार्थः— (गुणमणिविरचितवपुषः) जिनके शरीर सम्यग्दर्शन आदि गुणरूपी मणियों से सुशोभित हैं (षड्द्रव्यविनिश्चितस्य) जो जीवादिक छहों द्रव्योंके निश्चयके (सतत) सदा (धातृन) आधार भूत रहते हैं—अर्थात् जिनके हृदयमें छहों द्रव्योका सदा गाढ श्रद्धान रहता है (रहितप्रमादचर्यान्) जिनके चारित्र विकथा आदि प्रमादोंसे सदा रहित रहते हैं (दर्शन शुद्धान्) जिन का सम्यग्दर्शन सदा शकादिक पच्चीसों दोषोंसे रहित होता है (गणस्य संतुष्टिकरान्) और जो सबको सदा संतुष्ट करनेवाले हैं—ऐसे आचार्यों को मैं सदा नमस्कार करता हूं।

मोहच्छिदुग्रतपसः प्रशस्तपरिशुद्धहृदयशोभनव्यवहारान्।
प्रासुकनिलयाननघानाशाविध्वंसिचेतसो हतकुपथान् ॥ ४ ॥

अन्वयार्थः— (मोहच्छिदुग्रतपसः) अवधिज्ञान आदि अतिशय होने के कारण जिनका उग्र तपश्चरण मोह और अज्ञानका नाश करनेवाला है, (प्रशस्तपरिशुद्धहृदयशोभनव्यवहारान्) जिनके हृदयमें सदा धर्मवृद्धिकी इच्छा रहती है, जिनका हृदय सदा शुद्ध—लाभादिक की इच्छासे रहित रहता है इसी लिये जिनका समस्त व्यवहार अपने आत्माका और अन्य भव्य जीवोंका कल्याण करनेवाला होता है (प्रासुकनिलयान्) जिनके रहने का स्थान सम्मूर्छन जीवों से रहित प्रासुक रहता है (अनघान्) जो पापोंसे या पापकार्योंसे सर्वथा रहित होते हैं (आशाविध्वसिचेतसः) जिनका हृदय इसलोक और परलोककी आशा से सर्वथा रहित होता है (हतकुपान्) और जो मिथ्यादर्शनरूप कुमार्ग को

सदा नाश करनेवाले होते हैं। ऐसे आचार्यों को मै सदा नमस्कार करता हू।

धारितविलसन्मुंडान्वर्जितबहुदंडपिंडमंडलनिकरान्।

सकलपरीषहजयिनः क्रियाभिरनिशं प्रमादतः परिरहितान् ॥५॥

अन्वयार्थः— (धारितविलसन्मुंडान्) जिनके मन, वचन, काय, पांचों इन्द्रियां और हाथ पैरों आदिके व्यापार सब पाप रहित हैं और इसीलिये अत्यत शोभायमान रहते हैं (वर्जितबहुदंडपिंडमंडलनिकरान्) जो मुनियोंका समुदाय अधिक प्रायश्चित्त लेनेवाला या अपराधी होता है अथवा अधिक प्रायश्चित्त लेनेवाला आहार ग्रहण करता है ऐसे मुनि समुदायसे जो आचार्य सर्वथा अलग रहते हैं (क्रियाभि.) जो तपश्चरणके विशेष विशेष अनुष्ठानोंमे (अनिशं) सदा (सकलपरीषहजयिनः) अनेक प्रकारकी परीषहोंको जीतते रहते हैं (प्रमादतः) जो प्रमादसे (परिरहितान) सर्वथा रहित होते हैं, ऐसे आचार्यों को मै सदा नमस्कार करता हूं।

अचलान्व्यपेतनिद्रान् स्थानयुतान्कष्टदुष्टलेश्याहीनान्।

विधिनानाश्रितवासानलिप्तदेहान्विनिर्जितेन्द्रियकरिणः ॥ ६ ॥

अन्वयार्थः— (अचलान्) जो अनेक परीषहों के आजाने पर भी अपने अनुष्ठानसे या व्रतोंमे कभी चलायमान नहीं होते (व्यपेतनिद्रान्) जो विशेषकर निद्रासे रहित होते है (स्थानयुतान्) प्रायः कायोत्सर्ग धारण करते है (कष्टदुष्टलेश्याहीनान्) अनेक प्रकारके दुःख और दुर्गतियोंको देनेवाली अशुभलेश्याओंसे जो सदा दूर रहते हैं (विधिना) विधिपूर्वक (अनाश्रितवासान) घरका त्याग कर दिया है अथवा नियमसे घर रहित हैं अथवा आगमके अनुसार जिनके कदरा, वसतिका आदि अनेक प्रकार के रहनेके स्थान हैं। (अलिप्तदेहान्[1]) तपश्चरणके माहात्म्यसे जिनका शरीर अत्यत निर्मल है (विनिर्जितेन्द्रियकरिणः) जो इन्द्रिय रूपी हाथीको सदा अपने वशमें रखते हैं इन्द्रियों को जीतनेवाले हैं-ऐसे आचार्योंको मै सदा नमस्कार करता हू।

अतुलानुत्कुटिकासान्विविक्तचित्तानखंडितस्वाध्यायान्।

दक्षिणभावसमग्रान्व्यपगतमदरागलोभशठमात्सर्यान् ॥ ७ ॥

१-विलिप्त इति च क्वचित्पाठः, अर्थात् जिनका शरीर मल (मैल) से लिप्त है।

अन्वयार्थ---(अतुलान्) जो आचार्य अतुल--अनुपम हैं संसारमें जिन की कोई उपमा नहीं है (उत्कुटिकासान्) जो उत्कुटिकासन आदि कठिन कठिन आसनोंसे तपश्चरण करते हैं (विविक्तचित्तान्) जिनका हृदय सदा हेयोपादेय के विवेकसे सुशोभित रहता है (अखडितस्वाध्यायान्) जिनका स्वाध्याय सदा अखंडित रहता है (दक्षिणभावसमग्रान्[2]) जो शुभ परिणामों से ही सदा सुशोभित रहते है (व्यपगतमदरागलोभशठमात्सर्यान्) जो मद-अभिमान-अहकार, राग, लोभ, अज्ञान और मत्सरता (ईर्ष्या) मे सदा अलग रहते हैं-ऐसे आचार्योंको मै सदा नमस्कार करता हू।

भिन्नार्तरौद्रपक्षान्संभावितधर्मशुक्लनिर्मलहृदयान् ।
नित्यं पिनद्धकुगतीन्पुण्यान्गण्योदयान्विलीनगारवचर्यान् ॥८॥

अन्वयार्थः—(भिन्नार्तरौद्रपक्षान्) जिन्होंने आर्तध्यान और रौद्रध्यान रूपी पक्षोंका सर्वथा नाश कर दिया है (सभावितधर्मशुक्लनिर्मलहृदयान्) जो अपने निर्मल शुद्ध हृदयमें धर्मध्यान और शुक्लध्यानका सदा अनुभव करते रहते हैं (नित्य) सदाके लिये (पिनद्धकुगतीन्[3]) जिन्होंने नरकादिक दुर्गतियोंका नाश कर दिया है (पुण्यान्[4]) जो अत्यंत पवित्र या पुण्य स्वरूप हैं (गण्योदयान्) जिनकी ऋद्धियां या तपश्चरणके माहात्म्य अत्यत प्रशसनीय श्लाघ्य हैं (विलीनगारवचर्यान्) जो दूररसास्वादन (दूरसे ही रसका आस्वादन कर लेना) आदि ऋद्धियोंकी प्रवृत्तियोंसे सर्वथा रहित होते हैं—ऐसे आचार्योंको मै सदा नमस्कार करता हू।

तरुमूलयोगयुक्तानवकाशातापयोगरागसनाथान् ।
बहुजनहितकरचर्यानभयाननघान्महानुभावविधानान् ॥ ९ ॥

अन्वयार्थः— (तरुमूलयोगयुक्तान्) जो वर्षाकालमें वृक्षके नीचे तरुमूलयोग धारण करते हैं (अवकाशातापयोगरागसनाथान्) ग्रीष्मकालमें आतापनयोग और शीतकालमें अभ्रावकाशयोग (मैदानमें रहना) धारण करते है (बहुजनहितकरचर्यान्) जिनका चारित्र सदा अनेक जीवोंको हितकरनेवाला

२-दक्षिणेन-प्रशस्तेन, भावेन-परिणामेन, समग्रान्-परिपूर्णान् ।
३-पिनद्धा निराकृता कुगतिर्यैः तान् ।
४-पुण्यान्-प्रशस्तान्—पवित्रीभूतान् ।

होता है (अभयान्) जो सात प्रकारके भयसे सर्वथा रहित हैं (अनघान्) जो सब प्रकारके पापोंसे रहित हैं (महानुभावविधानान्) प्रबल पुण्यके उदय से जिनका प्रभाव सब जंगह पड़ता है—जो सदा धर्म-और शुक्लध्यानमें ही लीन रहते हैं—ऐसे आचार्योंको मै सदा नमस्कार करता हू ।

ईदृशगुणसंपन्नान्युष्मान्भक्त्या विशालया स्थिरयोगान् ।
विधिनानारतमग्र्यान्मुकुलीकृतहस्तकमलशोभितशिरसा ॥ १० ॥
अभिनौमि सकलकलुषप्रभवोदयजन्मजरामरणबंधनमुक्तान् ।
शिवमचलमनघमक्षयमव्याहतमुक्तिसौख्यमस्त्विति सततम् ॥ ११ ॥

अन्वयार्थः—— (ईदृशगुणसपन्नान्) जो आचार्य ऊपर कहे हुये समस्त गुणोंसे सुशोभित हैं (स्थिरयोगान्) जिनके मन वचन काय अनेक परीषहोंके आजाने पर भी सदा स्थिर रहते है (अनारत अग्र्यान्) समस्त गुणों को धारण करने से जो सदा मुख्य—प्रधान रहते हैं (सकलकलुषप्रभवोदयजन्म जरामरणबंधनमुक्तान्) अशुभकर्मोंके उदयसे प्राप्त होनेवाले जन्म, जरा—बुढ़ापा मरण आदि समस्त दोषोंके सम्बन्धसे-बंधनसे जो सर्वथा रहित होते हैं ऐसे (युष्मान्) आचार्योंको मैं (विशालया भक्त्या) बड़ी भारी भक्ति से (विधिना) विधिपूर्वक-आचार्य भक्ति करके (मुकुलीकृतहस्तकमलशोभितशिरसा) अपने दोनों हाथरूपी कमलोंको जोड़कर मस्तक पर रखकर (अभिनौमि) सदा नमस्कार करता हू तथा इस नमस्कार करनेका फल (शिव अचल अनघ अक्षय अव्याहतमुक्तिसौख्यं इति सतत अस्तु) अत्यत प्रशसनीय-कल्याणरूप-मंगलमय, हीनाधिकतासे रहित, निर्दोष-पाप रहित, अक्षय अविनश्वर और बाधा रहित मोक्षका अनत सुख मुझे प्राप्त हो—ऐसी कामना-इच्छा करता हू अर्थात ऐसे मोक्षसुखको प्राप्त करनेके लिये ही मे आचार्य परमेष्ठीको नमस्कार करता हू।

इसके आगे कायोत्सर्ग करना चाहिये ।

अथ आलोचना——

इच्छामि भंते ! आइरियभत्तिकाउस्सग्गो कओ तस्सालोचेउं । सम्मणाण सम्मदंसण सम्मचारित्तजुत्ताण पञ्चविहाचाराणं आयरियाणं आयारादिसुदणाणोवदेसयाणं उवज्झायाण तिरयणगुण पालणरयाणं सव्वसाहूण

सम्मचारित्तस्स सया अंचेमि, पूजेमि, वंदामि, णमंसामि, दुक्खक्खओ, कम्मक्खओ, वोहिलाहो, सुगइगमणं, समाहिमरणं, जिणगुणसंपत्ति होउ मज्झं।

अर्थ—हे भगवन्! मै आचार्य भक्ति कर कायोत्सर्ग करता हू। इसमें जो दोष हुये हों उनकी आलोचना करनेकी इच्छा करता हू। मै सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र सहित और पञ्चाचार पालनेवाले आचार्योंकी, आचाराग आदि श्रुतज्ञानका उपदेश देनेवाले उपाध्यायकी और रत्नत्रय गुणको पालन करनेवाले समस्त साधुओंकी सदा अर्चा करता हू, पूजा करता हूं, वदना करता हूं, नमस्कार करता हू, मेरे समस्त दु खोंका नाश हो, कर्मोंका नाश हो, मुझे रत्नत्रय प्राप्ति हो, शुभगतिकी प्राप्ति हो, समाधिमरणकी प्राप्ति हो और भगवान् जिनेन्द्रदेवके गुणोंकी प्राप्ति हो।

इति आचार्यभक्तिः।

अथ क्षेपक श्लोकानि।

श्रुतजलधिपारगेभ्यः स्वपरमतविभावनापटुमतिभ्यः। सुचरिततपोनिधिभ्यो नमो गुरुभ्यो गुणगुरुभ्यः॥ छत्तीसगुणसमग्गे पंचविहाचारकरणसंदरिसे। सिस्साणुग्गहकुसले धम्मायरिये सदा वंदे॥ गुरुभत्ति संजमेण य तरंति संसारसायरं घोरं। छिण्णंति अट्ठकम्मं जम्मणमरणं ण पावंति॥ ये नित्यं व्रतमंत्रहोमनिरता ध्यानाग्निहोत्राकुलाः। षट्कर्माभिरतास्तपोधनधनाः साधुक्रियाः साधवः॥ शीलप्रावरणा गुणप्रहरणाश्चन्द्रार्कतेजोऽधिकाः। मोक्षद्वारकवाटपाटनभटाः प्रीणंतु मां साधवः॥ गुरवः पान्तु वो नित्यं ज्ञानदर्शननायकाः। चारित्रार्णवगंभीरा मोक्षमार्गोपदेशकाः॥ प्राज्ञः प्राप्तसमस्तशास्त्रहृदयः प्रव्यक्तलोकस्थितिः। प्रास्ताशः प्रतिभापरः प्रशमवान्प्रागेव दृष्टोत्तरः॥ प्रायः प्रश्नसहः प्रभुः परमनोहारी परानिंदया। ब्रूयाद्धर्मकथां गणी गुणनिधिः प्रस्पष्टमिष्टाक्षरः॥ श्रुतमवि-

कलंशुद्धा धृत्तिः परप्रतिवोधने । परिणतिरुरूद्योगो मार्गप्रवर्तनसद्विधौ बुधनुतिरनुत्सेको लोकज्ञता मृदुताऽस्पृहा । यतिपतिगुणा यस्मिन्नन्ये च सोस्तु गुरुः सताम् ॥ विशुद्धवंशः परमाभिरूपो । जितेन्द्रियो धर्मकथा-प्रसक्तः । सुखर्द्धिलाभेष्वविसक्तचित्तो । बुधैः सदाचार्य इति प्रशस्तः ॥ विजितमदनकेतुं निर्मलं निर्विकारं । रहितसकलसंगं संयमासक्तचित्तं । सुनयनिपुणभावं ज्ञाततत्वप्रपञ्चम् । जननमरणभीतं सद्गुरु नौमि नित्यम् ॥ सम्यग्दर्शनमूल ज्ञानस्कंधं चरित्रशाखाढ्यम् । मुनिगणविहगाकीर्णमाचा-र्यमहाद्रुमं वदे ॥

अथ आचार्यभक्तिः [प्राकृत]

देसकुलजाइसुद्धा विसुद्धमणवयणकायसंजुत्ता ॥ तुह्मं पायपयोरुह-मिह मंगलमत्थु मे णिच्चं ॥ १ ॥ सगपरसमयविदण्हू आगमहेदूहिं चावि जाणित्ता । सुसमत्था जिणवयणे विणये सत्ताणुरूवेण ॥ २ ॥ बालगुरु-वुड्ढसेहे गिलाणथेरे य खवणसंजुत्ता । वट्टावयगा अण्णे दुस्सीले चावि जाणित्ता ॥ ३ ॥ वयसमिदिगुत्तिजुत्ता मुत्तिपहेट्ठावया पुणो अण्णे । अज्झावयगुणणिलये साहुगुणेणावि संजुत्ता ॥ उत्तमखमाए पुढवी पसण्ण-भावेण अच्छजलसरिसा कम्मिंधणदहणादो अगणी वाऊ असंगादो ॥५॥ गयणमिव णिरुवलेवा अक्खोहा सायरुव्व मुणिवसहा । एरिसगुणणिल-याणं पायं पणमामि सुद्धमणो ॥ ६ ॥ संसारकाणणे पुण बंभममाणेहि भव्वजीवेहिं । णिव्वाणस्स हु मग्गो लद्धो तुम्हं पसाएण ॥ ७ ॥ अविसु-द्धलेस्सरहिया विसुद्धलेस्साहि परिणदा सुद्धा । रुद्दट्टे पुण चत्ता धम्मे सुक्के य संजुत्ता ॥ ८ ॥ उग्गहईहावायाधारणगुणसंपदेहि संजुत्ता । सुत्त त्थभावणाए भावियमाणेहि वंदामि ॥ ९ ॥ तुम्हं गुणगणसंथुदि अजा-णमाणेण जो मया वुत्तो । देउ मम बोहिलाहं गुरुभत्तिजुदत्थओ णिच्चं ॥ १० ॥

पञ्चगुरुभक्तिः

श्रीमदमरेन्द्रमुकुटप्रघटितमणिकिरणवारिधाराभिः ।
प्रक्षालितपदयुगलान्प्रणमामि जिनेश्वरान्भक्त्या ॥ १ ॥

अन्वयार्थः—(श्रीमदमरेन्द्रमुकुटप्रघटितमणिकिरणवारिधाराभिः) जिनके चरणकमलविशेष लक्ष्मी से सुशोभित है ऐसे—इन्द्रोंके मुकुटोंमें लगे हुये मणियों की किरणरूपी जल धारासे (प्रक्षालितपदयुगलान्) प्रक्षालित किये गये हैं चरण युगल जिनके ऐसे (जिनेश्वरान्) श्री अरहतदेव जिनेन्द्र भगवान को (भक्त्या) बड़ी भक्तिसे (प्रणमामि) नमस्कार करता हू ।

अष्टगुणैः समुपेतान् प्रणष्टदुष्टाष्टकर्मरिपुसमितीन् ।
सिद्धान्सततमनन्तान्नमस्करोमीष्टतुष्टिसंसिद्ध्यै ॥ २ ॥

अन्वयार्थः—(अष्टगुणैः समुपेतान्) जो सम्यक्त्व आदि आठों गुणोंसे सुशोभित हैं (प्रणष्टदुष्टाष्टकर्मरिपुसमितीन्) जिन्होंने अत्यत दुष्ट दु ख देनेवाले ऐसे आठों कर्मरूपी शत्रुओंके समूहको नष्ट कर दिया है ऐसे (अनन्तान् सिद्धान्) अनन्त सिद्धोंको (सतत) सदा (इष्टतुष्टिससिद्ध्यै) इष्ट तथा तुष्टि की ससिद्धिके लिये—मोक्ष लक्ष्मीको प्राप्त करनेके लिये (नमस्करोमि) नमस्कार करता हू।

साचारश्रुतजलधीन्प्रतीर्य शुद्धोरुचरणनिरतानाम् ।
आचार्याणा पदयुगकमलानि दधे शिरसि मेऽहम् ॥ ३ ॥

अन्वयार्थः—(साचारश्रुतजलधीन् प्रतीर्य) जो पञ्चाचार सहित द्वादशाग श्रुतज्ञानरूपी समुद्रके पार हो गये हैं (शुद्धोरुचरणनिरतानाम्) जो निर्दोष तथा उग्र तपश्चरणके पालनमें सदा तत्पर रहते है ऐसे (आचार्याणा) आचार्योंके (पदयुगकमलानि) दोनों चरण कमलोंको (अहं) मै (मे शिरसि) अपने मस्तक पर (दधे) धारण करता हू ।

मिथ्यात्वादिमदोग्रध्वान्तप्रध्वंसिवचनसंदर्भान् ।
उपदेशकान् प्रपद्ये मम दुरितारिप्रणाशाय ॥ ४ ॥

अन्वयार्थः— (मिथ्यावादिमदोग्रध्वान्तप्रध्वंसिवचनसदर्भान्) जिनके वचनोंकी रचना मिथ्यावादियोंके अहकाररूपी अंधकारका नाश करनेवाली है ऐसे (उपदेशकान्) उपाध्यायोंकी मै (मम दुरितारिप्रणाशाय) अपने पापरूपी शत्रुओंको नाश करनेके लिये (प्रपद्ये) शरण लेता हू—मै उनकी शरण में जाता हू ।

सम्यग्दर्शनदीपप्रकाशका मेयबोधसंभूताः ।
भूरिचरित्रपताकास्ते साधुगणास्तु मा पान्तु ॥ ५ ॥

अन्वयार्थः— (सम्यग्दर्शनदीपप्रकाशका) जो सम्यग्दर्शनरूपी दीपक से भव्य जीवोंके मनके अधकारको दूर कर उनके मनको प्रकाशित करनेवाले हैं (मेयबोधसभूताः) जीवादिक समस्त पदार्थोंके ज्ञानसे सुशोभित हैं (भूरिचरित्रपताकाः) अतिशय चारित्रकी पताका-ध्वजा जिन्होंने फहरा रक्खी है (ते साधुगाः तु) वे साधुगण भी-(मा) मेरी (पान्तु) रक्षा करो ।

जिनसिद्धसूरिदेशकसाधुवरानमलगुणगणोपेतान् ।
पञ्चनमस्कारपदैस्त्रिसंध्यमभिनौमि मोक्षलाभाय ॥ ६ ॥

अन्वयार्थः—(अमलगुणगणोपेतान्) जो अनेक निर्मल गुणोंके समूह से सुशोभित हैं ऐसे (जिनसिद्धसूरिदेशकसाधुवरान्) अरहत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और उत्तम साधुओंको मै (मोक्षलभाय) मोक्षप्राप्त करनेके लिये (पचनमस्कारपदैः) पंच नमस्कार मत्र पढ़कर (त्रिमध्य) तीनोंकाल (अभिनौमि) नमस्कार करता हू ।

एष पञ्चनमस्कारः सर्वपापप्रणाशनः ।
मङ्गलानां च सर्वेषां प्रथम मंगलं भवेत् ॥ ७ ॥

अन्वयार्थः—(एषः पचनमस्कारः) यह पचनमस्कार मत्र (सर्वपापप्रणाशनः) समस्त पापोका नाश करनेवाला है (च सर्वेषा मगलानां) और समस्त मगलोंमें (प्रथम मगल) प्रथम-मुख्य मगल (भवेत) गिना जाता है ।

अर्हत्सिद्धाचार्योपाध्यायाः सर्वसाधवः ।
कुर्वन्तु मंगलाः सर्वे निर्वाणपरमश्रियम् ॥ ८ ॥

अन्वयार्थः— (अर्हत्सिद्धाचार्योपाध्यायाः सर्वसाधवः) अरहंत, सिद्ध,

आचार्य, उपाध्याय और सर्वसाधु (सर्वे) ये पाचों (मंगलाः) मगलरूप हैं-इसलिये वे सब मुझे (निर्वाणपरमश्रिय) मोक्षरूपी परम लक्ष्मीको (कुर्वन्तु) प्रदान करो।

सर्वान् जिनेन्द्रचन्द्रान्सिद्धानाचार्यपाठकान् साधून् ।
रत्नत्रय च वदे रत्नत्रयसिद्धये भक्त्या ॥ ९ ॥

अन्वयार्थ—(सर्वान्) समस्त (जिनेन्द्रचन्द्रान्) अरहंतोको (सिद्धान्) सिद्धोंको (आचार्यपाठकान्) आचार्योंको, उपाध्यायोंको (साधून्) साधुओं को (च) और (रत्नत्रय) रत्नत्रयको (रत्नत्रयसिद्धये) रत्नत्रयकी प्राप्तिके लिये (भक्त्या) भक्तिसे (वदे) नमस्कार करता हू ।

पान्तु श्रीपादपद्मानि पंचानां परमेष्ठिनाम् ।
लालितानि सुराधीशचूडामणिमरीचिभिः ॥ १० ॥

अन्वयार्थः—(सुराधीशचूडामणिमरीचिभिः) जो इन्द्रोंके मकुटोंमें लगे हुये चूडामणि रत्नकी किरणोसे (लालितानि) सुशोभित हैं ऐसे (पचाना परमेष्ठिना) पाचों परमेष्ठियोंके (श्रीपादपद्मानि) शोभनीक चरण कमल मेरी (पान्तु) रक्षा करो।

प्रातिहार्यैर्जिनान् सिद्धान् गुणैः सूरीन् स्वमातृभिः ।
पाठकान् विनयैः साधून् योगांगैरष्टभिः स्तुवे ॥ ११ ॥

अन्वयार्थः—(प्रातिहार्यैं जिनान्) जो भगवान् अरहतदेव आठ प्रातिहार्य और ३४ अतिशय से सुशोभित हैं (गुणै. सिद्धान्) जो सिद्ध सम्यक्त्व आदि आठ गुणोंसे सुशोभित हैं (स्वमातृभिः सूरीन्) जो आचार्य तीन गुप्ति और पाच समिति इन आठ प्रवचन मातृकाओं से सुशोभित हैं (विनयैः पाठकान्) जो उपाध्याय अनेक शिष्योंसे सुशोभित हैं (अष्टभिः योगागैः साधून्) और जो साधु प्राणायाम, ध्यान, धारणा, प्रत्यय, आहार, यम, नियम और आसन इन आठ योगसाधनके अगोंसे सुशोभित हैं (स्तुवे) उन सबकी-पाचों परमेष्ठियोंकी मै स्तुति करता हू ।

इसके आगे कायोत्सर्ग करना चाहिये।

आलोचना—

इच्छामि भंते! पंचमहागुरुभत्तिकाउस्सग्गोकओ तस्सालोचेउं । अट्ठ-

महापाडिहेरसंजुत्ताणं । अट्ठगुण संपण्णाणं उड्ढलोयमत्थयम्मि पइट्ठियाणं सिद्धाणं । अट्ठपवयणमउसंजुत्ताणं आयरियाणं । आयारादिसुदणाणोवदेसयाणं उवज्झायाणं । तिरयणगुणपालणरयाणं सव्वसाहूणं । णिच्चकालं अंचेमि, पूजेमि, वंदामि, णमंसामि, दुक्खक्खओ, कम्मक्खओ, बोहिलाहो, सुगइगमणं, समाहिमरणं, जिणगुणसंपत्ति होउ मज्झं ।

अर्थ—हे भगवन् ! मै पञ्चगुरुभक्ति कर कायोत्सर्ग करता हू । इसमें जो दोष लगे हों उनकी आलोचना करने की इच्छा करता हू । भगवान् अरहंतदेव आठ महाप्रातिहार्य गुणोंसे सुशोभित हैं, भगवान् सिद्ध परमेष्ठी सम्यक्त्वादि आठ गुणोंसे विभूषित हैं और ऊर्द्ध लोकके शिखरपर विराजमान है, भगवान आचार्य परमेष्ठी अष्टप्रवचन मातृकाओं से सुशोभित हैं, भगवान् उपाध्याय परमेष्ठी आचाराग आदि श्रुतज्ञानका उपदेश देते हैं और सर्वसाधु परमेष्ठी रत्नत्रय गुणोंका पालन करनेवाले हैं । इन पाचों परमेष्ठियों की मैं सदा अर्चा करता हू, पूजा करता हू, वदना करता हू और नमस्कार करता हू । मेरे दु खो का नाश हो, कर्मोंका नाश हो, मुझे रत्नत्रयकी प्राप्ति हो, शुभ गतिकी प्राप्ति हो, समाधिमरणकी प्राप्ति हो और भगवान् जिनेन्द्र-देवके गुणोंकी सपत्ति प्राप्त हो ।

इति पञ्चगुरुभक्तिः ।

अथ पञ्चगुरुभक्तिः [प्राकृत]

मणुयणाइंदसुरधरियछत्तत्तया पंचकल्लाणसोक्खावलीपत्तया ॥ दंसणं णाणज्झाणं अणंतं बल, ते जिणा दिंतु अह्मं वरं मंगलम् ॥ १ ॥ जेहिं ज्झाणग्गिबाणेहिं अइदड्ढयं, जम्मजरमरणणयरत्तय दड्ढयं ॥ जेहिं पत्तं सिवं सासयं ठाणयं, ते महं दिंतु सिद्धा वरं णाणयं ॥ २ ॥ पंचहाचारपंचग्गिसंसाहया, बारसंगाइसुअजलहिअवगाहया, मोक्खलच्छीमहंती महंते सया । सूरिणो दिंतु मोक्खं गयासंगया ॥ ३ ॥ घोरसंसारभीमाडवीकाणणे, तिक्खवियरालणहपावपंचाणणे । णट्ठमग्गाणजीवाण पहदेसया, वंदिमो ते

उवज्झाय अह्मे सया ॥ ४ ॥ उग्गतवचरणकरणेहि खीणंगया, धम्मवर-ज्झाण सुक्केक्कज्झाणंगया । णिब्भरं तवसिरियसमालिंगया, साहू वो ते महामोक्खपथमग्गया ॥ ५ ॥ एण थोत्तेण जो पञ्चगुरुवंदए, गुरुयसंसार-घणवल्लि सो छिंदये । लहइ सो सिद्धिसोक्खाइ वहुमाणणं, कुणइ कम्मिंघणं पुञ्जपञ्जालणं ॥ ६ ॥ अरुहा सिद्धायरिया उवझाया साहु पञ्चपरमेट्ठि । एदे पञ्च णमोयारा भवे भवे मम सुहं दिंतु ॥ ७ ॥ इच्छामि भंते पञ्च-महागुरुभत्तिकाउस्सग्गो कओ तस्सालोचेउं अट्ठमहापाडिहेरसंजुत्ताणं अर-हंताणं, अट्ठगुणसंपण्णाणं उड्ढलोयमत्थयम्मि पइट्ठियाणं सिद्धाणं, अट्ठपव-यणमउसंजुत्ताणं, आयरियाणं, आयारादिसुदणाणोवदेयाणं उवज्झायाणं, तिरयणगुणपालणरयाणं सव्वसाहूणं, णिच्चकालं अंचेमि, पूजेमि, वंदामि णमसामि, दुक्खक्खओ, कम्मक्खओ वोहिलाहो सुगइगमणं, समाहिमरणं, जिणगुणसंपत्ति होउ मज्झं ।

तीर्थङ्करभक्तिः

अथ देवसियपडिक्कमणाए सव्वाइच्चारविसोहिणिमित्तं । पुव्वाइ-रियकमेण चउवीसतित्थयरभत्तिकाउस्सग्गं करेमि ।

अर्थ—दैवसिक प्रतिक्रमणमें लगे हुये अतीचारोंको शुद्ध करनेके लिये पूर्वा-चार्योंकी परंपराके अनुसार मैं तीर्थंकरभक्ति और तत्सम्बन्धी कायोत्सर्ग करता हूं।

णमो अरहंताणं णमो सिद्धाणं णमोआइरियाणं ।
णमो उवज्झायाणं णमो लोए सव्वसाहूणं ॥

अर्थ—मै अरहतोंके लिये नमस्कार करता हूं, सिद्धोंके लिये नमस्कार करता हू, आचार्योंके लिये नमस्कार करता हू, उपाध्यायोंके लिये नमस्कार करता हू और लोकमें सर्व साधुओंके लिये नमस्कार करता हूं ।

चउवीसंतित्थयरे उसहाईवीरपच्छिमे वंदे ।
सव्वेसिं मुणिगणहरसिद्धे सिरसा णमंसामि ॥ १ ॥

अर्थ—मै श्री वृषभदेवसे लेकर श्री वर्धमान पर्यंत समस्त चौवीस तीर्थंकरों

को मस्तक झुकाकर नमस्कार करता हूं तथा मुनिगणधर और सिद्धोंको भी नमस्कार करता हू।

ये लोकेष्टमहस्रलक्षणधरा ज्ञेयार्णवान्तर्गता।
ये सम्यग्भवजालहेतुमथनाश्चंद्रार्कतजोधिकाः॥
ये साध्विन्द्रसुराप्सरोगणशतैर्गीतप्रणुत्यार्चिताः।
तान्देवान्वृषभादिवीरचरमान्भक्त्या नमस्याम्यहम्॥ २॥

अन्वयार्थः— (ये) जो (लोकेष्टसहस्रलक्षणधराः) तीर्थंकर परमदेव संसारमें लोकमें एक हजार आठ लक्षण धारण करते हैं, (ज्ञेयार्णवांतर्गता.) जो जीवादिक पदार्थरूपी महासागरके पारगत हैं अर्थात समस्त पदार्थोंको एक साथ जानते हैं (ये सम्यग्भवजालहेतुमथनाः) जो जन्म मरणरूप ससार को बढानेवाले मिथ्यात्व आदि कारण हैं उन्हे जिन्होंने सर्वथा नष्ट कर दिया है (चन्द्रार्कतेजोऽधिका.) जिनका प्रकाश सूर्य चन्द्रमासे भी अधिक है अर्थात् शरीरका प्रकाश करोड़ों सूर्यसे भी अधिक है और ज्ञानका प्रकाश लोक-अलोक से भी अधिक है (ये साध्विन्द्रसुराप्सरोगणशतैः गीतप्रणुत्यार्चिताः) जो सैकड़ों इन्द्र और असख्यात देव अप्सराओंके समूह जिनकी कीर्ति को गाकर और जिनके लिये नमस्कार कर जिनकी पूजा करते हैं ऐसे (तान् वृषभादिवीरचरमान् देवान्) उन श्री वृषभदेवसे लेकर अंतिम महावीर पर्यंत चौबीसों तीर्थंकर परमदेवोंको (अहं) मैं (भक्त्या) भक्तिसे (नमस्यामि) नमस्कार करता हू।

नाभेय देवपूज्यं जिनवरमजित सर्वलोकप्रदीपं।
सर्वज्ञ संभवाख्यं मुनिगणवृषभं नदन देवदेवम्॥
कर्मारिघ्नं सुबुद्धिं वरकमलनिभं पद्मपुष्पाभिगधम्।
क्षान्तं दान्तं सुपार्श्वं सकलशशिनिभं चन्द्रनामानमीडे॥३॥

अन्वयार्थः—(देवपूज्य नाभेय) देवोंके द्वारा पूज्य ऐसे श्री वृषभनाथकी (सर्वलोकप्रदीप जिनवर अजित) समस्त लोकको या लोकाकाशमें भरे हुये समस्त पदार्थोंको प्रकाशित करनेके लिये दीपकके समान भगवान अजितनाथ की (मुनिगणवृषभं सर्वज्ञ संभवाख्य) मुनिगणोंमें श्रेष्ठ, सर्वज्ञ ऐसे सभवनाथकी (देवदेव नदन) देवाधिदेव श्री अभिनदनदेवकी (कर्मारिघ्नं सुबुद्धिं) कर्मरूपी

शत्रुका नाश करनेवाले भगवान् सुमतिनाथकी (वरकमलनिभ पद्मपुष्पाभिगधं) श्रेष्ठ कमलके समान कातिको-धारण करनेवाले भगवान् पद्मप्रभकी (क्षान्त दान्त सुपार्श्वं) क्षमाको धारण करनेवाले और इन्द्रियों को सर्वथा वश करने वाले भगवान सुपार्श्वनाथकी (सकलशशिनिभ चन्द्रनामानं ईडे) तथा पूर्ण चन्द्रमाके समान-अत्यत सुशोभित भगवान चन्द्रप्रभकी मै स्तुति करता हू।

विख्यातं पुष्पदन्तं भवभयमथनं शीतलं लोकनाथं।
श्रेयासं शीलकोशं प्रवरनरगुरुं वासुपूज्यं सुपूज्यम् ॥
मुक्तं दान्तेन्द्रियाश्वं विमलमृषिपतिं सिंहसैन्यं मुनीन्द्रम्।
धर्मं सद्धर्मकेतुं शमदमनिलयं स्तौमि शान्तिं शरण्यम् ॥ ४ ॥

अन्वयार्थ—(भवभयमथन विख्यात पुष्पदन्त) संसारके भयको नाश करनेवाले और अत्यन्त प्रसिद्ध ऐसे भगवान पुष्पदन्त की (लोकनाथं शीतल) तीनों लोकोंके स्वामी भगवान शीतलनाथकी (शीलकोश श्रेयास) शीलव्रतके निधि भगवान श्रेयासनाथकी (प्रवरनरगुरु सुपूज्यं वासुपूज्य) गणधरादिक देवोंके गुरु और अत्यन्त पूज्य ऐसे श्री वासुपूज्यकी (मुक्त दान्तेन्द्रियाश्वं विमल) कर्मोंसे सर्वथा मुक्त होनेवाले और इन्द्रिय रूपी घोड़ेको सर्वथा वश करनेवाले भगवान विमलनाथकी (ऋषिपतिं मुनीन्द्रं सिंहसैन्यं) समस्त ऋषियोंके स्वामी मुनिराज श्री अनन्तनाथकी (सद्धर्मकेतु धर्म) सद्धर्मकी ध्वजा को धारण करने वाले भगवान धर्मनाथकी (शमदमनिलय शरण्य शान्ति स्तौमि) तथा अत्यत शातिको धारण करनेवाले, इन्द्रियोंको सर्वथा वश करनेवाले और समस्त जीवोंके शरणभूत ऐसे शातिनाथ भगवानकी मैं स्तुति करता हू।

कुंथुं सिद्धालयस्थं श्रमणपतिमरं त्यक्तभोगेषु चक्रम्।
मल्लिं विख्यातगोत्रं खचरगणनुतं सुव्रतं सौख्यराशिम् ॥
देवेन्द्रार्च्यं नमीशं हरिकुलतिलकं नेमिचंद्रं भवान्तम्।
पार्श्वं नागेन्द्रवंद्यं शरणमहमितो वर्द्धमानं च भक्त्या ॥ ५ ॥

अन्वयार्थः—(सिद्धालयस्थं श्रमणपतिं कुंथु) सिद्धालयमें जाकर विराजमान होनेवाले और समस्त मुनियोंके स्वामी ऐसे भगवान कुन्थुनाथकी (त्यक्त-भोगेषु चक्रअरं) भोगोपभोगके समस्त पदार्थोंका त्याग करनेवाले भगवान

अरनाथकी (विख्यातगोत्र मल्लि) प्रसिद्ध काश्यप नामके गोत्रमें उत्पन्न होने वाले भगवान मल्लिनाथकी (खचरगणानुत सौख्यराशिं सुव्रत) समस्त देव और विद्याधर जिनके लिये नमस्कार करते हैं और जो अनन्त सुखकी राशि हैं ऐसे भगवान मुनिसुव्रतनाथकी (देवेन्द्राच्य नमीशं) देवोंके समस्त इन्द्र जिनको नमस्कार करते हैं ऐसे भगवान नमिनाथकी (हरिकुलतिलकं भवान्त नेमिचन्द्र) जो हरिवंशके तिलक हैं और संसारको नाश करनेवाले हैं ऐसे भगवान नेमिनाथकी (नागेन्द्रवंद्य पार्श्वं) धरणेन्द्रदेवके द्वारा वंदनीय ऐसे भगवान पार्श्वनाथकी (च भक्त्या वर्धमानं अहं शरणं इत) और भक्तिपूर्वक भगवान वर्द्धमान स्वामीकी मै शरणको प्राप्त होता हूं ।

इसप्रकार मै चौवीसों तीर्थंकरोंकी स्तुति करता हूं और चौवीसों तीर्थंकरोंकी शरण जाता हूं ।

इसके बाद कायोत्सर्ग करना चाहिये ।

आलोचना————

इच्छामि भंते ! चउवीसतित्थयरभत्तिकाउस्सग्गो कओ तस्सालोचेउं । पचमहाकल्लाणसंपण्णाणं, अट्ठमहापाडिहेरसहियाणं, चउतीसअतिसयविसेससंजुत्ताणं, बत्तीसदेविंदमणिमउडमत्थयमहियाणं, बलदेववासुदेवचक्कहररिसिमुणिजइअणगारोवगूढाणं, थुइसयसहस्सणिलयाणं, उसहाइवीरपच्छिममङ्गलमहापुरिसाणं णिच्चकालं अंचेमि, पुज्जेमि, वंदामि, णमंसामि, दुक्खक्खओ, कम्मक्खओ, बोहिलाहो, सुगइगमणं, समाहिमरणं, जिण गुणसंपत्ति होउ मज्झं ।

अर्थ—हे भगवन् ! मै चौवीसों तीर्थंकरोंकी भक्ति कर कायोत्सर्ग करता हूं । इसमें जो दोष लगे हों उनकी आलोचना करनेकी इच्छा करता हूं ।

जो तीर्थंकर गर्भ, जन्म आदि पांचो महाकल्याणकोंसे सुशोभित हैं, जो आठ महाप्रातिहार्योंसहित विराजमान हैं, जो चोंतीस विशेष अतिशयोंसे सुशोभित हैं, जो देवोंके बत्तीस इन्द्रों के मणिमय मुकुट लगे हुये मस्तकोंसे पूज्य हैं, जिनको समस्त इन्द्र आकर नमस्कार करते हैं, बलदेव, वासुदेव, चक्रवर्ती, ऋषि, मुनि, यति, अनगार आदि सब जिनकी सभामें आकर धर्मोपदेश सुनते

है और जिनके लिये लाखों स्तुति की जाती हैं ऐसे श्री वृषभदेवसे लेकर श्री महावीर पर्यंत चौवीसों महापुरुष तीर्थंकर परमदेवकी मैं सदा अर्चा करता हूं, पूजा करता हूं, वदना करता हूं, और उनके लिये सदा नमस्कार करता हूं, । मेरे दुःखोंका नाश हो, कर्मोंका नाश हो, मुझे रत्नत्रयकी प्राप्ति हो, शुभगतिकी प्राप्ति हो, समाधिमरणकी प्राप्ति हो, जिनेन्द्र भगवानके समस्त गुणोंकी प्राप्ति हो ।

इति तीर्थङ्करभक्तिः ।

शान्तिभक्तिः

न स्नेहाच्छरणं प्रयान्तिभगवन्पादद्वयं ते प्रजाः ।
हेतुस्तत्र विचित्रदुःखनिचयः संसारघोरार्णवः ॥
अत्यन्तस्फुरदुग्ररश्मिनिकरव्याकीर्णभूमंडलो ।
ग्रैष्मः कारयतीन्दुपादसलिलच्छायानुराग रविः ॥ १ ॥

अन्वयार्थ——(भगवन्) हे भगवन्! (प्रजाः) ससारी जीव (ते पादद्वयं) आपके दोनों चरणकमलों की (स्नेहात) स्नेहसे (शरण) शरण (न प्रयांति) नहीं आये हैं किन्तु (तत्रहेतुः) आपके चरणकमलोंकी शरणमें आने का कारण (विचित्रदुःखनिचयः) अनेक प्रकारके दुःखोंसे भरा हुआ (ससारघोरार्णवः 'अस्ति') संसाररूपी घोर—भयानक महासमुद्र ही है (अत्यन्तस्फुरदुग्ररश्मिनिकरव्याकीर्णभूमंडलः) अत्यन्त देदीप्यमान तेज किरणो का समूह समस्त भूमडल में व्याप्त हो रहा है ऐसा (ग्रैष्मः) ग्रीष्मऋतुका (रविः) सूर्य (इन्दुपादसलिलच्छायानुराग कारयति) चन्द्रमाकी किरणों, जल और छायाके अनुरागको कराता है ।

भावार्थ——जिसप्रकार गर्मीके दिनोंमें सूर्यसे संतप्त होकर यह जीव छाया और जलसे अनुराग करता है, क्योंकि छाया और जल इस संतापको दूर करने वाले है । इसीप्रकार आपके चरण कमल भी संसारके दुःखोंको दूर करनेवाले हैं, इसीलिये ससारके दुःखोंसे अत्यन्त दुःखी हुये प्राणी उन दुःखोंको दूर करनेके लिये आपके चरण कमलोंकी शरण लेते हैं ।

नमस्कार करनेसे इसलोक सम्बन्धी फल—

क्रुद्धाशीविपदष्टदुर्जयविपज्वालावलीविक्रमो[1] ।
विद्याभेषजमंत्रतोयहवनैर्याति प्रशान्तिं यथा ॥
तद्वत्ते चरणारुणांबुजयुगस्तोत्रोन्मुखानां नृणाम् ।
विघ्नाः कायविनायकाश्च[2] सहसा शाम्यन्त्यहो विस्मयः ॥२॥

अन्वयार्थः— (क्रुद्धाशीविपदष्टदुर्जयविपज्वालावलीविक्रमः) क्रोधित हुये सर्पके काट लेनेसे जो असह्यविष समस्त शरीरमें फैल जाता है वह (यथा) जैसे (विद्याभेषजमंत्रतोयहवनैः) गारुडी मुद्रामें दिखाने या उसके पाठ करने रूप विद्यासे, विषको नाश करनेवाली औषधियोंको देनेसे, मन्त्रसे, जलसे और होम करने आदिसे (प्रशांतिं याति) शांतिको प्राप्त हो जाता है (तद्वत्) उसी प्रकार 'हे भगवन्' (ते चरणाम्बुजयुगस्तोत्रोन्मुखानां नृणां) आपके दोनों चरण-रूपी अरुणलाल कमलोंका स्तोत्र करनेवाले मनुष्योंके (विघ्नाः) समस्त विघ्न (च) और (कायविनायकाः) शरीर सम्बन्धी समस्त रोग (सहसा) शीघ्र ही (शाम्यन्ति) शांतिको प्राप्त हो जाते हैं–नष्ट हो जाते हैं (अहो विस्मयः) यह एक महा आश्चर्यकी बात है ।

भावार्थ—विघ्नको दूर करनेके लिये बहुतसा परिश्रम करना पड़ता है परंतु रोग और विघ्न आदि केवल आपकी स्तुति करने मात्रसे दूर हो जाते हैं। यही सबसे अधिक आश्चर्यकी बात है ।

प्रणाम करनेका फल—

संतप्तोत्तमकांचनक्षितिधरश्रीस्पर्द्धिगौरद्युते ।
पुंसां त्वच्चरणप्रणामकरणात्पीडाः प्रयान्ति क्षयं ॥
उद्यद्भास्करविस्फुरत्करशतव्याघातनिष्कासिता ।
नानादेहिविलोचनद्युतिहरा शीघ्रं यथा शर्वरी ॥ ३ ॥

अन्वयार्थः— (यथा) जिसप्रकार (नानादेहिविलोचनद्युतिहरा शर्वरी)

१-आशीः सर्पदंष्ट्रा आश्या विषं यस्य असौ आशीविषयः, क्रुधश्चासौ आशीविषश्च तेन दष्टे भक्षिते दुर्जयश्चासौ विषज्वालावलीविक्रमश्च । विक्रमः प्रसरः, सामर्थ्यं वा ।
२-कायविनायकाश्च–कायं विशेषेण नयति अपनयंतीति कायविनायकाः रोगाः ।

अनेक प्रकारके प्राणियोंके नेत्रोंके प्रकाशको रोकनेवाली रात्रि–अधकारमय रात्रि (उद्यद्भास्करविस्फुरत्करशतव्याघातनिष्कासिता) उदय होते हुये सूर्यकी दैदीप्यमान सैंकड़ों किरणोंके आघातसे मानों निकाल दी गई है इसप्रकार (शीघ्र) शीघ्र (क्षयं 'प्रयाति') नष्ट हो जाती है ('तथा') उसीप्रकार (संतप्तोत्तमकांचनक्षितिधरश्रीस्पर्द्धिगौरद्युते 'भगवन्') आपके शरीरकी काति तपाये हुये उत्तम सोनेके समान मेरु पर्वतकी शोभाकी स्पर्द्धा करनेवाली है या तपाये हुये उत्तम सोनेके समान और मेरु पर्वतके समान आपके शरीरकी काति अत्यन्त दैदीप्यमान है ऐसी अनुपम शोभाको धारण करनेवाले हे भगवन् (त्वच्चरणप्रणामकरणात्) आपके चरण कमलों को नमस्कार करनेसे (पुसा) मनु यो की (पीडाः) पीड़ाएं-दुःख 'क्षणात्' क्षणभरमें (क्षय प्रयान्ति) नाशको प्राप्त हो जाती हैं।

स्तुति ही मोक्षपदकी कारण है—

त्रैलोक्येश्वरभंगलब्धविजयादत्यन्तरौद्रात्मकात् ।
नानाजन्मशतान्तरेषु पुरतो जीवस्य संसारिणः ॥
को वा प्रस्खलतीह केन विधिना कालोग्रदावानला–
न्न स्याच्चेत्तव पादपद्मयुगलस्तुत्यापगावारणम् ॥ ४ ॥

अन्वयार्थः—(पुरतः नानाजन्मशतान्तरेषु) पहले अनेकप्रकारके सैंकड़ों जन्मोंमें (त्रैलोक्येश्वरभगलब्धविजयात्) तीन लोकके ईश्वर धरणेन्द्र, चक्रवर्ती आदिके विनाश से प्राप्त हुये विजयके कारण (अत्यन्तरौद्रात्मकात्) अत्यन्त रौद्र-क्रूर अवस्थाको प्राप्त हुये (कालोग्रदावानलात्) इस कालरूपी उग्रदावानलके पाससे (संसारिणः जीवस्य) इस ससारी जीवका (चेत् तव पादपद्मयुगलस्तुत्यापगावारणं न स्यात्) जो आपके चरणकमलयुगलकी स्तुति रूपी नदी निवारण करनेवाली नहीं होती तो (इह) इस संसार से (को वा केनविधिना प्रस्खलति) कौन किस प्रकारसे उद्धार करता ?

भावार्थ— इस ससारमें जीवोंको जन्म मरण करना ही पड़ता है। एक आपके चरणकमलोंकी स्तुति ही ऐसी है जो इन जीवोंको जन्म मरण से बचा सकती है और अजर अमर पद अर्थात् मोक्षपद दे सकती है।

स्तुति करनेसे असाध्यरोगोंका भी नाश——

लोकालोकनिरंतरप्रविततज्ञानैकमूर्ते विभो !
नानारत्नपिनद्धदंडरुचिरश्वेतातपत्रत्रय ॥
त्वत्पादद्वयपूतगीतरवतः शीघ्रं द्रवन्त्यामया ।
दर्पाध्मातमृगेन्द्रभीमनिनदाद्वन्या यथा कुंजराः ॥ ५ ॥

अन्वयार्थः—— (विभो) हे प्रभो ! (लोकालोकनिरंतरप्रविततज्ञानैकमूर्ते) लोक-अलोकमें सर्वत्र फैले हुये ज्ञान रूपी अद्वितीय मूर्तिको धारण करनेवाले तथा (नानारत्नपिनद्धदडरुचिरश्वेतातपत्रत्रय) नानाप्रकारके वेष्टित-जड़े हुये मनोहर दडसे युक्त सफेद तीन छत्रको सिरपर धारण करनेवाले हे भगवन् ! (त्वत्पादद्वयपूतगीतरवतः) आपके दोनों चरण कमलोंकी स्तुतिमें गाये हुये पवित्र गीतोंके शब्दोंसे—आपके चरण कमलोंकी स्तुति करने से (आमयाः) समस्त रोग (शीघ्र) शीघ्र (द्रवन्ति) नष्ट हो जाते हैं (यथा) जैसे (दर्पाध्मातमृगेन्द्रभीमनिनदात्) गर्वसे उद्धत हुये सिंहकी गर्जनाके भयकर शब्दों को सुनकर (वन्याः) जगलके (कुञ्जराः) बड़े बड़े हाथी भाग जाते हैं।

भावार्थ—— जिसप्रकार सिंहकी गर्जनाको सुनते ही हाथी भाग जाते है उसीप्रकार भगवान शांतिनाथकी स्तुति करने मात्रसे समस्त रोग नष्ट हो जाते हैं।

स्तुतिसे मोक्षके अनत सुखकी प्राप्ति——

दिव्यस्त्रीनयनाभिरामविपुलश्रीमेरुचूडामणे ।
भास्वद्बालदिवाकरद्युतिहर प्राणीष्टभामंडल ॥
अव्याबाधमचिन्त्यसारमतुलं[1] त्यक्तोपमं[2] शाश्वतं[3] ।
सौख्यं त्वच्चरणारविंदयुगलस्तुत्यैव संप्राप्यते ॥ ६ ॥

अन्वयार्थ——(दिव्यस्त्रीनयनाभिरामविपुलश्रीमेरुचूडामणे) हे देवागनाओं के नेत्रोंके लिये भी अत्यन्त सुन्दर ! महाविभूतिको धारण करनेवाले मेरु पर्वत की चूडामणिके समान ! (भास्वद्बालदिवाकरद्युतिहर) देदीप्यमान उदय होते हुये सूर्यकी कांतिका भी हरण करनेवाले ! (प्राणीष्टभामडल) हे प्राणियों के

१-अतुल न विद्यते तुला इयत्तावधारण यस्य
२-त्यक्तोपमं अनुपम ३-शाश्वतं नित्य

लिये इष्ट भामण्डलसे शोभायमान ! (त्वच्चरणारविंदयुगलस्तुत्या एव) आपके दोनों चरणकमलोंकी स्तुति करनेसे ही-इस जीवको-(अव्याबाधं) बाधा रहित (अचिन्त्यसारं) अचिन्त्य माहात्म्य सहित (अतुलं) उपमा रहित (त्यक्तोपमं) समानता रहित (शाश्वत) नित्य (सौख्य) सुख (सम्प्राप्यते) प्राप्त होता है।

पापोंका नाश भगवानके चरणकमलके प्रसादसे—

यावन्नोदयते प्रभापरिकरः श्रीभास्करो भासयं-
स्तावद्धारयतीह पङ्कजवनं निद्रातिभारश्रमम् ॥
यावत्त्वच्चरणद्वयस्य भगवन्न स्यात्प्रसादोदय-
स्तावज्जीवनिकाय एष वहति प्रायेण पापं महत् ॥ ७ ॥

अन्वयार्थः—(यावत्) जबतक (प्रभापरिकरः[1]) अपनी किरणों के समूहसे परिपूर्ण (भासयन्[2]) देदीप्यमान होता हुआ-स्व-पर पदार्थोंके स्वरूप को प्रकाशित करता हुआ (श्रीभास्कर.) सूर्य (न उदयते) उदय नहीं होता है (तावत्) तबतक ही (पंकजवन[3]) कमलोंका वन (इह[4]) जगत में (निद्रातिभारश्रम) नींदके बोझसे परिश्रमको धारण करता है-मुद्रित रहता है-सूर्यके उदय होते ही वह प्रफुल्लित हो जाता है उसीप्रकार (यावत्) जबतक (भगवन्) हे भगवन् ! (त्वच्चरणद्वयस्य) आपके दोनों चरण कमलों की (प्रसादोदयः) प्रसन्नता-कृपाका उदय (न स्यात्) नहीं होता है (तावत्) तभीतक (एषः) यह (जीवनिकायः[5]) जीवोंका समूह (प्रायेण[6]) प्रायः—अधिकतर (महत् पापं) महापापको (वहति) धारण करता है।

भावार्थ—आपके चरणकमलों की प्रसन्नता होते ही वे समस्त पाप स्वयं नष्ट हो जाते हैं।

१-प्रभापरिकरः किरणनिकरपरिकरितः।
२-भासयन् स्वपरस्वरूपमुद्योतयन्।
३-पंकजवनं-पद्मसंघातः।
४-इह—जगति।
५-जीवनिकायः-संसारिजीवसंघातः।
६-प्रायेण—अतिशयेन.

शान्तिं शान्तिजिनेन्द्र शान्तमनसस्त्वत्पादपद्माश्रयात् ।
संप्राप्ताः पृथिवीतलेषु बहवः शान्त्यर्थिनः प्राणिनः ॥
कारुण्यान्मम भाक्तिकस्य च विभो दृष्टिं प्रसन्नां कुरु ।
त्वत्पादद्वयदैवतस्य गदतः शान्त्यष्टकं भक्तितः ॥ ८ ॥

अन्वयार्थः—(शातिजिनेन्द्र) हे शातिजिनेन्द्र! (पृथिवीतलेषु) इस समस्त पृथिवी मडलपर (बहवः) अनेक (शान्त्यर्थिनः प्राणिनः) शातिकी इच्छा करनेवाले—परम कल्याण रूप शाति चाहनेवाले—ससारको नाश करने रूप शाति चाहनेवाले प्राणी (शान्तमनसः) शात मनसे (त्वत्पादपद्माश्रयात्) मात्र आपके चरण कमलोंका आश्रय लेनेसे ही (शातिंप्राप्ताः) मोक्षरूप परम शातिको प्राप्त कर चुके (विभो) हे प्रभो! (त्वत्पादद्वयदैवतस्य) आपके दोनों चरणकमलोंको ही परमदेव मानने वाले (भक्तितः) बड़ी भक्तिसे (शान्त्यष्टक) शान्त्यष्टकका (गदतः) पाठ करनेवाले (मम भाक्तिकस्य च) मुझ भक्तपर भी (कारुण्यात्) दया करके (प्रसन्ना दृष्टिं) प्रसन्न दृष्टि कुरु।

भावार्थ—मुझे भी मोक्षरूप परमशाति दीजिये, हे प्रभो! मेरी दृष्टिको सम्यग्दर्शनको अत्यन्त निर्मल बना दीजिये जिससे मुझे वह परम शाति स्वयं प्राप्त हो जाय।

शांतिजिनं शशिनिर्मलवक्त्रं, शीलगुणव्रतसंयमपात्रम्।
अष्टशतार्चितलक्षणगात्रं, नौमि जिनोत्तममंबुजनेत्रम् ॥ ९ ॥

अन्वयार्थः—(शशिनिर्मलवक्त्र) जिनका मुख पूर्णचन्द्रमाके समान अत्यन्त निर्मल है (शीलगुणव्रतसयमपात्र) जो शील, गुण, व्रत और सयमके अद्वितीय पात्र हैं (अष्टशतार्चितलक्षणगात्र) जिनका शरीर एक सौ आठ शुभ लक्षणोंसे सुशोभित है (अम्बुजनेत्र) जिनके नेत्र कमलके समान सुशोभित हैं (जिनोत्तम) जो गणधरादिक देवोंसे भी उत्तम हैं—परमोत्कृष्ट हैं ऐसे (शातिजिनं) भगवान शातिनाथको (नौमि) मै नमस्कार करता हूं।

पञ्चममीप्सितचक्रधराणां, पूजितमिन्द्रनरेन्द्रगणैश्च ।
शांतिकरं गणशांतिमभीप्सुः षोडशतीर्थकरं प्रणमामि ॥ १० ॥

अन्वयार्थः—(ईप्सितचक्रधराणा) जो शातिनाथ भगवान् गृहस्थावस्था में बारह चक्रवर्तिओंमें (पचम) पाचवे चक्रवर्ती थे (इन्द्रनरेन्द्रगणैः च पूजित) इन्द्र और नरेन्द्र चक्रवर्तियोंके समूहसे पूजनीय (शांतिकर) शातिकरने वाले (षोडशतीर्थंकर) सोलहवे तीर्थंकरको (गणशांतिं अभीप्सुः) समस्त सघके लिये शातिकी इच्छा करनेवाला मै (प्रणमामि) नमस्कार करता हू।

आठ प्रातिहार्योंकी शोभा—

दिव्यतरुः सुरपुष्पसुवृष्टिर्दुन्दुभिरासनयोजनघोषौ ।
आतपवारणचामरयुग्मे यस्य विभाति च मंडलतेजः ॥

अन्वयार्थ—(दिव्यतरुः) दिव्य अशोकवृक्ष, (सुरपुष्पसुवृष्टिः) देवों के द्वारा की गई पुष्पवृष्टि–पुष्पोंकी वर्षा (दुदुभिः) दुदुभि बाजे (आसन-योजनघोषौ) सिंहासन, एक योजन पर्यंत दिव्यध्वनि (आतपवारण[1] चामर-युग्मे[2]) तीनछत्र, चौसठ चमर (च मडलतेजः[3]) भामडल (यस्य) जिन शातिनाथ भगवानके समीप (विभाति) शोभायमान हैं।

तं जगदर्चितशांतिजिनेन्द्रं शांतिकरं शिरसा प्रणमामि ।
सर्वगणाय तु यच्छतु शांतिं मह्यमरं पठते परमां च ॥ १२ ॥

अन्वयार्थः—(शातिकर) मोक्षरूप परम शातिको देनेवाले (त जगदर्चि-तशातिजिनेन्द्रं) उन तीनों लोकों द्वारा पूज्य शातिनाथ भगवानको मैं (शिरसा) मस्तक झुकाकर (प्रणमामि) नमस्कार करता हू (सर्वगणाय तु) वे शाति-नाथ भगवान् समस्त सघके लिये (परमा शांतिं) परम शाति (यच्छतु) प्रदान करें (च पठते मह्य अरं) और उस शातिनाथ की स्तुति पढनेवाले मुझको भी शीघ्र परमशाति प्रदान करें।

२४ तीर्थंकरोंसे शातिकी प्रार्थना—

येऽभ्यर्चिता मुकुटकुंडलहाररत्नैः ।
शक्रादिभिः सुरगणैः स्तुतपादपद्माः ॥

१-आतपवारणं-छत्रत्रय ।
२-चामरयुग्मं-चतुःषष्टिचामरसंभवेऽप्युभयपार्श्ववर्तिचामरेन्द्रद्वयबाल्यपेक्षया चामरयुग्माभिधानं
३-मडलतेजः-भामंडलप्रकाशः ।

ते मे जिनाः प्रवरवंशजगत्प्रदीपाः ।
तीर्थंकराः[4] सततशांतिकरा भवन्तु ॥ १३ ॥

अन्वयार्थः—(मुकुटकुण्डलहाररत्नैः) मुकुट, कुण्डल हार और रत्नोंसे युक्त (सुरगणैः) देवोंके समूहमे (शक्रादिभिः) व इन्द्रोंसे (स्तुतपादपद्माः) स्तुति किये गये हैं चरण कमल जिनके तथा (ये अभ्यर्चिताः) जो उन देव-इन्द्रादिकोंसे पूजित हैं (प्रवरवंशजगत्प्रदीपाः) जो उत्तम[5] वशमें उत्पन्न होकर ससारमें सब पदार्थोंको प्रकाशित करनेवाले दीपकके समान हैं (तीर्थंकराः) जो तीर्थंकर—आगमके स्वामी—आगम प्रवर्तक हैं (सततशातिकराः) जो सदा शाति के करनेवाले हैं ऐसे (ते जिनाः) वे २४ तीर्थंकर (मे) मुझे शाति के देनेवाले (भवन्तु) हों ।

संपूजकानां प्रतिपालकानां यतीन्द्रसामान्यतपोधनानाम् ।
देशस्य राष्ट्रस्य पुरस्य राज्ञः करोतु शांतिं भगवान्जिनेन्द्रः ॥१४॥

अन्वयार्थः — (भगवान् जिनेन्द्रः) केवलज्ञानी, पूज्य भगवान् जिनेन्द्र-देव (सपूजकाना) पूजा करनेवालोंके लिये,(प्रतिपालकाना) चैत्य-चैत्यालय और धर्मकी रक्षा करनेवालों के लिये, (यतीन्द्रसामान्यतपोधनाना) आचार्य, उपाध्याय साधुवोंके लिये, शैक्ष्यादि सामान्य तपस्वियोंके लिये (देशस्य) देशके लिये (राष्ट्रस्य) राष्ट्र के लिये (पुरस्य) नगरके लिये (राज्ञः) राजाके लिये (शातिं) शाति (करोतु) प्रदान करें ।

—स्रग्धरा छंद—

क्षेमं सर्वप्रजानां प्रभवतु बलवान्धार्मिको भूमिपालः ।
काले काले च सम्यग्वर्षतु मघवा व्याधयो यान्तु नाशम् ॥
दुर्भिक्षं चौरमारिः क्षणमपि जगतां मास्मभूज्जीवलोके ।
जैनेद्रं धर्मचक्रं प्रभवतु सततं सर्वसौख्यप्रदायि ॥ १५ ॥

अन्वयार्थः— (सर्वप्रजाना क्षेमप्रभवतु) इस ससार में समस्त प्रजाका कल्याण हो (भूमिपालः बलवान् धार्मिकः प्रभवतु) राजा बलवान् और धार्मिक हो (च काले काले मघवा सम्यग्वर्षतु) समय समय पर इन्द्र [बरसनेवाले बादल]

४-तीर्थाधिप ः इत्यपि पाठः
५-उग्रवंश, नाथवश, इक्ष्वाकुवंश आदि

अच्छी [जितनी जरूरत हो उतनी] वर्षा करे (व्याधयः नाश यान्तु) रोग सब नष्ट हो जाय (जीवलोके) संसारमें (जगता) ससारी जीवोंको (क्षण अपि) क्षणभर के लिये भी (दुर्भिक्षं चौरमारिः मास्मभूत) दुष्काल, चौर और मारी अर्थात् प्लेग आदि मारक रोग या शस्त्रादिक से होनेवाला अपघात कभी न हो तथा (सर्वसौख्यप्रदायि) जो सब जीवोको सुख देनेवाला है ऐसा (जैनेंद्र धर्मचक्र) जिनेन्द्रदेवका कहा हुआ उत्तम क्षमादि धर्मोका समूह (सतत) विना किसी रुकावटके-सदा (प्रभवतु) प्रवृत्त होता रहे।

इसके बाद कायोत्सर्ग करना चाहिये।

आलोचना—इच्छामि भंते शांतिभत्तिकाउस्सग्गो कओ तस्सालोचेउं। पञ्चमहाकल्लाणसंपण्णाणं, अट्ठमहापाडिहेरसहियाणं, चउतीसातिसयविसेससंजुत्ताणं, बत्तीसदेवेंदमणिमयमउडमत्थयमहियाणं, बलदेववासुदेवचक्कहररिसिमुणिजदिअणगारोवगूढाणं, थुइसयसहस्सणिलयाण, उसहाइवीरपच्छिममंगलमहापुरिसाणं णिच्चकालं अंचेमि, पूजेमि, वंदामि, णमंसामि, दुक्खक्खओ, कम्मक्खओ, बोहिलाहो, सुगइगमण, समाहिमरणं जिणगुणसंपत्ति होउ मज्झं ॥

अर्थ—हे भगवन्! मै शांतिभक्ति कर कायोत्सर्ग करता हू। इसमें जो दोष लगे हों उनकी आलोचना करनेकी इच्छा करता हू। जो गर्भ, जन्म आदि पाचों कल्याणोंसे सुशोभित हैं, जो आठ महा प्रातिहार्यों सहित विराजमान हैं, जो ३४ विशेष अतिशय से सुशोभित हैं, जो बत्तीस देवेन्द्रोंके रत्नमय मुकुटोंसे सुशोभित मस्तकोंसे नमस्कार किये जाते हैं—पूजे जाते हैं, बलदेव, वासुदेव, चक्रवर्ती, ऋषि, मुनि, यति, अनगार जिनकी सदा सेवा करते रहते हैं और जो लाखों स्तुतियोंके पात्र हैं ऐसे श्री वृषभदेवसे लेकर महावीर पर्यंत चौवीस महापुरुषोंकी—तीर्थंकर परमदेवोंकी मै सदा अर्चा करता हू, वदना करता हू, और नमस्कार करता हू। मेरे दुःखोंका क्षय हो और कर्मोका क्षय हो। मुझे रत्नत्रय की प्राप्ति हो, शुभ गतिकी प्राप्ति हो, समाधिमरणकी प्राप्ति हो और भगवान् जिनेन्द्रदेवके समस्त गुणों की प्राप्ति हो।

इति शांतिभक्तिः।

अथ क्षेपकश्लोकानि ।

शांतिः शिरोधृतजिनेश्वरशासनानां । शांतिर्निरन्तरतपोऽभवभाविताताम् ।। शांतिः कषायजयजृंभितवैभवानां, शांतिः स्वभावमहिमानमुपागतानाम् ।। १ ।। जीवंतु संयमसुधारसपानतृप्ताः, नंदंतु शुद्धसहसोदयसुप्रन्नाः सिद्धयंतु सिद्धिसुखसंगकृताभियोगाः, तीव्रंतपंतु जगतां त्रितयेऽर्हदाज्ञाः ।। २ ।। शांतिःशं तनुतां समस्तजगतः संगच्छतां धार्मिकैः, श्रेयः श्रीः परिवर्धतां नयधराधुर्यो धरित्रीपतिः ।। सद्विद्यारसमुग्दिरंतु कवयो नामाप्यघस्यास्तु मा ।प्राथ्यं वा कियदेक एव शिवकृद्धर्मो जयत्वर्हताम् ।।३।।

समाधिभक्तिः

स्वात्माभिमुखसंविचि लक्षणं श्रुतचक्षुषा
पश्यन्पश्यामि देव त्वां केवलज्ञानचक्षुषा ।। १ ।।

अन्वयार्थः—(देव) हे भगवन् ! (स्वात्माभिमुखसंवित्तिलक्षणं) अपने आत्माके स्वरूपमें तल्लीन होनेवाला ज्ञान ही आपका लक्षण है अर्थात् आपका स्वरूप केवलज्ञानमय है ऐसे (त्वा) आपको (श्रुतचक्षुषा पश्यन्) श्रुतज्ञानरूपी नेत्रसे देखता हुआ मैं (केवलज्ञानचक्षुषा पश्यामि) केवलज्ञानरूपी नेत्र से देख रहा हूं ।

भावार्थ --जो भव्य जीव श्रुतज्ञानसे आगमके अनुसार आपकी आराधना करता है उसको केवलज्ञानकी प्राप्ति अवश्य होती है । जो श्रुतज्ञानसे आपको देखता है वह केवलज्ञानसे भी अवश्य देखता है ।

शास्त्राभ्यासो जिनपतिनुतिः संगतिः सर्वदार्यैः ।
सद्वृत्तानां गुणगणकथा दोषवादे च मौनम् ।।
सर्वस्यापि प्रियहितवचो भावना चात्मतत्त्वे ।
संपद्यतां मम भवभवे यावदेतेऽपवर्गः ।। २ ।।

अन्वयार्थः—(यावदेतेऽपवर्गः) जबतक मुझे मोक्षकी प्राप्ति हो तबतक (शात्राभ्यासः) भगवान् जिनेन्द्रदेवके कहे हुए शास्त्रोंका अभ्यास सदा बना

रहे (जिनपनिुतिः) तबतक मैं भगवान् जिनेन्द्रदेवके चरणोंमें नुति-नमस्कार करता हूं (सर्वदा आर्यैः संगतिः) निरन्तर सज्जनपुरुषोंकी संगति रहो,—व्रती पुरुषोंका समागम होओ (सद्वृत्ताना गुणगणकथा) सम्यक्चारित्रको पालन करनेवालों के गुणका निरतर कथन करता रहूं या श्रेष्ठ व्रतोंके गुणोंकी कथा में ही सदा लीन रहूं (दोषवादे च मौनं) दोषोंके कथन करनेमें मौनको धारण करू (सर्वस्य अपि प्रियहितवचः) सर्वके साथ बोलते हुये मेरे मुखसे प्रिय और हित करनेवाले वचन निकलें (च आत्मतत्त्वे भावना) मेरी भावना सदा आत्म तत्त्वके चिंतवन करनेमें रहे, हे भगवन्! इन सब गुणोंकी (मम) मुझे (भव-भवे) भव भवमें (सपद्यता) प्राप्ति हो।

जैनमार्गरुचिरन्यमार्गनिर्वेगता जिनगुणस्तुतौ मतिः।
निष्कलंकविमलोक्तिभावनाः संभवन्तु मम जन्मजन्मनि ॥ ३ ॥

अन्वयार्थः— (मम जन्मजन्मनि) मुझे जन्म जन्ममें—प्रत्येक पर्याय में (जैनमार्गरुचिः) जैनधर्ममें रुचि-श्रद्धान होओ (अन्यमार्गनिर्वेगता) मिथ्या-मार्गसे उदासीनता होओ (जिनगुणस्तुतौ मतिः) जिनेन्द्रभगवानके गुणों की स्तुति करनेमें बुद्धि होओ (निष्कलकविमलोक्तिभावनाः) निर्दोष तथा निर्मल तत्त्वोंके कथन करनेमें भावना (संभवन्तु) होओ।

गुरुमूले यतिनिचिते चैत्यसिद्धान्तवार्धिसद्घोषे।
मम भवतु जन्मजन्मनि सन्यसनसमन्वितं मरणम् ॥ ४ ॥

अन्वयार्थ—हे देव! (यतिनिचिते गुरुमूले) मुनि समुदायसे वेष्टित गुरु के पादमूलमें (चैत्यसिद्धान्तवार्धिसद्घोषे) जिनप्रतिमाके समीप, अथवा जहा पर सिद्धान्तरूपी समुद्रके गमीर शब्द हो रहे हों-ऐसे स्थानोंमें (मम जन्म-जन्मनि) मेरा भव भवमें (सन्यसनसमन्वित मरण भवतु) सन्यास सहित मरण हो।

जन्मजन्मकृतं पापं जन्मकोटिसमर्जितम्।
जन्ममृत्युजरामूलं हन्यते जिनवंदनात् ॥ ५ ॥

अन्वयार्थः— (जिनवंदनात्) भगवान जिनेन्द्रदेवकी वदना करने से (जन्मजन्मकृत पापं) जन्म जन्ममें—भव भवमें किये हुए पाप (हन्यते) नष्ट

हो जाते हैं (जन्ममृत्युजरामूल) जन्म, मरण और बुढ़ापा जो दुःखों के मूल कारण हैं ऐसे (जन्मकोटिसमार्जित) करोड़ों जन्ममें इकट्ठे किये पाप भगवान् की वंदना करने से नष्ट हो जाते हैं।

आवाल्याज्जिनदेवदेव भवतः श्रीपादयोः सेवया।
सेवासक्तविनेयकल्पलतया कालोद्ययावद्गतः॥
त्वां तस्याः फलमर्थये तदधुना प्राणप्रयाणक्षणे।
त्वन्नामप्रतिबद्धवर्णपठने कण्ठोऽस्त्वकुण्ठो मम॥ ६॥

अन्वयार्थः—(जिनदेवदेव) हे देवाधिदेव-जिनदेव ! (सेवासक्तविनेयकल्पलतया) सेवामें आसक्त भव्य जीवोंको भक्तोंको कल्पलताके समान (भवत) आपके (श्रीपादयोः) शोभायुक्त दोनों चरणोंकी (सेवया) सेवा करते हुये मेरा (आवाल्यात्) बाल्यावस्थासे लेकर (कालोद्ययावद्गतः) आजतक जो काल व्यतीत हुआ है (तदधुना) इसलिये आज (त्वा) आपसे (तस्याः फलं) उस सेवाका यही फल (अर्थये) चाहता हूं कि (प्राणप्रयाणक्षणे) इस मरण के समय—समाधिमरणके समय (त्वन्नामप्रतिबद्धवर्णपठने) आपके नाम के अक्षर पढ़ने में—आपका नामोच्चार करने में (मम कण्ठः) मेरा कण्ठ (अकुण्ठः अस्तु) कुण्ठित मत होओ—रुके नहीं।

तवपादौ मम हृदये मम हृदयं तव पदद्वये लीनम्।
तिष्ठतु जिनेन्द्र तावद्यावन्निर्वाणसंप्राप्तिः॥ ७॥

अन्वयार्थः—(यावन्निर्वाणसप्राप्तिः) जबतक मोक्षकी प्राप्ति हो (तावत्) तबतक (जिनेन्द्र) हे जिनेन्द्रभगवान् ! (तव पादौ मम हृदये) आपके दोनों चरण कमल मेरे हृदयमें विराजमान रहे (मम हृदय तव पदद्वये लीन तिष्ठतु) मेरा हृदय आपके दोनों चरण कमलों में तल्लीन बना रहे।

एकापि समर्थेयं जिनभक्तिर्दुर्गतिं निवारयितुम्।
पुण्यानि च पूरयितुं दातुं मुक्तिश्रियं कृतिनः॥ ८॥

अन्वयार्थः—(इय एकापि जिनभक्तिः) यह एक ही भगवान् जिनेन्द्रदेवकी भक्ति (दुर्गतिं निवारयितुं) समस्त नरकादि दुर्गतियोंसे बचानेके लिये (च पुण्यानि पूरयितु) तथा समस्त पुण्योंको पूर्ण करनेके लिये (कृतनः मुक्ति-

श्रिय दातु समर्था) कृतकृत्य जीवोंको—भव्य जीवोंको मोक्षरूपी लक्ष्मी देने के लिये समर्थ है।

पञ्चअरिंजय पञ्चय मदि सायरे जिणे वंदे।
पञ्च जसोयरणामे पञ्चय सीमंदरे वंदे ॥ ९ ॥
रयणत्तयं च वंदे चव्वीसजिणे च सव्वदा वंदे।
पञ्चगुरूणं वंदे चारणचरणं सदा वंदे ॥ १० ॥

अर्थ-ढाई द्वीपमें होनेवाले पञ्चपरमेष्टीको मैं वदना करता हूं लवणसमुद्र और कालोदधि समुद्रमें होनेवाले पाच परमेष्ठियोंको मैं वदना करता हूं, लोकोत्तर यशको धारण करनेवाले पच परमेष्ठीको मैं वदना करता हूं और मेरुपर होनेवाले पच परमेष्ठीको मैं नमस्कार करता हू।

मैं रत्नत्रयको वंदना करता हू, चौवीस तीर्थंकरोंको सदा वंदना करता हूं, पाच परमेष्ठीको वंदना करता हू और चारण ऋद्धिधारी साधुओंको निरन्तर वदना करता हूं।

अर्हमित्यक्षरब्रह्मवाचकं परमेष्ठिनः।
सिद्धचक्रस्य सद्बीजं सर्वतः प्रणिदध्महे ॥ ११ ॥
कर्माष्टकविनिर्मुक्तं मोक्षलक्ष्मीनिकेतनम्।
सम्यक्त्वादिगुणोपेतं सिद्धचक्रं नमाम्यहम् ॥ १२ ॥

अन्वयार्थः—(अर्हं इति अक्षरब्रह्मवाचक परमेष्ठिनः 'वाचकं') 'अर्हं' यह अक्षर—शब्द परमब्रह्मका वाचक है, पंच परमेष्ठीका वाचक है (सिद्धचक्रस्य सद्बीजं) सिद्धचक्रका सर्वोत्तम वीज मत्र है-सिद्धचक्रमंत्रका वीजभूत है (सर्वतः प्रणिदध्महे) इसलिये मै उसको सदा नमस्कार करता हूं—इसलिये मै उस 'अर्हं' अक्षरको अपने हृदयमें सब ओर से धारण करता हू।

(कर्माष्टकविनिर्मुक्तं) जो आठ कर्मोंसे रहित हैं (मोक्षलक्ष्मीनिकेतन) मोक्षरूपी लक्ष्मीके स्थान हैं (सम्यक्त्वादिगुणोपेत) सम्यक्त्वादिक गुणों से सुशोभित हैं ऐसे (सिद्धचक्र अह नमामि) सिद्धचक्रको—समस्त सिद्धसमूहको मैं नमस्कार करता हू।

आकृष्टिं सुरसंपदां विदधते मुक्तिश्रियो वश्यताम्।
उच्चाटंविपदां चतुर्गतिभुवां विद्वेषमात्मैनसाम् ॥

स्तम्भं दुर्गमनं प्रति प्रयततो मोहस्य सम्मोहनम् ।
पायात्पचनमस्क्रियाक्षरमयी साराधना देवता ॥ १३ ॥

अन्वयार्थः—(पचनमस्क्रियाक्षरमयी साराधना देवता–पायात्) पचनमस्कार मत्रके अक्षरोंसे बना हुआ नमस्कार मंत्र आराधन करने योग्य देवता-देव है, वह मेरी रक्षा करो। इस देवताके आराधन करनेसे–पचनमस्कार मत्रका जप करनेसे (सुरसपदा आकृष्टि विदधते) स्वर्गकी सपदाका आकर्षण होता है (मुक्तिश्रियः वश्यता) मोक्षरूपी लक्ष्मी वश हो जाती है (चतुर्गतिभुवा विपदा उच्चाट) चारों गतियोंमें होनेवाली विपदाओंका उच्चाटन हो जाता है (आत्मैनसा विद्वेष) आत्माके द्वारा होनेवाले पापोंसे विद्वेष हो जाता है (दुर्गमन स्तम्भ) दुर्गतियोंका स्तभन होता है (प्रति प्रयततः मोहस्य सम्मोहन) इस देवताका आराधन करनेवाले पुरुषका मोह स्वयं मूर्छित हो जाता है–इस मत्रके प्रति प्रयत्न करनेवाले पुरुषके मोह का सम्मूर्छन हो जाता है

अनन्तानन्तसंसारसंततिच्छेदकारणम् ।
जिनराजपदाम्भोजस्मरणं शरणं मम ॥ १४ ॥

अन्वयार्थः—(जिनराजपदाम्भोजस्मरण) भगवान् जिनेन्द्रदेवके चरण कमलोंका स्मरण करना (अनन्तानन्तससारसततिच्छेदकारणं) अनंतानत ससार परम्पराके नाश करनेका कारण है इसीलिये (मम शरण) मैं भगवान्के उन चरण कमलोंकी शरण लेता हू–वे भगवान्के चरण कमल मुझे शरणरूप हैं ।

अन्यथा शरणं नास्ति त्वमेव शरणं मम ।
तस्मात् कारुण्यभावेन रक्ष रक्ष जिनेश्वर ॥ १५ ॥

अन्वयार्थः—(अन्यथा शरण नास्ति) हे प्रभो ! इस ससारमें आपके सिवाय और कोई मेरी शरण–रक्षा करनेवाला नहीं है (त्वमेव मम शरण) यही समझकर मैंने आपकी शरण ली है–तू ही मुझे शरणरूप है (तस्मात् जिनेश्वर कारुण्यभावेन रक्ष रक्ष) अतएव हे जिनेश्वर भगवान् ! करुणाभावसे मेरी रक्षा करो, रक्षा करो–ससारके दुःखोंसे मुझे बचाइये ।

नहि त्राता नहि त्राता नहि त्राता जगत्त्रये ।
वीतरागात्परो देवो न भूतो न भविष्यति ॥ १६ ॥

अन्वयार्थः—(जगत्त्रये नहि त्राता नहि त्राता नहि त्राता) हे प्रभो ! इन तीनों लोकोंमें तुम्हारे सिवाय कोई रक्षा करनेवाला वास्तवमें नहीं है, नहीं है, नहीं है (वीतरागात्परः देवः न भूतः न भविष्यति) और वीतराग परमदेवके सिवाय कोई देव न तो हुआ और न होगा।

जिने भक्ति र्जिने भक्ति र्जिने भक्ति र्दिने दिने।
सदामेऽस्तु सदामेऽस्तु सदामेऽस्तु भवे भवे ॥ १७ ॥

अन्वयार्थः—(दिनेदिने जिनेभक्तिः जिनेभक्तिः जिनेर्भक्तिः) हे भगवन्! प्रतिदिन जिनेन्द्र भगवानमें मेरी भक्ति रहे, रहे, रहे (भवे भवे सदा मे अस्तु मे अस्तु मे अस्तु) तथा वही भक्ति भव भव में सदा मुझे प्राप्त हो, प्राप्त हो, प्राप्त हो।

याचेहं याचेहं जिन तव चरणारविंदयोर्भक्तिम्।
याचेहं याचेहं पुनरपि तामेव तामेव ॥ १८ ॥

अन्वयार्थ.—(जिन) हे जिनेन्द्र भगवन् (तव चरणारविंदयो भक्ति अहं याचे अहं याचे) आपके दोनों चरणकमलोंकी भक्तिकी मैं याचना करता हूं—मै याचना करता हूं (पुनः अपि) फिर भी (ता एव ता एव) उसी आपके चरण कमलोंकी भक्तिकी (अहं याचे अहं याचे) मैं याचना करता हूं, मै याचना करता हूं।

इसके अनतर कायोत्सर्ग करना चाहिये।

आलोचना—

इच्छामि भंते समाहिभत्तिकाउस्सग्गो कओ तस्सालोचउं। रयणत्तय-परूवपरमप्पज्झाणलक्खणं समाहिभत्तीये णिच्चकालं अंचेमि, पूजेमि, वंदामि णमस्सामि, दुक्खक्खओ, कम्मक्खओ, बोहिलाहो, सुगइगमणं, समाहि-मरणं, जिणगुणसंपत्ति होउ मज्झं ॥

हे भगवन्! मै समाधिभक्ति कर कायोत्सर्ग करता हू तथा उसमें जो दोष लगे हों उनकी आलोचना करना चाहता हूं। इस समाधिभक्तिमें रत्नत्रय को निरूपण करनेवाले शुद्ध परमात्माके ध्यानस्वरूप शुद्ध आत्माकी सदा अर्चा

करता हूं, पूजा करता हू, वदना करता हू और नमस्कार करता हू। मेरे दुःखों का नाश हो, कर्मोका नाश हो। मुझे रत्नत्रयकी प्राप्ति हो, शुभगतिकी प्राप्ति हो, समाधिमरणकी प्राप्ति हो और भगवान् जिनेन्द्रदेवके समस्त गुणोंकी प्राप्ति हो।

इति समाधिभक्तिः ॥

निर्वाणभक्तिः

—आर्या छन्दः—

विबुधपतिखगपनरपतिधनदोरगभूतयक्षपतिमहितम् ।
अतुलसुखविमलनिरुपमशिवमचलमनामयं संप्राप्तम् ॥ १ ॥
कल्याणैः संस्तोष्ये पञ्चभिरनघं त्रिलोकपरमगुरुम् ।
भव्यजनतुष्टिजननैर्दुरवापैः सन्मतिं भक्त्या ॥ २ ॥

अन्वयार्थ.—(विबुधपति[1]खगप[2]नरपति[3]धनदो[4]रग[5]भूतयक्षपतिमहित) देवेन्द्र, विद्याधरोंके राजा, चक्रवर्ती, कुवेर, धरणेन्द्र, चमरेन्द्र और यक्षेन्द्रसे पूज्य (अतुल[6]सुखविमल[7]निरुपमशिव, अचल,[8] अनामयं[9] संप्राप्त) अतुल-उपमारहित सुखस्वरूप, निर्मल, उपमारहित, मोक्षस्वरूप, निश्चल और रोगरहित अवस्थाको प्राप्त (अनघं[10]) निष्पाप (त्रिलोकपरमगुरु) तीन लोकके परम गुरु ऐसे (सन्मतिं[11]) महावीर स्वामीकी (भक्त्या) भक्तिपूर्वक (भव्यजनतुष्टि जननैः[12]) भव्यजीवोंको सतुष्ट करनेवाले (दुरवापै.[13]) अत्यन्त कष्टसे प्राप्त होनेवाले (पचभिः[14]कल्याणैः) पाच कल्याणकों के द्वारा (सस्तोष्ये) स्तुति करता हू।

१-विबुधा देवाः तेषा पतय. इन्द्राः।

२-खे-आकाशे गच्छन्ति इति खगाः-विद्याधराः, तानपाति-रक्षति इति खगपाः-विद्याधरचक्रवर्तिनः।

३-नरपतयः-चक्रवर्तिनः।

४-कुवेराः ५-धरणेन्द्राः ६ अतुल अनुपम सुखं यत्र तत्। ७-विमलं विनष्टकर्ममलं

८-अचल-ईन्द्रियविषसुखादिस्वरूपरहित। ९-न विद्यते आमयो-व्याधिर्यत्र।

१०-अनघ निःपापं। ११-सन्मति-अन्तिमतीर्थंकरदेव १२-भव्यजनसतोषकरैः। १३-महता कष्टेन प्राप्यैः। १४-गर्भावतारजन्माभिषेकनिःक्रमणज्ञानमोक्षलक्षणैः।

गर्भकल्याणक—वर्णन—

आपाढसुसितषष्ठ्यां हस्तोत्तरमध्यमाश्रितेशशिनि ।
आयातः स्वर्गसुखं भुक्त्वा पुष्पोत्तराधीशः ॥ ३ ॥
सिद्धार्थनृपतितनयो भारतवास्ये विदेहकुण्डपुरे ।
देव्यां प्रियकारिण्यां सुस्वप्नान्संप्रदर्श्य विभुः ॥ ४ ॥

अन्वयार्थः—(पुष्पोत्तराधीशः) सोलहवें स्वर्गमें स्थित पुष्पोत्तर विमान का स्वामी (श्री महावीर स्वामीका जीव) वहा पर (स्वर्ग सुखं भुक्त्वा) स्वर्ग सुखोंको भोगकर (भारतवास्ये) जम्बूद्वीपके इस भारतक्षेत्रमें स्थित (विदेह-कुण्डपुरे) विदेहदेशके (विहारके) अतर्गत कुण्डपुर (कुण्डलपुर) नामके नगरमें (सुस्वप्नान्सप्रदर्श्य)रात्रिके पिछले प्रहरके समय सोलह स्वप्न दिखला-कर वह (विभुः) प्रभु (आषाढसुसितषष्ट्या) आषाढ शुक्ला षष्ठीको (हस्तो-त्तरमध्यमाश्रिते शशिनि (हस्त और उत्तरा नक्षत्रके मध्यभागमें चद्रमाके होते हुए (सिद्धार्थनृपतितनयः) सिद्धार्थ राजाके पुत्र होकर श्री महावीरस्वामी (प्रियकारिण्या देव्यां आयातः) प्रियकारिणीत्रिशलादेवी रानीके गर्भमें आये ।

जन्मकल्याणक—वर्णन—

चैत्रसितपक्षफाल्गुनि शशांकयोगे दिने त्रयोदश्याम् ।
जज्ञे स्वोच्चस्थेषु ग्रहेषु सौम्येषु शुभलग्ने ॥ ५ ॥
हस्ताश्रिते शशाके चैत्रज्योत्स्ने चतुर्दशीदिवसे ।
पूर्वाण्हे रत्नघटे विबुधेन्द्राश्चक्रुरभिषेकम् ॥ ६ ॥

अन्वयार्थः—(चैत्रसितपक्षफाल्गुनि शशाकयोगे त्रयोदश्या दिने) चैत्र-शुक्ला त्रयोदशीके दिन, उत्तराफाल्गुनी नक्षत्रके ऊपर चन्द्रमा होते हुए और (सौम्येषु ग्रहेषु स्वोच्चस्थेषु शुभलग्ने जज्ञे) समस्त सौम्यग्रह अपने उच्च स्थान पर रहते हुए शुभलग्नमें श्री भगवान् महावीरस्वामीका जन्म हुआ ।

(चैत्रज्योत्स्ने चतुर्दशीदिवसे) चैत्रशुक्ला चतुर्दशी के दिन (हस्ताश्रिते शशाके) हस्त नक्षत्रपर चन्द्रमाके होते हुये (पूर्वाण्हे) प्रातःकालमें (रत्नघटैः) रत्नोंके १००८ कलशों द्वारा (विबुधेन्द्राः) इन्द्रोंने (अभिषेकं) अभिषेक

(चक्रुः) किया[1] ।

दीक्षा कल्याणकका वर्णन—

भुक्त्वा कुमारकाले त्रिंशद्वर्षाण्यनंतगुणराशिः ।
अमरोपनीतभोगान्सहमाभिनिवोधितोन्येद्युः ॥ ७ ॥
नानाविधरूपचितां विचित्रकूटोच्छ्रितां मणिविभूषाम् ।
चन्द्रप्रभाख्यशिविकामारुह्य पुराद्विनिःक्रान्तः ॥ ८ ॥
मार्गशिरकृष्णदशमीहस्तोत्तरमध्यमाश्रिते सोमे ।
षष्ठेन त्वपराह्णे भक्तेन जिनः प्रवव्राज ॥ ९ ॥

अन्वयार्थः— (अनतगुणराशिः) अनंतगुणोकी राशि ऐसे वे महावीर स्वामी (कुमारकाले त्रिंशत्वर्षाणि) कुमारकालके तीसवर्ष तक (अमरोपनीत-भोगान् भुक्त्वा) देवोंके द्वारा प्राप्त भोगोंको भोगकर (अन्येद्युः सहसा अभि-निवोधितः) तीसवर्षके अनतर किसी एकदिन, एकदम, लौकांतिक देवोंके द्वारा प्रतिवोधित किये गये वे जिनराज—

(नानाविधरूपचिता) अनेकप्रकारसे सजाई गई (विचित्रकूटोच्छ्रिता) अनेक प्रकारके ऊचे कगूरेवाली (मणिविभूषा) मणियोंसे शोभायमान (चद्र-प्रभाख्यशिविका आरुह्य) ऐसी चन्द्रप्रभा नामकी पालकीमें बैठकर (पुरात्वि-निःक्रान्तः) नगरसे बाहर गये ।

(मार्गशिरकृष्णदशमीहस्तोत्तरमध्यमाश्रिते सोमे) मार्गशीर्ष कृष्णा दशमी के दिन, हस्त और उत्तरा नक्षत्रके मध्यमें चन्द्रमाके होनेपर सोमवारको (अप-राण्हे) शामके समय (षष्ठेन तु भक्तेन जिनः प्रवव्राज) वेला-दो उपवासकी प्रतिज्ञा लेकर दिगम्बर दीक्षा धारण की ।

ज्ञान कल्याणक—वर्णन—

ग्रामपुरखेटकर्वटमटम्बघोषाकरान्प्रविजहार ।
उग्रैस्तपोविधानैर्द्वादशवर्षाण्यमरपूज्यः ॥ १० ॥

१-सुमेरु पर्वतके पाडुकवनमें पाडुकशिलापर पूर्व दिशामें भगवान्का मुखकर क्षीरसागरसे हाथों हाथ जल लाकर अभिषेक किया था । कलशका परिमाण—८ योजन लम्बा, ४ योजन पेट-अन्दरकी गोलाई १ योजन मुख ।
सौधर्म और ईशान इन्द्र अभिषेक करते हैं । सनत्कुमार और महेन्द्र चमर ढोरते हैं ।

ऋजुकूलायास्तीरे शाल्मद्रुमसंश्रिते शिलापट्टे ।
अपराण्हे षष्ठेनास्थितस्य खलु जृंभिकाग्रामे ॥ ११ ॥
वैसाखसितदशम्यां हस्तोत्तरमध्यमाश्रिते चन्द्रे ।
क्षपकश्रेण्यारूढस्योत्पन्न केवलज्ञानम् ॥ १२ ॥

अन्वयार्थः—(अमरपूज्यः) देवोंके द्वारा पूज्य ऐसे भगवान् महावीरस्वामी ने(द्वादशवर्षाणि) बारहवर्ष पर्यंत (उग्रैः तपोविधानैः) घोर तपश्चरण करते हुये (ग्रामपुरखेटकर्वटमटंबघोषाकरान्) गाव,[१] नगर,[२] खेट,[३] कर्वट,[४] मटंब,[५] घोष,[६] आकार,[७] आदि[८] स्थानोंमें प्रविजहार) विहार किया—तदनंतर (ऋजुकूलायाः तीरे) ऋजुकूला नदीके किनारे (जृंभिकाग्रामे) जृंभिका नामके गाव में (शाल्मद्रुमसंश्रिते शिलापट्टे) शालवृक्षोंसे घिरी हुई या शालवृक्षके नीचे एक शिलाके ऊपर (षष्ठेनास्थितस्य खलु) दो उपवासकी प्रतिज्ञा लेकर खड़े हुए ।

(अपराण्हे) उसीदिन शामके समय (क्षपकश्रेण्यारूढस्य) क्षपकश्रेणी के ऊपर आरोहणकरके (वैसाखसितदशम्यां हस्तोत्तरमध्यमाश्रिते चन्द्रे) वैसाख शुक्ला दशमीके दिन हस्त और उत्तरा नक्षत्रके मध्यमें चन्द्रमा रहते हुये (केवलज्ञान उत्पन्न) केवलज्ञान उत्पन्न हुआ ।

अथ भगवान् संप्रापद्दिव्यं वैभारपर्वत रम्यम् ।
चातुर्वर्ण्यसुसंघस्तत्राभूद्गौतमप्रभृति ॥ १३ ॥
छत्राशोकौ घोषं सिंहासनदुंदुभी कुसुमवृष्टिम् ।
वरचामरभामंडलदिव्यान्यन्यानि चावापत् ॥ १४ ॥

---

१ जिसके चारो ओर बाड हो—गाव ।
२-जिसके कोटमें चार दरवाजे हो—पुर—नगर ।
३-जो नदी और पर्वतके बीचमें हो—खेट ।
४-जिसके चारों ओर पर्वत हो—कर्वट ।
५-जिसमें ५०० गाव लगते हों—मटंब ।
६-छोटी झोंपडीवाले स्थान—घोष ।
७-जिसमें खानि हो ——आकार । (आकरो नवसारिकापत्रादिविशिष्टवस्तूत्पत्तिस्थानं)
८-आदिसे-पत्तन-जहा रत्न उत्पन्न हों ।
द्रोणमुख—समुद्रके किनारे ।
संवाहन—पर्वतके ऊपर ।

दशविधमनगाराणामेकादशधोत्तरं तथा धर्मम् ।
देशयमानो व्यहरत्त्रिंशद्वर्षाण्यथ जिनेन्द्रः ॥ १५ ॥

अन्वयार्थः— (अथ) तदनतर (भगवान्) वे भगवान् (दिव्य रम्य वैभारपर्वत सप्रापत्) दिव्य और मनोहर वैभारपर्वत पर जा विराजमान हुये (तत्र गौतम प्रभृति चातुर्वर्ण्य[1] सुसघः[2] अभूत्) वहा पर गौतम गणधरको लेकर रत्नत्रयसे सुशोभित चारों प्रकारका सघ था।

(छत्राशोकौ) भगवान्के समवशरणमें दिव्य छत्र, अशोकवृक्ष (घोष) दिव्यध्वनि सिंहासनदुंदुमी) सिंहासन, दुदुभि (कुसुमवृष्टि) पुष्पवृष्टि (वर-चामरभामडलदिव्यानि) उत्तम ६४ चमर और भामडल ये आठ प्रातिहार्य (च अन्यानि[3] अवापत्) और अनेक प्रकारकी विभूति थी। अनेक प्रकारके अति-शयोंसे शोभायमान थे।

(अथ जिनेन्द्रः) अनन्तर भगवानने (त्रिंशत्वर्षाणि व्यहरन्) तीस वर्ष तक विहार करते हुये (अनगाराणा[4] दशविधं[5] तथा उत्तर[6] एकादशधा[7] धर्मं देशयमानः) मुनियोके उत्तमक्षमादि दश धर्मोका तथा श्रावकोंकी ग्यारह प्रतिमाओं स्वरूप धर्मका उपदेश दिया।

पद्मवनदीर्घिकाकुलविविधद्रुमखंडमडिते रम्ये ।
पावानगरोद्याने व्युत्सर्गेण स्थितः मुनिः ॥ १६ ॥
कार्तिककृष्णस्यान्ते स्वातावृक्षे निहत्य कर्मरजः ।
अवशेषं संप्रापद्व्यजरामरमक्षय सौख्यम् ॥ १७ ॥

अन्वयार्थः—(सः मुनिः) अतमें वे भगवान् (पद्मवनदीर्घिकाकुलविवि-धद्रुमखडमंडिते) कमलोंके समूहसे शोभित ऐसे पानीके तालाबसे तथा अनेक

१-चातुर्वर्ण्यः ऋष्यार्यिकाश्रावकश्राविकालक्षण. सचासौ सघश्च ।
२-शोभनो रत्नत्रयोपेत: सघः समुदायः सुसघः ।
३ गव्यूतिशतचतुष्टयसुभिक्षतागगनगमनादीनि ।
४ मुनीनाम् ।
५-दशविधमुत्तमक्षमादिदशप्रकार ।
६-इतर सागराणा धर्मम् ।
७-एकादशधा दर्शनव्रतायेकादशप्रकारं ।

प्रकारके वृक्षोंके समूहसे सुशोभित (रम्ये) अत्यन्त मनोहर (पावानगरोद्याने) पापापुरीके उद्यानमें (व्युत्सर्गेण स्थितः) कायोत्सर्ग से विराजमान हुये।

वे मुनि (अवशेष कर्मरजः निहत्य) बाकीके चार अघातिया कर्मोंका नाश करके (कार्तिककृष्णस्यान्ते) कार्तिक कृष्णा अमावस्याके दिन (स्वातावृक्षे) स्वाति नक्षत्रमें (व्यजरामरं) जरा-मरणसे रहित—अजर अमर (अक्षय) अविनाशी (सौख्य) सुखको (सम्प्रापत्) प्राप्त हुये—मोक्षमें चले गये।

[1]परिनिर्वृतं जिनेंद्रं ज्ञात्वा विबुधा ह्यथाशु[2] चागम्य।
देवतरुरक्तचन्दनकालागुरुसुरभिगोशीर्षैः ॥ १८ ॥
अग्नीन्द्राज्जिनदेहं मुकुटानलसुरभिधूपवरमाल्यैः।
अभ्यर्च्य गणधरानपि गता दिव्यं खं च वनभवते ॥ १९ ॥

अन्वयार्थः— (अथ जिनेन्द्र परिनिर्वृतं ज्ञात्वा) तदनतर जिनेन्द्र भगवान् महावीरस्वामी मोक्ष पधारे ऐसा जानकर (विबुधाः) इन्द्रादिक देव (आशु च) शीघ्र ही (आगत्य) आकर (देवतरु[3]रक्तचन्दनकालागुरुसुरभिगोशीर्षैः) देवदारु, रक्तचन्दन-लालचन्दन, कृष्णागुरु और सुगंधित गोशीर्ष नाम के चन्दनसे (अग्नीन्द्रात्) अग्निकुमार देवोंके इन्द्रके (मुकुटानलसुरभिधूपवरमाल्यैः) मुकुटसे निकली हुई अग्निसे तथा सुगंधित धूप और उत्तम मालाओं से (जिनदेहं) भगवान् के शरीरका अग्नि संस्कार करके (गणधरान् अपि अभ्यर्च्य) गणधरोंकी पूजा करके (दिव[4] ख[5] च वनभवते[6] गताः) कल्पवासीदेव स्वर्गको, ज्योतिषीदेव आकाशमें स्थित विमानोंमें, व्यन्तर तथा भवनवासीदेव क्रमसे देवारण्य आदि वनको तथा पाताल लोकको चले गये।

अठारहवें श्लोकमें 'आशु'[7] के स्थानमें 'शुचा' भी पाठ है। उसका अर्थ

१-परिनिर्वृत्ते इत्यपि पाठः।
२-शुचा-शोकन इत्यपि पाठः।
३-देवतरु—देवदारु।
४-दिवं—स्वर्गं।
५-खं—आकाशवर्तिनं स्वविमानं।
६-देवारण्य, भूतारण्ययं वनं।
७-आशु—शीघ्र।

यह है कि भगवानके मोक्ष जानेपर देवोंको शोक हुआ। 'अब भगवान मोक्ष चले गये-अब उनके दर्शन नहीं होंगे' यही उनके लिये शोकका कारण था। ऐसा शोक करते हुये ही वे देव आये।

इत्येवं भगवति वर्धमानचन्द्रे
यः स्तोत्रं पठति सुसंध्ययोर्द्वयोर्हि।
सोऽनन्तं परमसुखं नृदेवलोके
भुक्त्वान्ते शिवपदमक्षयं प्रयाति ॥ २० ॥

अन्वयार्थः— (इति एव) इसप्रकार (यः) जो भव्यजीव (हि) निश्चय से (द्वयोः सुसंध्ययोः) दोनों सन्ध्याकालोंमें—प्रातः काल, सयंकाल (भगवति वर्धमानचन्द्रे) भगवान् वर्धमानस्वामी का (स्तोत्र पठति) स्तोत्र पढ़ता है (सः) वह (नृदेवलोके) मनुष्यलोक और देवलोकके (परमसुख भुक्त्वा) उत्कृष्ट सुखोंको भोगकर (अते) अन्तमे (अनन्त अक्षय शिवपद प्रयाति) अनन्तरूप, कभी भी नाश नही होनेवाले मोक्षपदको प्राप्त करता है।

यत्रार्हतां गणभृतां श्रुतपारगाणां,
निर्वाणभूमिरिह भारतवर्षजानाम्।
तामद्य शुद्धमनसा क्रियया वचोभिः,
सस्तोतुमुद्यतमतिः परिणौमि भक्त्या ॥ २१ ॥

अन्वयार्थः— (इह) इस जम्बूद्वीपके (भारत[1]वर्षजाना) भरतक्षेत्र में उत्पन्न हुये (अर्हतां[2]) अर्हत—२४ तीर्थंकरोंकी (श्रुतपारगाणा[3] गणभृता[4]) श्रुतज्ञानमें पारंगत ऐसे गणधरदेवों की अथवा गणधरदेव और श्रुतकेवली आदि मुनियोंकी (यत्र) जहा जहां (निर्वाणभूमिः) निर्वाणभूमि है (ता) उन सबकी (अद्य) आज (सस्तोतु उद्यतमतिः) स्तुति करनेके लिये उद्यत हुआ मै (शुद्धमनसा क्रियया वचोभिः भक्त्या परिणौमि[5]) शुद्ध मनसे, शरीरकी क्रिया

१-भरतस्येद भारतं तच्च तद्वर्षं च क्षेत्रं च तत्र जाताना।
२-चतुर्विंशतितीर्थंकराणाम्।
३-श्रुतस्य द्वादशागादेः पारं पर्यंत गतवता।
४-गणधरदेवाना।
५-परि-समंतान्नौति।

से शुद्ध वचनसे भक्ति पूर्वक नमस्कार करता हू ।

कैलाशशैलशिखरे परिनिर्वृतोऽसौ ।
शैलेशिभावमुपपद्य वृषो महात्मा ॥
चंपापुरे च वसुपूज्यसुतः सुधीमान् ।
सिद्धिं परामुपगतो गतरागबंधः ॥ २२ ॥

अन्वयार्थः—(असौ महात्मा वृषः) वे महात्मा वृषभदेव (शैलेशिभाव[1]) अठारह हजार शीलोंके भेदोंके स्वामित्वको (उपपद्य) प्राप्त होकर (कैलाशशैलशिखरे परिनिर्वृतः) कैलाश पर्वतके शिखरपरसे मोक्ष पधारे (च) तथा (गतरागबंधः) रागबंधसे रहित (सुधीमान्[2]) बुद्धिमान् (वसुपूज्यसुतः) वसुपूज्य राजाके पुत्र ऐसे वासुपूज्य जिनराज (चम्पापुरे) चम्पापुरसे (परा[3] सिद्धिं[4] उपगतः[5]) उत्कृष्ट सिद्धिको प्राप्त हुये—मोक्ष पधारे ।

यत्प्रार्थ्यते शिवमय विबुधेश्वराद्यैः ।
पाखंडिभिश्च परमार्थगवेषशीलैः ॥
नष्टाष्टकर्मसमये तदरिष्टनेमिः ।
संप्राप्तवान् क्षितिधरे बृहदूर्जयन्ते ॥ २३ ॥

अन्वयार्थः—(यत् अय शिवः) जिस मोक्षकी (विबुधेश्वराद्यैः) इन्द्रादिकदेव (च) और (परमार्थगवेषशीलैः) परमार्थको खोजनेवाले (पाखंडिभिः) पाखंडी लोग भी (प्रार्थ्यते) प्रार्थना—इच्छा करते हैं (तत्) उस मोक्षको (अरिष्टमेमिः) श्री अरिष्टनेमि भगवान् २२ वे तीर्थंकरने (नष्टाष्टकर्मसमये) आठों कर्मोंको नाश करनेके समयमें ही (बृहत् ऊर्जयन्ते क्षितिधरे) महा ऊर्जयन्त पर्वतसे—गिरनारसे (संप्राप्तवान्) प्राप्त किया ।

पावापुरस्य बहिरुन्नतभूमिदेशे ।
पद्मोत्पलाकुलवतां सरसां हि मध्ये ॥
श्रीवर्द्धमानजिनदेव इति प्रतीतो ।
निर्वाणमाप भगवान्प्रविधूतपाप्मा ॥ २४ ॥

१-शीलाना समूहः शीलं तस्येशिभाव प्रभुत्व
२-शोभना धीः केवलज्ञानं तद्वान् ।
३-सकलकर्मविप्रमोक्षलक्षणा । ४-मुक्ति । ५-प्राप्तः ।

अन्वयार्थः–(पावापुरस्य वहिः) पावापुर नगरके बाहर (पद्मोपलाकुलवता[1] सरसा हि मध्ये) चन्द्रविकासी और सूर्यविकासी कमलोंसे भरे हुए तालाब के मध्यमें (उन्नतभूमिदेशे) ऊंचे टीले परसे (प्रविधूतपाप्मा) समस्त पापों के नाश करनेवाले (भगवान्) भगवान् (श्रीवर्द्धमानजिनदेव इति प्रतीतः) श्री वर्द्धमानस्वामी जिनदेव नाम से प्रसिद्ध (निर्वाण आप[2]) निर्वाणको प्राप्त हुये।

शेषास्तु ते जिनवरा जितमोहमल्ला।
ज्ञानार्कभूरिकिरणैरवभास्य लोकान् ॥
स्थानं परं निरवधारितसौख्यनिष्ठं।
सम्मेदपर्वततले समवापुरीशाः ॥ २५ ॥

अन्वयार्थः—(जितमोहमल्लाः) मोहरूपी मल्लको जीतनेवाले (शेषाः तु ते जिनवराः) ऐसे बाकीके वे बीस तीर्थंकर जिनदेव (ज्ञानार्कभूरिकिरणैः) केवलज्ञान रूपी सूर्यकी अनेक किरणोंसे (लोकान् अवभास्य) तीनों लोकोंको प्रकाशित करते हुये (सम्मेदपर्वततले[3]) सम्मेदशिखर पर्वतके ऊपरके भाग से (निरवधारित[4]सौख्यनिष्ठं) जिसके सुखकी कोई सीमा नहीं है—अनन्तानंत सुखवाले (परं स्थानं) परम स्थान—मोक्ष स्थानको (ईशाः) वे प्रभु (समवापुः[5]) प्राप्त हुये।

आद्यश्चतुर्दशदिनैर्विनिवृत्तयोगः।
षष्ठेन निष्ठितकृतिर्जिनवर्द्धमानः ॥
शेषाविभूतघनकर्मनिबद्धपाशाः।
मासेन ते यतिवरास्त्वभवन्वियोगाः ॥ २६ ॥

अन्वयार्थः—(आद्यः) पहले—आदिनाथ भगवानने (चतुर्दशदिनैः) आयुके १४ दिन बाकी रह जाने पर (विनिवृत्तयोगः[6]) योगनिरोध किया

१-पद्मोत्पलाकुलवता इति च क्वचित्पाठः।
२-आप—प्राप्तवान्।
३-सम्मेदपर्वतोपरितनभागे।
४-निरवधारिता इयत्तावधारणान्निष्क्राता सौख्यस्य निष्ठा परमप्रकर्षो यत्र।
५-प्राप्तवन्तः।
६-विनष्टद्रव्यमनोवाक्कायव्यापारः।

(जिनवर्द्धमानः) श्री जिनेन्द्र वर्द्धमान स्वामीने (षष्ठेन[1]) दो दिन बाकी रह जानेपर (निष्ठित[2]कृतिः) योग निरोध किया (विधूतघनकर्मनिबद्धपाशाः) आठ कर्मोंकी पाश-जालको नष्ट करनेवाले (ते शेषाः यतिवराः तु) ऐसे उन बाकी तीर्थंकरोंने (मासेन) एक मास आयु बाकी रहनेपर (वियोगाः[3] अभवन्) योगनिरोध किया ।

माल्यानि वाक्स्तुतिमयैः कुसुमैः सुदृब्धा-
न्यादाय मानसकरैरभितः किरंतः ।
पर्येम आदृतियुता भगवन्निषद्याः,
संप्रार्थिता वयमिमे परमां गतिं ताः ॥ २७ ॥

अन्वयार्थः—(वाक्स्तुतिमयैः कुसुमयैः सुदृब्धानि माल्यानि) वचनोंके द्वारा होनेवाली स्तुतिरूपी पुष्पोंसे गूथी हुई मालाओंको (आदाय) लेकर (ताः भगवन्निषद्याः[4]) भगवानकी निर्वाण भूमियोंके (अभितः[5]) चारों ओर (मानसकरैः किरंतः[6]) मनरूपी हाथोंसे उन मालाओंको चढ़ाते हुये (आदृतियुताः इमे[7] वय) आदरके साथ (पर्येम[8]) उन निर्वाण भूमियोंकी परिक्रमा करते हैं और (परमा गतिं सम्प्रार्थिता) हमको परमगति—मोक्षगति प्राप्त हो-ऐसी प्रार्थना करते हैं ।

तीर्थंकरोंकी निर्वाणभूमियोंके सिवाय अन्य मुनियोंकी निर्वाण भूमियोंकी स्तुति—

शत्रुञ्जये नगवरे दमितारिपक्षाः ।
पंडोः सुताः परमनिर्वृतिमभ्युपेताः ॥
तुंग्यां तु सङ्गरहितो बलभद्रनामा ।
नद्यास्तटे जिनरिपुश्च सुवर्णभद्रः ॥ २८ ॥

१-षष्ठेन—दिनद्वयेन परिसंख्याते आयुषि सति ।
२-निष्ठिता विनष्टा कृतिः द्रव्यमनोवाक्कायक्रिया यस्यासौ ।
३-वियोगा विगतद्रव्यमनोवाक्कायव्यापाराः ।
४-भगवता तीर्थङ्कराणा निषद्याः तीर्थस्थानानि ।
५-अभितः—समन्ततः । ६-किरन्तः, क्षिपन्तः । ७ इमे स्तोतारो वयं ।
८-पर्येम—प्रदक्षिणीकुर्मः ।

द्रोणीमति प्रबलकुडलमेंढ्रके च ।
वैभारपर्वततले वरसिद्धकूटे ॥
ऋष्यद्रिके च विपुलाद्रिबलाहके च ।
विंध्ये च पौदनपुरे वृषदीपके च ॥ २६ ॥
सह्याचले च हिमवत्यपि सुप्रतिष्ठे ।
दंडात्मके गजपथे पृथुसारयष्टौ ॥
ये साधवो हतमलाः सुगतिं प्रयाताः ।
स्थानानि तानि जगति प्रथितान्यभूवनि ॥ ३० ॥

अन्वयार्थः—(दमतारिपक्षाः) कर्मरूपी शत्रुओंको नाश करने वाले (पण्डोः सुताः) पंडु राजाके पुत्र युधिष्ठर, भीम, अर्जुन ये तीनों भाई (नग्गरे शत्रुंजये) पवित्र शत्रुजय पर्वतसे (परमानिर्वृतिं अभ्युयेताः) परम मुक्तिको पधारे । (संगरहितः बलभद्रनामा तु) समस्त परिग्रहों से रहित बलदेव (तुंग्या) तुगीगिरी से मोक्ष पधारे, (च जितरिपुः सुवर्णभद्रः नद्याः तटे) और कर्मरूपी शत्रुओंको जीतनेवाले सुवर्णभद्र नदी के किनारे से—पावागिर पर्वतके पास चलना नदीके किनारेसे मोक्ष पधारे ।

(द्रौणमति) द्रोणागिर, (च प्रबलकुण्डलमेंढ्रके) उत्तम कुण्डलपर्वत, मेढ्रगिर पर्वत (मुक्तागिर) (वैभारपर्वततले) वैभारपर्वत, (वरसिद्धकूटे) उत्तम सिद्धवरकूट (च ऋष्याद्रिके) तथा ऋष्याद्रि, (च विपुलाद्रिबलाहके) विपुलाचल, बलाहक, (च विंध्ये) विंध्यपर्वत (पौदनपुरे) पोदनपुर (च वृषदीपके) वृषदीपक, (सह्याचले) सह्याद्रि (च हिमवति) हिमवान् (अपि सुप्रतिष्ठे) सुप्रतिष्ठ (दंडात्मके) दंडात्मक (गजपथे) गजपथ (पृथुसारयष्टौ) पृथुसारयष्टि आदि जिन जिन पर्वतोंपरसे (ये हतमलाः साधवः) जो कर्ममल-कलंकको नाशकरके मुनिराज (सुगतिं प्रयाताः) मोक्ष पधारे हैं (जगति) संसारमें (तानि स्थानानि प्रथितानि अभूवन्) वे सब स्थान प्रसिद्ध हो गये हैं।

इक्षोर्विकारसपृक्तगुणेन लोके ।
पिष्टोऽधिकं मधुरतामुपयाति यद्वत् ॥
तद्वश्च पुण्यपुरुषैरुषितानि नित्यं ।
स्थानानि तानि जगतामिह पावनानि ॥ ३१ ॥

अन्वयार्थः— (यद्वत्) जिसप्रकार (लोके) संसारमें (इक्षोर्विकाररस-पृक्तगुणेनूपिष्टः) ईखके रससे उत्पन्न होनेवाले गुड़के रसमें गुदा हुआ आटा (अधिक मधुरता याति) अधिक मीठा हो जाता है (च तद्वत्) तथा उसी प्रकार (नित्यं) सदा (पुण्यपुरुषैः उषितानि तानि स्थानानि) पुण्यपुरुषोंके द्वारा-तीर्थंकर, गणधर, सामान्य मुनियों द्वारा सेवन किये गये वे स्थान (इह) लोकमें (जगतां) संसारके प्राणियों को (पावनानि) पवित्र करनेवाले हो जाते हैं ।

इत्यर्हतां शमवतां च महामुनीनां,
प्रोक्ता मयाऽत्र परिनिर्वृतिभूमिदेशाः ।
तेमे जिना जितभया मुनयश्च शांताः,
दिश्यासुराशु सुगतिं निरवद्यसौख्याम् ॥ ३२ ॥

अन्वयार्थः— (इति) इसप्रकार (मया) मैंने (अत्र) यहां (अर्हतां) भगवान तीर्थंकर परमदेवकी (शमवतां) अत्यन्त शान्तता को धारण करनेवाले सामान्य मुनियोंकी (च महामुनीनां) और महामुनि गणधरदेवोंकी जो (परि-निर्वृतिभूमिदेशाः) निर्वाणभूमियां (प्रोक्ताः) बतलाई हैं (ते) वे सब निर्वाणभूमियां (जितभयाः शांताः जिनाः च मुनयः) संसारके समस्त भयोंसे रहित, अत्यन्त शांत ऐसे वे सब तीर्थंकर परमदेव गणधर केवली और सामान्य केवली (मे) मुझे (आशु) शीघ्र ही (निरवद्यसौख्यां) सब तरहकी बाधाओंसे रहित सुख-वाली (सुगतिं) शुभगति—मोक्षको (दिश्यासुः) देवें ।

इसके अनन्तर कायोत्सर्ग करना चाहिये ।

आलोचना—

इच्छामि भंते । परिणिव्वाणभत्ति काउस्सग्गो कओ तस्सालोचेउं । इमम्मि अवसप्पिणीये चउत्थसमयस्स पच्छिमे भाए । आउट्ठमासहीणे वासचउक्कम्मि सेसकाम्मि । पावाये णयरीए कत्तियमासस्स किण्हचउद-सिए रत्तीए सादीये णक्खत्ते पच्चूसे भयवदो महदि महावीरो वड्ढमाणो सिद्धिं गदो । तिसुवि लोएसु भवणवासियवाणविंतरजोयिसियकप्पवासि-यत्ति चउव्विहा देवा सपरिवारा दिव्वेण गंधेण, दिव्वेण पुप्फेण, दिव्वेण

धूवेण, दिव्वेण चुण्णेण, दिव्वेण वासेण, दिव्वेण एहाणेण, णिच्चकालं अच्चति: पूजति: वंदंति, णमसंति. परिणिव्वाण, महाकल्लाणपुज्जं करंति। अहमिव इह संतो तत्थ संताइयं णिचकाल अंचेमि, पूजेमि, वंदामि, णमंमासि, दुक्खक्खओ, कम्मक्खओ: वोहिलाओ, सुगइगमणं, समाहिमरणं जिणगुणसंपत्ति होउ मज्झं।

अर्थ–हे भगवन्! मैं निर्वाण भक्ति कर कायोत्सर्ग करता हू उसमें जो दोष लगे हों उनकी आलोचना करना चाहता हू। इस अवसर्पिणीकालके चौथे समयके पिछले भागमें जब तीन वर्ष साड़े आठ महीने कम थे, तब पावापुर नगर मे कार्तिक कृष्णा चतुर्दशीकी रात्रिके पिछले भागमे प्रातःकाल स्वाति नक्षत्र में भगवान् महति महावीर वर्द्धमानस्वामी मोक्ष पधारे थे। उस समय तीनों लोकों में निवास करनेवाले भवनवासी, व्यतर, ज्योतिष्क और कल्पवासी ये चारों प्रकार के देव अपने अपने परिवार सहित आये थे और वे दिव्य गध, दिव्य फूल, दिव्य धूप, दिव्य सुगंध, दिव्य वस्त्र और अभिषेकसे सुसज्जित होकर सदा अर्चा करते थे, पूजा करते थे, वंदना करते थे, नमस्कार करते थे, और निर्वाण कल्याणकी पूजा करते थे। मै भी वैसा ही होकर सदा अर्चा करता हू, पूजा करता हू, वदना करता हू और नमस्कार करता हू। मेरे दुःखोंका नाश हो, कर्मोंका नाश हो, मुझे रत्नत्रयकी प्राप्ति हो, शुभगतिकी प्राप्ति हो, समाधिमरणकी प्राप्ति हो और भगवान् जिनेन्द्रदेव के समस्त गुणोंकी प्राप्ति हो।

इति निर्वाणभक्तिः।

अथ क्षेपकश्लोकानि।

कैलासाद्रौ मुनीद्रः पुरुरपदुरितो मुक्तिमाप प्रणूतः॥ चंपायां वासुपूज्यस्त्रिदशपतिनुतो नेमिरप्यूर्जयंते॥ पावायां वर्धमानस्त्रिभुवनगुरवो विंशतिस्तीर्थनाथाः॥ सम्मेदाग्रे प्रजग्मुर्ददतु विनमतां निर्वृतिं नो जिनेद्राः॥ ॥ १ ॥ गोर्गजोश्वःकपिः कोकःसरोजः स्वस्तिकः शशी। मकरः श्रीयुतो

वृक्षो गंडो महिषसूकरौ ॥ ३ ॥ सेधा वज्रमृगच्छागाः पाठीनः कलशस्तथा ॥ कच्छपश्चोत्पलं शखो नागराजश्च केसरी ॥ ४ ॥ शांतिकुन्थ्वरकौरव्या यादवो नेमिसुव्रतौ । उग्रनाथौ पार्श्ववीरौ शेषा इक्ष्वाकुवंशजाः ॥ ५ ॥

निर्वाणभक्तिः [प्राकृत]

अट्ठावयम्मि उसहो चंपाये वासुपूज्यजिणणाहो । उज्जते णेमिजिणो पावाए णिव्वुदो महावीरो ॥ १ ॥ वीसं तु जिणवरिंदा अमरासुरवंदिदा धुदकिलेसा । सम्मेदे गिरिसिहरे णिव्वाणगया णमो तेसिं ॥ २ ॥ सत्तेव य बलभद्दा जदुवणरिंदाण अट्ठकोडीओ गजपथे गिरिसिहरे णिव्वाणगया णमो तेसिं ॥ ३ ॥ वरदत्तो य वरंगो सायरदत्तो य तारवरणयरे । आहुट्ठयकोडीओ णिव्वाणगया णमो तेसिं ॥ ४ ॥ णेमिसामि पज्जुण्णो संबुकुमारो तहेव अणिरुद्धो । बाहत्तरकोडीओ उज्जन्ते सत्तसया सिद्धा ॥ ५ ॥ रामसुआ बेण्णि जणा लाडणरिंदाण पञ्चकोडीओ । पावागिरिवरसिहरे णिव्वाणगया णमो तेसिं ॥ ६ ॥ पंडुसुआ तिण्णि जणा दविडणरिंदाण अट्ठकोडिओ ॥ सेत्तुंजयगिरिसिहरे णिव्वाणगया णमो तेसिं ॥ ७ ॥ रामहणूसुग्गीवो गवयगवक्खो य णीलमहणीला । णवणवदी कोडीओ तुङ्गीगिरिणिव्वुदे वंदे ॥ ८ ॥ णंगाणंगकुमारा कोडीपञ्चद्धमुणिवरा सहिया ॥ सुवण्णवरगिरिसिहरे णिव्वाणगया णमो तेसिं ॥ ९ ॥ दहमुहरायस्स सुआ कोडी पञ्चद्धमुणिवरे सहिया । रेवाउहयतडग्गे णिव्वाणगया णमो तेसिं ॥ १० ॥ रेवाणइए तीरे पच्छिमभायम्मि सिद्धवरकूटे । दो चक्की दहकप्पे आहुट्ठयकोडि णिव्वुदे वंदे ॥ ११ ॥ वडवाणीवरणयरे दक्खिणभायम्मि चूलगिरिसिहरे । इंदजियकुम्भकण्णो णिव्वाणगया णमो तेसिं ॥ १२ ॥ पावागिरिवरसिहरे सुवण्णभद्दाइमुणिवरा चउरो । चलणाणईतडग्गे णिव्वाणगया णमो तेसिं ॥ १३ ॥ फलहोडीवरगामे पच्छिमभायम्मि दोणगिरिसिहरे । गुरुदत्ताइमुणिंदा णिव्वाणगया णमो तेसिं ॥ १४ ॥

णायकुमार मुणिंदो वालि महावालि चेव अज्झेया ॥ अट्ठावयगिरिसिहिरे णिव्वाणगया णमो तेसिं ॥ १५ ॥ अच्चलपुरवरणयरे ईसाणभाये मेढगिरिसिहरे आहुट्ठयकोडीओ णिव्वाणगया णमो तेसिं ॥ १६ ॥ वंसत्थलवरणियडे पच्छिमभायम्मि कुंथुगिरिसिहिरे ॥ कुलदेसभूसणमुणी णिव्वाणगया णमो तेसिं ॥ १७ ॥ जसहररायस्स सुता पञ्चसयाइ कलिंगदेसम्मि । कोडिसिलाकोडिमुणी णिव्वाणगया णमो तेसिं ॥ १८ ॥ पासस्स समवसरणे सहिया वरदत्तमुणिवरा पञ्च ॥ रिस्सिंदे गिरिसिहरे णिव्वाणगया णमो तेसिं॥ १९ ॥ पासं तह अहिणंदण णायद्दहि मंगलाउरे वंदे ॥ अस्सारम्मे पट्टणि मुणिसुव्वओ तहेव वंदामि ॥ २० ॥ बाहूबलि तह वंदामि पोदनपुरहत्थिनापुरे वंदे । संती कुन्थुव अरिहो वाराणसिए सुपास पासं च ॥ २१ ॥ महुराये अहिछित्ते वीर पासं तहेव वंदामि ॥ जंबुमुणिंदो वंदे णिव्वुइपत्तोवि जम्बुवणगहणे ॥ २२ ॥ पञ्चकल्लाणठाणइ जाणवि संजादमच्चलोयमि ॥ मणवयणकायसुद्धी सव्वे सिरसा णमसामि ॥ २३ ॥ अग्गलदेव वंदमि वरणयरे णिवरकुण्डली वंदे ॥ पासं सिवपुरि वंदमि लोहागिरिसंखदीवम्मि ॥ २४ ॥ गोमटदेवं वदमि पञ्चसयं धणुहदेहउच्चं तं । देवा कुणंति वुट्ठी केसरकुसुमाण तस्स उवरिम्मि ॥ २५ ॥ णिव्वाण ठाण जाणिवि अइसयठाणाणि अइसये सहिया । संजाद मिच्चलोए सव्वे सिरसा णमंसामि ॥ २६ ॥ जो जण पढइ तियाल णिव्वुइकडपि भावसुद्धीए । भुंजदि णरसुरसुक्ख पच्छा सो लहइ णिव्वाणं ॥२७॥ श्रीमच्चद्रगुहावराक्षरशिलां वस्त्रावतारं सदा । अर्चे चारणपादुकां चणगुहे सर्वामरैरर्चितां । भास्वल्लक्षणपंक्ति निर्वृतिपथं विंदुच धर्मं शिलां, सम्यग्ज्ञानशिलां च नेमिनिलयं वंदे सशृंगत्रयम् ॥ २८ ॥ समवसरणमान योजनं द्वादशादि । जिनपतियदुयावद्योजनार्द्धार्द्धहानिः । कथयति जिनपार्श्वे योजनैक सपाद । निगदितजिन वीरे योजनैकं प्रमाणम् ॥ २९ ॥ नाभेयस्य शतानि पञ्च धनुषां मानं परं कीर्तितम् । सद्भिस्तीर्थकराष्टकस्य निपुणैः पञ्चाशदून हि तत् । पञ्चानां च दशोनक भुवि भवेत्पंचोनकं चाष्टके । हस्ताः स्युर्नव सप्त चान्त्य जिनयोर्येषां नु तान्नौम्यहं ॥ ३० ॥

श्रीचंद्रप्रभंनाथपुष्पदशनौ कुंदावदातच्छवी ॥ रक्ताम्भोजपलाशवर्णवपुषौ पद्मप्रभद्वादशौ ॥ कृष्णौ सुव्रतयादवौ च हरितौ पार्श्वः सुपार्श्वश्च वै ॥ शेषाः संतु सुवर्णवर्णवपुषो मे षोडशाघच्छिदे ॥ ३१ ॥ वासुपूज्यस्तथा मल्लिर्नेमिः पार्श्वोथ सन्मतिः ॥ कुमाराः पञ्च निष्क्रान्ताः पृथिवीपतयः परे ॥ ३२ ॥

इच्छामि भंते । परिणिव्वाणभक्ति काउस्सग्गो, कओ तस्सालोचेउ, इमाम्मि अवसप्पिणीये, चउत्थसमयस्स पच्छिमे भाए, आउट्ठमासहीणे, वासचउक्कम्मि सेसकालम्मि, पावाये णयरीए, कत्तियमासस्स किण्हच उद्सिए, रत्तीए सादीये णक्खत्ते, पच्चूसे, भयवदो महदि महावीरो वड्ढमाणो सिद्धिं गदो । तिसुवि लोएसु, भवणवासियवाणविंतरजोयिसियकप्पवासियत्ति चउव्विहा देवा सुपरिवारा दिव्वेण गंधेण, दिव्वेण पुप्फेण, दिव्वेण धूवेण, दिव्वेण चुण्णेण, दिव्वेण वासेण, दिव्वेण ण्हाणेण, णिच्चकालं अच्चंति; पूजंति; वंदंति, णमसंति, परिणिव्वाण, महाकल्लाणपुज्जं करंति । अहमवि इह संतो तत्थ संताइयं णिच्चकाल अंचेमि, पूजेमि, वंदामि, णमंसामि, दुक्खक्खओ, कम्मक्खओ; बोहिलाओ, सुगइगमणं, समाहिमरणं जिणगुणसंपत्ति होउ मज्झं ।

नन्दीश्वरभक्तिः

त्रिदशपतिमुकुटतटगतमणिगणकरनिकरसलिलधाराधौत-
क्रमकमलयुगलजिनपतिरुचिरप्रतिबिंबविलयविरहितनिलयान् ॥१॥
निलयानहमिह महसा सहसाप्रणिपतनपूर्वमवनौम्यवनौ ।
त्रय्या त्रय्या शुद्धया निसर्गशुद्धान्विशुद्धये घनरजसाम् ॥ २ ॥

अन्वयार्थ — (त्रिदशपतिमुकुटतटगतमणिगणकरनिकरसलिलधाराधौत-क्रमकमलयुगलजिनपतिरुचिरप्रतिबिंबविलयविरहितनिलयान्) इन्द्रोंके मुकुटोंके किनारे पर लगे हुये अनेक मणियोंके किरणोंके समूह रूपी जलकी धारासे जिन के दोनों चरण कमल प्रक्षालित हो रहे हैं ऐसे जिनेन्द्र देवके प्रतिबिंबोंको विनाश

रहित-सदाके लिये अनन्तानन्त कालके लिये स्थान देनेवाले-(निसर्गशुद्धान्) स्वाभाविक शुद्ध और (महसा) तेजकी राशि (इह त्रय्या) ऐसे तीनों लोकोंके (निलयान्) अकृत्रिम चैत्यालयोंको (अह) मै (त्रय्या शुद्धया) मनवचन-कायकी त्रिशुद्धिपूर्वक (घनरजसा विशुद्धये) महापापोंको नाश करनेके लिये (सहसा) शीघ्र (अवनौ प्रणिपतनपूर्वं) पृथ्वी पर पडकर (अवनौमि) नमस्कार करता हूं ॥ १-२ ॥

अधोलोक सबधी भवनवासियोंके विमानोंके अकृत्रिमचैत्यालयोंका वर्णन—

व्यतरदेवोंके अकृत्रिम-चैत्यालय—

त्रिभुवनभूतविभूना संख्यातीतान्यसंख्यगुणयुक्तानि ।
त्रिभुवनजननयनमनःप्रियाणि भवनानि भौमविबुधनुतानि ॥
भावनसुरभवनेषु द्वासप्ततिशतसहस्रसंख्याभ्यधिकाः ।
कोटयः सप्त प्रोक्ता भवनानां भूरितेजसा भुवनानाम् ॥ ३ ॥

अन्वयार्थ — (भूरितेजसा भावनसुरभवनेषु भुवनाना) अत्यन्त तेजको धारणकरनेवाले ऐसे भवनवासी देवोंके भवनोंमें रहनेवाले (भुवनाना) अकृत्रिम चैत्यालयोंकी (सप्त कोट्यः द्वासप्ततिशतसहस्रसख्याभ्यधिकाः प्रोक्ता) सात करोड़ बहत्तरलाख सख्या कही है ।

भावार्थ—भवनवासियोंके इतने ही भवन हैं और उनमें प्रत्येकमें एक एक अकृत्रिम चैत्यालय है ॥ ३ ॥

अन्वयार्थः — (भौमविबुधनुतानि) जिनको समस्त व्यंतर देव नमस्कार करते हैं (त्रिभुवनजननयनमनःप्रियाणि) जो तीनों लोकोंके जीवोंके नेत्र और मनको अत्यन्त प्रिय लगते हैं ऐसे (त्रिभुवनभूतविभूना भवनानि) तीनों लोकोंके समस्त प्राणियोंके स्वामी-भगवान् जिनेन्द्रदेवके मदिर (सख्यातीतान्यसख्य-गुणयुक्तानि) असख्यातको असख्यातसे गुणा करने पर जितनी सख्या होती है उतने हैं ।

भावार्थ व्यन्तर देवोंके आवास भी असंख्यातासख्यात है और उनमें प्रत्येकमें एक-एक अकृत्रिम चैत्यालय है ।

ज्योतिष्कदेव तथा वैमानिकदेवोंके अकृत्रिम चैत्यालय—

यावन्ति संति कान्तज्योतिर्लोकाधिदेवताभिनुतानि ।
कल्पेऽनेकविकल्पे कल्पातीतेऽहमिन्द्रकल्पानल्पे ॥ ५ ॥
विंशतिरथ त्रिसहिता सहस्रगुणिता च सप्तनवति प्रोक्ता ।
चतुरधिकाशीतिरतः पञ्चकशून्येन विनिहतान्यनघानि ॥ ६ ॥

अन्वयार्थः—(कान्तज्योतिर्लोकाधिदेवताभिनुतानि) सुन्दर ऐसे ज्योतिर्षी देवोंके द्वारा नमस्कार किये गये 'भवनानि' जिनालय (यावन्ति संति) उतने ही अर्थात् असंख्यातासंख्यात हैं। (अनेकविकल्पे कल्पे) अनेक भेदरूप सोलह स्वर्गोंमें और (अहमिन्द्रकल्पानल्पे कल्पातीते) जिनमें अहमिन्द्रोंकी कल्पना है ऐसे बहुत कल्पातीत विमानोंमें—(अनघानि) पापरहित चैत्यालयोंकी संख्या

00000 ९७ X १०००
(चतुरधिकाशीतिः अतः पंचकशून्येन च सप्तनवति सहस्रगुणिताविनिहतानि
३ २०
अथ त्रिसहिता विंशतिः प्रोक्ता) पच शून्यसे गुणा किये हुये चौरासीलाख, एक हजारसे गुणा किये हुये सतानवे अर्थात् सतानवे हजार और तेईस हैं अर्थात् चौरासीलाख सतानवे हजार तेईस हैं। यह संख्या कल्पवासी और कल्पातीत दोनों प्रकारके देवोंके अकृत्रिम चैत्यालयोंकी है। यदि इनके चैत्यालयों की पृथक् पृथक् संख्या कही जाय तो कल्पवासियोंके चैत्यालय चौरासी लाख छ्यानवे हजार सातसौ है और कल्पातीत देवोंके चैत्यालयोंकी संख्या तीनसौ तेईस हैं।

मनुष्य क्षेत्रके अकृत्रिम चैत्यालयोंकी संख्या—

अष्टापंचाशदतश्चतुः शतानीह मानुषे च क्षेत्रे ।
लोकालोकविभागप्रलोकनालोकसंयुजां जयभाजाम् ॥ ७ ॥

अन्वयार्थः—(लोकालोकविभागप्रलोकनालोकसंयुजा) लोक और अलोक के विभागको देखनेके लिये प्रकाश के समान—केवलदर्शनसे सुशोभित होनेवाले (जयभाजा) और घातिया कर्मोंको नाश करनेके कारण सर्वत्र विजय प्राप्त करनेवाले भगवान् अर्हंतदेवके अकृत्रिम चैत्यालय (इह मानुपे च क्षेत्रे) इस मनुष्य क्षेत्रमें (अष्टापचाशदतः चतुः शतानि) चारसौ अठावन हैं।

तीनो लोकोंके अकृत्रिम चैत्यालयोंकी संख्या—

नवनवचतुःशतानि च सप्त च नवतिः सहस्रगुणिताः षट् च ।
पंचाशत्पंचवियत्प्रहताः पुनरत्र कोटयोऽष्टौ प्रोक्ताः ॥ ८ ॥
एतावन्त्येव सतामकृत्रिमाण्यथ जिनेशिनां भवनानि ।
भुवनत्रितये त्रिभुवनसुरसमितिसमर्च्यमानसत्प्रतिमानि ॥ ९ ॥

अन्वयार्थः— (त्रिभुवनसुरसमितिसमर्च्यमानसत्प्रतिमानि) तीनों लोकोके देवोंके द्वारा जिनकी मनोहर मूर्ति–प्रतिमा पूजी जाती है ऐसे (सता जिनेशिना) उत्कृष्ट जिनराज के (अकृत्रिमाणि अथ भवनानि) अकृत्रिम जिन चैत्यालय

९ × ९=८१ + ४००=४८१ + ९० × १०००=

(भुवनत्रितये) तीन लोकमें (नवनवचतुः शतानि च सप्त च नवतिः सहस्र-

९७००० ६+ ५०=५६ × ००००=५६००००० ८००००००

गुणिताः षट् च पंचाशत् पचवियत्प्रहताः अत्र पुनः अष्टौ कोटयः एतावन्त्येव प्रोक्ताः) आठ करोड़, छप्पन लाख, सत्तानवे हजार ४८१ हैं। (८५६९७४८१)

अधोलोकमें ७७२००००

मध्यलोकमे ४५८

ऊर्ध्वलोकमें ८४९७०२३

८५६९७४८१ तीनलोकके कुल चैत्यालय।

ज्योतिष्क और व्यन्तरदेवोंके असख्यातासख्यात चैत्यालय अलग हैं।

मध्यलोकके ४५८ चैत्यालय—

१०० ४ ४ १७० ४ ३० ४
वक्षाररुचककुंडलरौप्यनगोत्तरकुलेषुकारनगेषु ।
१०
कुरुषु च जिनभवनानि त्रिशतान्यधिकानि तानि षड्विंशत्या ॥१०॥

अन्वयार्थः— (वक्षाररुचककुण्डलरौप्यनगोत्तरकुलेषुकारनगेषु च कुरुषु जिनभवनानि तानि त्रिशतान्यधिकानि षड्विंशत्याः) वक्षारगिरि–पाचविदेह सबधी ८०, गजदत २० कुल १०० पर्वतो पर १०० अकृत्रिम चैत्यालय है, रुचकद्वीपमें रुचक पर्वतपर ४, कुण्डलद्वीपमें कुण्डलपर्वत पर ४, रौप्यनग–विजयार्द्धपर्वत पर १७० कर्मभूमि सम्बंधी ढाई द्वीपके १७० चैत्यालय, मानुषोत्तरपर्वतपर ४, हिमवान् आदि ३० कुलाचलों पर ३०, चार इषुकार-इष्वा-

कार पर्वतों पर ४ और देवकुरुमें ५, उत्तरकुरुमें ५, इस प्रकार इन अकृत्रिम जिनभवनोंकी सख्या ३२६ है (नन्दीश्वर द्वीपके ५२ और पञ्चमेरुके ८० मिला कर कुल ४५८ चैत्यालय (अकृत्रिम) होते हैं।

नोट—एक एक विदेहमें १६–१६ वक्षारगिरि और ४–४ गजदत मिलकर १०० पर्वतो पर १०० अ० चै० हैं। ढाई द्वीपमें १७० कर्मभूमिया हैं उनमें १७० ही विजयार्ध पर्वत हैं उन पर १७० ही अ० चै० हैं। जम्बूद्वीपमें ६ कुलाचल, धातकी खडमें १२ और पुष्करार्द्धमें १२ कुलाचल हैं। सब मिल कर ३० कुलाचल हैं, इन पर ३० ही अ० चै० हैं। देवकुरुमें ५ और उत्तर कुरुमें ५ इस प्रकार १० उत्तमभोग भूमियोंमें १० अ० चै० है।

अस्सीवक्षार व २० गजदतोंके	=	१००
चार रुचिकगिरिके	=	४
चार कुण्डलगिरिके	=	४
१७० विजयार्ध-एकसौ सत्तर कर्मभूमिके	=	१७०
चार मानुषोत्तर पर्वतके	=	४
तीस कुलाचल पर्वतोंके	=	३०
चार इष्वाकार पर्वतोंके	=	४
देवकुरु-उत्तरकुरुके	=	१०
		३२६
नन्दीश्वर सबधी	=	५२
पचमेरु सबंधी	=	८०
		४५८ कुल अ० चैत्यालय

नन्दीश्वरद्वीपके चैत्यालय—

नन्दीश्वरसद्द्वीपे नन्दीश्वरजलधिपरिवृत्ते धृतशोभे।
चन्द्रकरनिकरसंनिभरुन्द्रयशोविततदिङ्महीमंडलके ॥ ११ ॥
तत्रात्यांजनदधिमुखरतिकरपुरुनगवराख्यपर्वतमुख्याः।
प्रतिदिशमेपामुपरि त्रयोदशेन्द्रार्चितानि जिनभवनानि ॥ १२ ॥

अन्वयार्थः—(चन्द्रकरनिकरसंनिभरुन्द्रयशोविततदिङ्महीमंडलके) चद्रमा

की किरणोंके समूहके समान फैले हुये यशके द्वारा जिसने समस्त दिशाओं का समूह और समस्त पृथ्वीमंडल व्याप्त कर दिया है अर्थात् जिसकी कीर्ति समस्त पृथ्वीपर फैल रही है तथा (नन्दीश्वरजलधिपरिवृते) नन्दीश्वर नामके महासागर से चारों ओर घिरा हुआ है और (धृतशोभे) जो बड़ी अच्छी शोभा को धारण कर रहा है ऐसे (नन्दीश्वरसद्द्वीपे) सर्वोत्तम नन्दीश्वर द्वीपकी (प्रतिदिश) प्रत्येक दिशामें (तत्रत्याजनदधिमुखरतिकरपुरुनगवराख्यपर्वतमुख्याः एषा उपरि इन्द्रर्चितानि जिनभवनानि त्रयोदश) वहा होनेवाले एक एक अजनगिरि है, उस अजनगिरिके चारों ओर चारो दिशाओंमें चार चार दधिमुख हैं, वे दधिमुख वावडियोंमें हैं उन बावडियोंके किनारें-कोनों पर रतिकर पर्वत हैं। प्रत्येक अजनगिरि पर और प्रत्येक दधिमुख पर्वत पर एक एक अकृत्रिम चैत्यालय है तथा बावडियोंके भीतरी दोनों कोनों पर जो दो दो रतिकर पर्वत हैं उन पर प्रत्येक पर एक एक अकृत्रिम चैत्यालय है। इस प्रकार नन्दीश्वर द्वीपकी एक दिशामें एक अजनगिरि, चारदधिमुख और आठ रतिकरोंके ऊपर चैत्यालय हैं। ये सब तेरह होते हैं। इसीप्रकारकी रचना नन्दीश्वर द्वीपकी चारों दिशाओंमें है। इसलिये चारों दिशाओं में मिलकर सब बावन चैत्यालय होते हैं। इन चैत्यालयोंमें इन्द्र आकर पूजा करते हैं।

आषाढकार्तिकाख्ये फाल्गुनमासे च शुक्लपक्षेऽष्टम्याः।
आरभ्याष्टदिनेषु च सौधर्मप्रमुखविबुधपतयो भक्त्या ॥ १३ ॥
तेषु महामहमुचित प्रचुराक्षतगंधपुष्पधूपैर्दिव्यैः।
सर्वज्ञप्रतिमानामप्रतिमानां प्रकुर्वते सर्वहितम् ॥ १४ ॥

अन्वयार्थः— (आषाढकार्तिकाख्ये च फाल्गुनमासे) आषाढ, कार्तिक और फाल्गुन मासमें (शुक्लपक्षेऽष्टम्या) शुक्लपक्षकी अष्टमीसे (आरभ्य) प्रारभ करके (अष्टदिनेषु च) आठ दिन तक (सौधर्मप्रमुखविबुधपतयः भक्त्या) सौधर्म इन्द्रको आदि लेकर समस्त इन्द्र बडी भक्तिसे 'वहा पर जाते हैं। (अप्रतिमाना) जिनकी समता—बराबरी ससारभरमें कही नहीं है ऐसी (तेषु सर्वज्ञप्रतिमाना) वहा पर विराजमान भगवान् सर्वज्ञदेवकी प्रतिमोंकी (दिव्यैः प्रचुराक्षतगधपुष्पधूपैः) बहुतसे दिव्य अक्षतोंसे, दिव्यगधसे, दिव्यपुष्पोंसे और दिव्य धूपसे (सर्वहित) समस्त प्राणियोंका हित करनेवाली (उचित) अपने योग्य

अर्थात् इन्द्रोंके द्वारा ही करने योग्य ऐसी (महामह) महामह नामकी पूजा (प्रकुर्वते) करते हैं ।

भेदेन[1] वर्णना का सौधर्मः स्नपनकर्तृतामापन्नः ।
परिचारकभावमिताः शेषेन्द्रारुन्द्रचन्द्रनिर्मलयशसः ॥ १५ ॥
मंगलपात्राणि पुनस्तद्देव्यो बिभ्रतिस्म शुभगुणाढ्याः ।
अप्सरसो नर्तक्यः शेषसुरास्तत्र लोकनाव्यग्रधियः ॥ १६ ॥

अन्वयार्थः—(का भेदेन वर्णना) उन नन्दीश्वर द्वीपके चैत्यालयोंका विशेष वर्णन—माहात्म्य क्या कहे, जहा (सौधर्मः स्नपनकर्तृता आपन्नः) सौधर्म इन्द्र स्वयं उन प्रतिमाओंके अभिषेक करने का काम करता है, (रुन्द्रचन्द्रनिर्मल-यशसः शेषेन्द्राः परिचारकभाव इताः) पूर्णमासीके चन्द्रमाके समान जिनका निर्मल यश फैला हुआ है ऐसे बाकी के इन्द्र सब उस सौधर्म इन्द्रके परिचारक-सहायक बन जाते हैं अर्थात् उस महाभिषेकमें सहायता देते हैं-अन्य सब काम करते हैं ।

(पुनः शुभगुणाढ्याः तद्देव्यः) तथा निर्मल गुणोंको धारण करनेवाली उन सौधर्म आदि इन्द्रोंकी महादेविया (मगलपात्राणि[2] बिभ्रतिस्म) आठ महा-मंगल द्रव्य धारण करती है, (अप्सरसः नर्तक्यः) अप्सरायें नृत्य करनेवाली होती हैं (तत्र शेषसुराः लोकनाव्यग्रधियः) और वहा बाकीके सब देव तथा देविया उस अभिषेकको देखने में व्यग्रचित्त रहते हैं ।

वाचस्पतिवाचामपि गोचरतांसंव्यतीत्य यत्क्रममाणम् ।
विबुधपतिविहितविभवं मानुषमात्रस्य कस्य शक्तिः स्तोतुम् ॥१७॥

अन्वयार्थः—(विबुधपतिविहितविभव) सौधर्मादिक इन्द्रोंके द्वारा किया गया वह पूजावैभव (यत्क्रममाण) जो उन्हींके द्वारा प्रवर्तमान है उसका वर्णन

१-भेदेन–विशेषेण ।
२-मंगलपात्राण्यष्टौ—श्लोकः—

छत्रं ध्वज कलशचामरसुप्रतीका,
भृंगारतालमतिनिर्मलदर्पणं च ।
शसंति मंगलमिदं निपुणास्वभावाः,
द्रव्यस्वरूपमिह तीर्थकृतोऽष्टधैव ॥

(वाचस्पतिवाचा अपि गोचरता संव्यतीय) बृहस्पतिके वचनोंकी शक्तिके भी बाहर है—उस पूजनकी शोभा और भक्ति का वर्णन बृहस्पति भी नहीं कर सकता फिर भला (मानुषमात्रस्य कस्य स्तोतु शक्तिः) उन चैत्यालयोंकी स्तुति करने में हम मनुष्योंकी शक्ति क्या काम दे सकती है अर्थात् उनकी स्तुति करना मनुष्यमात्रकी शक्तिके बाहर है ।

निष्ठापितजिनपूजाश्चूर्णस्नपनेन दृष्टविकृतविशेषाः ।
सुरपतयो नन्दीश्वरजिनभवनानि प्रदक्षिणीकृत्य पुनः ॥ १८ ॥
पचसु मदरगिरिषु श्रीभद्रशालनंदनसौमनसम् ।
पांडुकवनमिति तेपु प्रत्येकं जिनगृहाणि चत्वार्येव ॥ १९ ॥
तान्यथ परीत्य तानि च नमसित्वा कृतसुपूजनास्तत्रापि ।
स्वास्पदमीयुः सर्वे स्वास्पदमूल्यं स्वचेष्टया संगृह्य ॥ २० ॥

अन्वयार्थः— (चूर्णस्नपनेन) सुगंधित चूर्णसे जिन्होंने महाभिषेक पूर्वक (निष्ठापितजिनपूजाः) जिन पूजा पूर्ण करली है, इसीलिये जिनको महा आनद आरहा है उस आनंदसे (दृष्टविकृतविशेषाः) जिनकी आकृति कुछ विकृत हो रही है ऐसे (सुरपतः) इन्द्र (पुनः) फिर (नन्दीश्वरजिनभवनानि) नदीश्वरद्वीप के उन चैत्यालयों की (प्रदक्षिणीकृत्य) प्रदक्षिणा देते हैं ।

फिर वे इन्द्र (पचसुमदरगिरिषु) पाचों मेरुपर्वत सबंधी (श्रीभद्रशालनदनसौमनस पाडुकवन इति तेपु चत्वारि एव प्रत्येक जिनगृहाणि) भद्रशाल, नदन, सौमनस और पाडुकवन इसप्रकार चार वनोंमें प्रत्येकमें चार चार जिनमंदिरों की (अथ तानि परीत्य) पहले प्रदक्षिणा देकर (च तानि नमसित्वा) और उनकी स्तुति करके (कृतसुपूजनाः) बहुत उत्तम रीतिसे पूजा करते हैं । (तत्रापि) वहा (स्वचेष्टया) जो अभिषेक पूजनादिक किया है उसके बदले (स्वास्पद-मूल्य सगृह्य) अपने देवपदके योग्य महापुण्य सचय करके (सर्वे) सब इन्द्रादि (स्वास्पद ईयुः) अपने अपने स्थानको चले जाते हैं ।

एक एक मेरु पर्वत पर चार चार वन हैं । भद्रशाल, नंदन, सौमनस और पाडुक । मेरु पर्वतोंके सबसे नीचे चारों ओर भद्रशाल वन हैं-इनके ऊपर मेरु पर्वतके चारों ओर नदनवन हैं, उसके ऊपर तीसरी कटनी पर चारों ओर सौमनस वन हैं और उनके ऊपर चारों ओर पांडुक वन हैं । इस प्रकार पाचों

मेरु संबधी बीस वन है। इन वनों की चारों दिशाओं में एक एक अकृत्रिम चैत्यालय। इस प्रकार पाचों मेर पर्वतों पर अस्सी चैत्यालय है।

चैत्यालयोंकी विभूति—

सहतोरणसद्वेदीपरीतवनयागवृक्षमानस्तभ-
ध्वजपंक्तिदशकगोपुरचतुष्टयत्रितयशालमडपवर्यैः ॥ २१ ॥
अभिषेकप्रेक्षणिका क्रीडनसंगीतनाटकालोकगृहैः।
शिल्पिविकल्पितकल्पनसंपल्पातीतकल्पनैः समुपेतैः ॥ २२ ॥
वापीसत्पुष्करिणीसुदीर्घिकाद्यंबुसंसृतैः समुपेतैः।
विकसितजलरुहकुसुमैर्नभस्यमानैः शशिग्रहर्क्षैः शरदि ॥ २३ ॥
भृंगाराब्दककलशाद्युपकरणैष्टशतकपरिसंख्यानैः।
प्रत्येकं चित्रगुणैः कृतझणझणनिनदवितत घटाजालैः ॥ २४ ॥
प्रविभाजंते नित्य हिरण्मयानीश्वरेशिनां भवनानि।
गंधकुटीगतमृगपतिविष्टररुचिराणि विविधविभवयुतानि ॥ २५ ॥

अन्वयार्थ.—वे अकृत्रिम जिन चैत्यालय (सहतोरणसद्वेदीपरीतवनयागवृक्षमानस्तभध्वजपंक्तिदशकगोपुरचतुष्टयत्रितयशालमडपवर्यैः) अकृत्रिम तोरणों से, चारों ओर होनेवाली वेदीसे, चारों ओर रहनेवाले वनोंसे, यागवृक्षोंसे, मानस्तभोंसे दश दश प्रकारकी ध्वजाओंकी पंक्तिओंसे, चार चार गोपुरोसे, तीन तीन कोटोंसे, तीन तीन शालाओंसे, उत्तम उत्तम मडपोंसे सुशोभित हैं। (अभिषेकप्रेक्षणिकाः) अभिपेक जिन मडपोंमें बैठकर देखते हैं ऐसे मंडप हैं (क्रीडनसगीतनाटकालोकगृहैः) क्रीडाभूमि, सगीतभूमि, नाटकशालाओं से सुशोभित हैं (शिल्पिविकल्पितकल्पनसंपल्पातीतकल्पनैः समुपेतैः) यह रचना उनको बनानेवाले कारीगरों द्वारा कल्पना की हुई रचनाके भेदोके विचार से सर्वथा रहित है अर्थात् किसी चतुर कारीगरने भी उनके बनानेकी कल्पना नहीं की है—वे सब तोरण आदि अकृत्रिम हैं ऐसी अकृत्रिम शोभाओंसे वे सब अकृत्रिम चैत्यालय शोभायमान हैं (वापीसत्पुष्करिणीसुदीर्घिकाद्यबुससृतैः समुपेतैः) गोल वापिकाओंसे, चौकोर वापिकाओंसे, बहुत गहरी वापिकाओसे सुशोभित हैं, वापिकाए सुन्दर निर्मल जलसे भरी हुई हैं, (विकसितजलरुहकुसुमैः) खिले हुये कमलोंके पुष्पोंसे शोभित है, (शरदि शशिग्रहर्क्षैः नभस्यमानैः) जैसे शरद

ऋतुमें चद्रमा, ग्रह, नक्षत्रोंसे आकाशकी जो शोभा होती है उससे कहीं अधिक शोभा वापिकाओ की है (प्रत्येक भृगाराब्दककलशाद्युपकरणैरष्टशतकपरिसख्यानैः) प्रत्येक चैत्यालय एकसौ आठ भृगार, दर्पण, कलश आदि मंगल द्रव्योंसे सुशोभित है, (चित्रगुणैः) अनेक प्रकारके गुणोंसे शोभायमान हैं, (कृतझणझणनिनदविततघटाजालैः) झणझण शब्द करते हुये बहुत बड़े-बड़े घटाओं के समूह पक्ति बद्ध होकर उन चैत्यालयों में लटक रहे हैं (गंधकुटीगतमृगपतिविष्टररुचिराणि विविधविभवयुतानि हिरण्मयानि ईश्वरेशिना भवनानि नित्य प्रविभाजते) मनोहर गधकुटी, सुन्दर सिंहासन से सुशोभित, अनेक प्रकार की विभूतियोंसे युक्त, सुवर्णमयी ऐसे जिनेन्द्रभगवानके चैत्यालय सदैव दैदीप्यमान और शोभायमान हो रहे हैं ।

प्रतिमाओंका वर्णन—

येषु जिनानां प्रतिमाः पञ्चशतशरासनोच्छ्रिताः ।
मणिकनकरजतविकृता दिनकरकोटिप्रभाधिकप्रभदेहाः ॥ २६ ॥
तानि सदा वंदेऽहं भानुप्रतिमानि यानि कानि च तानि ।
यशसां महसां प्रतिदिशमतिशयशोभाविभांजि पापविभंजि ॥२७॥

अन्वयार्थः— (येषु) जिन चैत्यालयों में (जिनाना प्रतिमाः) जिनेन्द्र भगवानकी प्रतिमाए (पचशतशरासनोच्छ्रिताः) पाचसौ धनुष ऊची (सत्प्रतिमाः) अत्यन्त मनोहर और सुन्दर आकारवाली हैं । (मणिकनकरजतविकृताः) मणि, सुवर्ण व चादी की बनी हुई हैं, (दिनकरकोटिप्रभाधिकप्रभदेहाः) करोडों सूर्योंकी कातिसे भी अधिक जिनके शरीरकी काति दैदीप्यमान है, (भानुप्रतिमानि) वे सब अकृत्रिम चैत्यालय सूर्यके विमानके समान दैदीप्यमान, (यानिकानि च तानि[1]) जो कुछ हैं जैसे हैं बस वेही हैं—अद्वितीय हैं, (यशसा[2] महसां[3]) यश व तेजके स्थान हैं, (प्रतिदिश[4] अतिशयशोभाविभाजि) प्रत्येक दिशामें होनेवाली अपूर्व शोभासे सुशोभित हैं, (पापविभजि) और समस्त पापोंको

१-अनिर्दिष्टस्वरूपाणि ।
२-कीर्तीना ।
३-तेजसा ।
४-दिशं प्रति- प्रतिदिशं, सर्वासु दिक्षु ।

नाश करनेवाले हैं ऐसे (तानि) उन अकृत्रिम चैत्यालयोंको (अहं) मैं (सदा) सदैव (वंदे) नमस्कार करता हूं।

तीर्थंकरोंकी स्तुति—

सप्तत्यधिकशतप्रियधर्मक्षेत्रगततीर्थंकरवरवृषभान् ।
भूतभविष्यतसंप्रतिकालभवान् भवविहानये विनतोऽस्मि ॥२८॥

अन्वयार्थः—(सप्तत्यधिकशतप्रियधर्मक्षेत्रगततीर्थंकरवरवृषभान्) जिनको धर्म अत्यन्त प्रिय है ऐसे एकसौ सत्तर क्षेत्रोंमें जो श्रेष्ठसे श्रेष्ठ तीर्थंकर होते हैं— (भूतभविष्यतसंप्रतिकालभवान्) उन तीर्थंकर भूत, भविष्यत् और वर्तमानकाल में होनेवालोंको (भवविहानये) जन्म-मरणरूप संसारको नाश करनेके लिये (विनतोऽस्मि) नमस्कार करता हूं।

वृषभदेवका वर्णन—

अस्यामवसर्पिण्यां वृषभजिनः प्रथमतीर्थकर्ता भर्ता ।
अष्टापदगिरिमस्तकगतस्थितो मुक्तिमाप पापान्मुक्तः ॥ २९ ॥

अन्वयार्थ—(अस्या अवसर्पिण्या) इस अवसर्पिणीकालमें (वृषभजिनः प्रथमतीर्थकर्ता भर्ता[1]) चौवीस तीर्थंकरोंमें से वृषभदेवस्वामी प्रथम तीर्थंकर हुये और असि मसि आदि छहों कर्मोंका उपदेश देकर सबके स्वामी थे। पोषक थे। वे (पापान्मुक्तः) समस्त पापोंको नष्टकर (अष्टापद[2]गिरिमस्तकगत[3]स्थितः[4]) कैलाशपर्वतके शिखरपर से, कायोत्सर्ग आसनसे (मुक्तिं आप[5]) मोक्ष पधारे।

भगवान् वासुपूज्यकी स्तुति—

श्रीवासुपूज्यभगवान् शिवासु[6] पूजासु[7] पूजितस्त्रिदशानाम् ।
चंपायां दुरितहरः[8] परमपदं[9] प्रापदापदामन्तगतः ॥ ३० ॥

अन्वयार्थः—(दुरितहरः) समस्त कर्मोंको नाश करनेवाले (आपदा अतगतः) आपत्तियोंसे रहित (शिवासु पूजासु) सर्वोत्तम पंचकल्याणकों में (त्रिदशाना पूजितः) इन्द्रादिकदेवों के द्वारा पूज्य ऐसे (श्रीवासुपूज्यभगवान्) श्री वासुपूज्य स्वामी १२ वें तीर्थंकर (चपाया) चम्पापुरसे (परमपदं प्रापत्) मोक्षको प्राप्त हुये।

१-लोकाना पोषकः—भर्ता। २-अष्टापद -कैलाशः। ३-गत —प्राप्त।
४-स्थितः—ऊर्ध्वकायोत्सर्गोपितः। ५-प्राप्तवान्। ६-शिवासु—शोभनासु।
७-पूजासु—पञ्चकल्याणरूपासु। ८-दुरितहरः-अष्टकर्मध्वंसी। ९-परमपदं—मोक्षं।

नेमिनाथस्वामीकी स्तुति—

मुदितमतिबलमुरारिप्रपूजितो जितकषायरिपुरथ जातः ।
बृहदूर्जयन्तशिखरे शिखामणिस्त्रिभुवनस्य नेमिर्भगवान् ॥ ३१ ॥

अन्वयार्थ — (मुदितमतिबलमुरारिप्रपूजित.) कृष्ण और बलदेव दोनों भाइयोंने अत्यन्त प्रसन्न होकर जिनकी पूजाकी है, (अथ जितकषायरिपु·) तथा जिन्होंने समस्त कषायरूपी शत्रुओंको जीत लिया है, (त्रिभुवनस्य शिखामणिः) जो तीनों लोकोके चूडामणि हैं ऐसे (भगवान् नेमिः) श्री भगवान् नेमिनाथ- (बृहदूर्जयन्तशिखरे) बड़े गिरनार पर्वतसे (जातः) परम सिद्धपदको प्राप्त हुये ।

श्रीमहावीर स्तुति—

पावापुरवरसरसां मध्यगतः सिद्धिवृद्धितपसां महसाम् ।
वीरो नीरदनादो भूरिगुणश्चारुशोभमास्पदमगमत् ॥ ३२ ॥

अन्वयार्थः— (सिद्धिवृद्धितपसा) जो अपने इच्छित कार्यों को उत्पन्न करने, उत्तर क्षमादि गुणोंका उत्कर्ष करने और अनशन आदि महातपश्चरण करनेमें सर्वोत्तम हैं, (नीरदनादः) जिनकी दिव्यध्वनिका शब्द मेघकी गर्जना के समान है, (भूरिगुणः) जिनके गुण अनत हैं, (महसा मध्यगतः) जो महातपस्वी हैं ऐसे (वीरः) श्री वीर भगवान् (पावापुरसरसा) पावापुर नगर के समीपवर्ती उत्तम सरोवरसे (चारुशोभं आस्पद अगमत्) अनत सुखके स्थानमोक्षस्थानमें जा विराजमान हुए।

बाकी वीस तीर्थंकरोंका वर्णन—

सम्मदकरिवनपरिवृतसम्मेदगिरीन्द्रमस्तकेविस्तीर्णे ।
शेषा ये तीर्थंकराः कीर्तिभृतः प्रार्थितार्थसिद्धिमवापन् ॥ ३३ ॥

अन्वयार्थः — (सम्मदकरिवनपरिवृतसम्मेदगिरीन्द्रमस्तके विस्तीर्णे) जिसमें मदोन्मत्त हाथी चारों ओर फिर रहे हैं ऐसे वनोंसे घिरे हुए सम्मेदशिखर पर्वतके विशाल मस्तकपरसे (कीर्तिभृतः) अनत कीर्तिको धारण करनेवाले (शेषाः ये तीर्थंकराः) बाकीके जो वीस तीर्थंकर (प्रार्थितार्थसिद्धिं अवापन्) सबके द्वारा प्रार्थनीय सिद्धि—मोक्षको प्राप्त हुये ।

शेषाणां केवलिनां अशेषमतवेदिगणभृतां साधूनां ।
गिरितलविवरदरीसरिदुरुवनतरुविटपिजलधिदहनशिखासु ॥ ३४ ॥

मोक्षगतिहेतुभूतस्थानानि सुरेन्द्ररुन्द्रभक्तिनुतानि ।
मगलभूतान्येतान्यंगीकृतधर्मकर्मणामस्माकम् ॥ ३५ ॥

अन्वयार्थः— (शेषाणां केवलिना) इन तीर्थंकरोंके सिवाय अन्यसामान्य-केवली (अशेषमतवेदिगणभृता) समस्त मतोको जाननेवाले गणधरदेव (साधूना) तथा सामान्य साधु जहा जहासे मोक्ष पधारे हैं ऐसे (गिरितलविवरदरीसरिदुरु-वनतरुविटपिजलधिदहनशिखासु) पर्वत, पर्वतके शिखर, पर्वतोंके दरें (घाटी) गुफायें, नदी, बड़े बडे वन, वृक्ष, वृक्षोंके स्कध, समुद्र और अग्निकी शिखाए आदि स्थान हैं जिनको (सुरेन्द्ररुन्द्रभक्तिनुतानि) इन्द्रादिकदेव बड़ी भक्तिसे नमस्कार करते है, (मोक्षगतिहेतुभूत स्थानानि) मोक्षके कारणभूत और (मग-लभूतानि) सबका कल्याण करनेवाले हैं ऐसे (एतानि) ये स्थान (अगीकृत-धर्मकर्मणा अस्माक)धार्मिक कार्योंको स्वीकार करनेवाले हमलोगोंको भी मंगल करनेवाले हों।

जिनपतयस्तत्प्रतिमास्तदालयास्तन्निषद्यका स्थानानि ।
ते ताश्च ते च तानि च भवन्तु भवघातहेतवो भव्यानाम् ॥ ३६ ॥

अन्वयार्थः— (जिनपतयः) चौवीस तीर्थंकर (तत्प्रतिमाः) उनकी प्रतिमा (तदालयाः) उनके जिनालय (तन्निषद्यकास्थानानि) उनके निर्वाण क्षेत्र (ते च ताः च ते च तानि) वे जिनेन्द्र, वे जिनप्रतिमाए, वे जिनालय और वे निर्वाणभूमिया (भव्याना) भव्यजीवोको (भवघातहेतवः) संसार नाशका कारण (भवन्तु) होओ ।

तीनो समय नदीश्वरभक्ति करनेका फल—

संध्यासु तिसृषुनित्यं पठेद्यदि स्तोत्रमेतदुत्तमयशसाम् ।
सर्वज्ञानां सार्वं लघु लभते श्रुतधरेडितं पदममितम् ॥ ३७ ॥

अन्वयार्थः— ('य.') जो (उत्तमयशसा) जिनका यश संसारमें उत्तम है ऐसे (सर्वज्ञाना) भगवान् सर्वज्ञदेवका (एतत स्तोत्रं) यह स्तोत्र (यदि) यदि (नित्यं) सदैव (तिसृषुसंध्यासु) तीनों संध्यासमय—प्रातःकाल, मध्याह्न-काल, सायंकाल (पठेत्) पढ़ता है—वह (लघु) शीघ्र ही (सार्वं) समस्त जीवोंका कल्याण करनेवाले (श्रुतधरेडितं) गणधर देवोंके द्वारा पूज्य ऐसे (अमित पद लभते) अनन्त काल तक रहनेवाले मोक्षपदको प्राप्त करता है ।

अरहन्तोंके शरीर सम्बन्धी दश अतिशय—

नित्यं निःस्वेदत्वं निर्मलता क्षीरगौररुधिरत्वं च ।
स्वाद्याकृतिसंहनने सौरूप्यं सौरभं च सौलक्ष्यम् ॥ ३८ ॥
अप्रमितवीर्यता च प्रियहितवादित्वमन्यदमितगुणस्य ।
प्रथिता दशविख्याता स्वतिशयधर्माः स्वयंभुवो देहस्य ॥ ३९ ॥

अन्वयार्थः—(नित्य निःस्वेदत्व) कभी शरीरमें पसीना न आना (निर्मलता) मलमूत्र नहीं होना (च क्षीरगौररुधिरत्व) दूधके समान सफेद रुधिरका होना (स्वाद्याकृतिसहनने) समचतुरस्र सस्थान, वज्रवृषभनाराचसहनन होना (सौरूप्य) अत्यन्त सुन्दर शरीर होना (च सौरभ) सुगधमय शरीर होना (सौलक्ष्य) शरीरपर उत्तम लक्षणोंका होना (१००८ लक्षण) (अप्रमितवीर्यता) अनन्तवीर्य होना (च प्रियहितवादित्वं) हितकारी एव मधुर वचनोंका निकलना ('इति' प्रथिता स्वतिशयधर्माः) ये प्रसिद्ध—विख्यात स्वाभाविक अतिशय (अन्यत् अमितगुणस्य) अन्य अनन्त गुणोंको धारण करनेवाले (स्वयभुवः देहस्य) तीर्थंकरदेवके शरीरमें (दशविख्याताः) दश प्रकारके कहे गये हैं।

केवलज्ञानके दश अतिशय—

गव्यूतिशतचतुष्टयसुभिक्षतागगनगमनमप्राणिवधः ।
भुक्त्युपसर्गाभावश्चतुरास्यत्वं च सर्वविद्येश्वरता ॥ ४० ॥
अच्छायत्वमपक्ष्यस्पंदश्च समप्रसिद्धनखकेशत्व ।
स्वतिशयगुणा भगवतो घातिक्षयजा भवन्ति तेऽपि दशैव ॥४१॥

अन्वयार्थः—(गव्यूति[1]शतचतुष्टयसुभिक्षतागगनगमनमप्राणि[2]वधः) चारसौ कोशतक सुभिक्षता होना—दुष्काल का न पड़ना, आकाशमें गमन करना, किसी जीवको बाधा न पहुचना (भुक्त्युपसर्गाभावः[3]) कवलाहार ग्रहण न करना, किसी प्रकारका उपसर्ग न होना (चतुरास्यत्व[4]) चारों दिशाओंमें चार मुखका दिखाई देना (च सर्वविद्येश्वरता) समस्त विद्याओंका ईश्वरपना प्रगट

१-गव्यूतिः—क्रोशमेकं ।
२-अप्राणिवधः—जीवघाताभावः ।
३-भुक्त्युपसर्गाभावः-भुक्तिः,— भोजनं, कवलाहारः । उपसर्गः उपद्रवः तयोरभावः ।
४-चतुरास्यत्वं—चतुर्मुखत्वं ।

होना (अच्छायत्व[1]) शरीरकी छायाका न पड़ना (अपक्ष्मस्पदः[2]) नेत्रों का टिमकारा न लगना (च समप्रसिद्धनखकेशत्व) और नखकेशोंका न बढ़ना ये (स्वतिशयगुणाः) स्वाभाविकगुण (भगवतः) भगवान् तीर्थंकर परमदेव के (घातिक्षयजाः) घातिया कर्मोंके नाश होनेपर (तेऽपि दशएव भवन्ति) दश ही होते हैं। अर्थात् केवलज्ञानके ये अतिशय भी दश ही होते हैं।

देवकृत चौदह अतिशय—

सार्वार्धमागधीया भाषा मैत्री च सर्वजनताविषया।
सर्वर्तुफलस्तवकप्रवालकुसुमोपशोभिततरुपरिणामा ॥ ४२ ॥
आदर्शतलप्रतिमा रत्नमयी जायते मही च मनोज्ञा।
विहरणमन्वेत्यनिलः परमानंदश्च भवति सर्वजनस्य ॥ ४३ ॥

अन्वयार्थ.— (सार्वा अर्धमागधीया भाषा) समस्त जीवोंका कल्याण करनेवाली भगवानकी दिव्यध्वनिका अर्धमागधी भाषा रूप होना (च सर्वजनताविषया मैत्री) समवशरणमें आनेवाले समस्त प्राणियोंका अपना जन्मसे होनेवाला वैर विरोध छोड़कर मैत्री भावसे रहना (सर्वर्तुफलस्तवकप्रवालकुसुमोपशोभिततरुपरिणामाः) वहां की पृथ्वीके वृक्षोंका छहों ऋतुओंमें होनेवाले फल, गुच्छे, पत्ते और फूलों से सुशोभित होना (च मही रत्नमयी मनोज्ञा आदर्शतलप्रतिमा जायते) वहां की पृथ्वीका रत्नमयी, सुन्दर, दर्पण-समान अत्यंत निर्मल होना (अनिलयः विहरण अन्वेति) भगवान् जिस दिशाकी ओर विहार करते हैं-वायुका भी उसी दिशाकी ओर बहना (च सर्वजनस्य परमानन्दः भवति) वहांपर आनेवाले समस्त जीवोंको महा आनन्द का होना।

मरुतोऽपि सुरभिगंधव्यामिश्रा योजनान्तरं भूभागं।
व्युपशमितधूलिकंटकतृणकीटकशर्करोपलं प्रकुर्वंति ॥ ४४ ॥
तदनु स्तनितकुमारा विद्युन्मालाविलासहासविभूषाः।
प्रकिरंति सुरभिगंधिं गंधोदकवृष्टिमाज्ञया त्रिदशपतेः ॥ ४५ ॥

अन्वयार्थः— (सुरभिगंधव्यामिश्रा मरुतः अपि योजनान्तरं भूभागं व्युपशमितधूलिकंटकतृणकीटकशर्करोपल प्रकुर्वंति) जहां भगवान् विहार करते हैं

१-अच्छायत्वं—प्रतिबिंबरहितता।
२-अपक्ष्मस्पंदः—चक्षुः पक्ष्मणां चलनाभावः।

वहा पर सुगंधसे मिली हुई वायु एक योजनतककी भूमिको धूल, काटे, तृण, कीडे और बालू रेती, पत्थर–आदिको हटाकर स्वच्छ कर देती है (तदनु विद्युन्मालाविलासहासविभूषाः स्तनितकुमाराः त्रिदशपतेः आज्ञया सुरभिगधिं गधोदकवृष्टिं प्रकिरंति) उसके अनन्तर विजलीकी चमचमार और बादलोकी गर्जना ही जिनके आभूषण हैं ऐसे स्तनितकुमार जातिके देव इन्द्रकी आज्ञासे सुगधसे मिली हुई गधोदकवृष्टि करते हैं ।

वरपद्मरागकेसरमतुलसुखस्पर्शहेममयदलनिचयम् ।
पादन्यासे पद्म सप्त पुरः पृष्ठतश्च सप्त भवन्ति ॥ ४६ ॥

अन्वयार्थः— (वरपद्मरागकेसर अतुलसुखस्पर्शहेममयदलनिचय पद्म पादन्यासे सप्त पुरः च सप्त पृष्ठतः भवन्ति) उत्तम पद्मरागमणियोंका जिसमें केशर है, जिनका स्पर्श अत्यन्त सुखकर है, सुवर्णमय जिनके पत्ते हैं ऐसे कमल भगवान्के पादन्यासके–चरण रखनेके समय–चलते समय सात कमल आगे सात कमल पीछे होते है ।

भावार्थ—भगवान तीर्थंकर परमदेव जब विहार करते हैं तब देव उन चरण कमलके नीचे कमलोंकी रचना करते हैं । एक कमल चरण कमलके नीचे रहता है, सात आगे होते हैं और सात पीछे होते हैं । इस प्रकार सब पन्द्रह कमल होते हैं । अथवा 'च' शब्दसे अन्य समस्त कमलोकी सख्या ले लेनी चाहिये । सब कमल दोसौ पच्चीस होते हैं । एक कमल भगवानके चरण कमलके नीचे रहता है । सात सात कमल आठो दिशाओंमें तथा उन आठों दिशाओके मध्य के आठों भागोंमें रहते है । इस प्रकार एकसौ तेरह कमल होते हैं तथा उन सोलह पक्तियोंके मध्यभागमें सात सात कमलोंकी पक्ति और होती है । इस प्रकार एकसौ बारह कमल ये होते हैं । सब मिलाकर दोसौ पच्चीस कमल होते है । अथवा यों समझ लेना चाहिये कि एक कमल भगवानके चरण कमल के नीचे रहता है । सात कमल आगे होते है, सात कमल पीछे होते हैं । ये सब पन्द्रह कमल होते हैं । इनमेंसे एक एक कमलके दाईं ओर सात सात कमल होते हैं और बाईं ओर भी सात सात कमल होते हैं । इस प्रकार पन्द्रह मध्यके कमल तथा एकसौ पाच दाईं ओरके कमल और एकसौ पाच बाई ओर के कमल होते हैं । सब मिलाकर दोसौ पच्चीस हो जाते है ।

फलभारनम्रशालिव्रीह्यादिसमस्तसस्यधृतरोमांचा ।
परिहृपितेव च भूमिस्त्रिभुवननाथस्य वैभवं पश्यती ॥ ४७ ॥

अन्वयार्थः—(त्रिभुवननाथस्य वैभव पश्यन्ती परिहृषिता एव च भूमिः फलभारनम्रशालिव्रीह्यादिसमस्तसस्यधृतरोमाचा) तीनलोकके नाथ भगवान् के वैभवको देखकर मानो हर्षित ही हो रही है इस प्रकार पृथिवी फलोंके भारसे नम्रित और शालि आदि समस्त धान्यके निमित्तसे रोमाचित हुई के समान दिखती है ।

शरदुदयविमलसलिलं सर इव गगन विराजते विगतमलं ।
जहति च दिशस्तिमिरिकां विगतरजःप्रभृतिजिह्मताभावं सद्यः ॥४८॥

अन्वयार्थः—(शरदुदयविमलसलिल सर इव विगतमलं गगन विराजते दिशः तिमिरिका च जहति, सद्यः विगतरजःप्रभृतिजिह्मताभाव) उस समय शरद ऋतुमेंके आनेसे जिसका जल अत्यन्त निर्मल हो गया है ऐसे सरोवरके समान निर्मल आकाश (बादल आदि सब दोषोंसे रहित) शोभित होता है, समस्त दिशाएं अधकारको छोड़ देती हैं, धूल रहित हो जाती हैं, और भी सब तरहकी मलिनता से रहित होकर शीघ्र ही निर्मल हो जाती हैं ।

एतेतेति त्वरितं ज्योतिर्व्यंतरदिवौकसाममृतभुजः ।
कुलिशभृदाज्ञापनया कुर्वन्त्यन्ये समन्ततो व्याह्वानम् ॥ ४९ ॥

अन्वयार्थः— (ज्योतिर्व्यन्तरदिवौकसा अन्ये अमृतभुजः कुलिशभृदाज्ञापनया समन्ततः एत एत इति त्वरित व्याह्वान कुर्वंति) ज्योतिपीदेव, व्यन्तरदेव, कल्पवासीदेव और भवनवासीदेव इन्द्रकी आज्ञा से चारों ओर परस्पर 'आओ, आओ' इस प्रकार शीघ्रता से बुलाते हैं ।

स्फुरदरसहस्ररुचिरं विमलमहारत्नकिरणनिकरपरीतम् ।
प्रहसितकिरणसहस्रद्युतिमण्डलमग्रगामि धर्मसुचक्रम् ॥ ५० ॥

अन्वयार्थः—(स्फुरत् अरसहस्ररुचिरं विमलमहारत्नकिरणनिकरपरीत प्रहसितकिरणसहस्रद्युतिमंडलं धर्मसुचक्र अग्रगामि) जो दैदीप्यमान एक हजार आरों से शोभित है, चारो ओर अत्यंत निर्मल महारत्नोंकी किरणों के समूहसे शोभायमान है, जो अपनी कातिसे सूर्यकी कातिको भी हंसती है—तिरस्कृत करता है ऐसा धर्मचक्र भगवान्के विहार करते समय सबसे आगे आगे चलता है ।

इत्यष्टमंगलं च स्वादर्शप्रभृति भक्तिरागपरीतैः ।
उपकल्पप्यन्ते त्रिदशैरेतेऽपिनिरुपमातिशेषाः ॥ ५१ ॥

अन्वयार्थः—इति स्वादर्शप्रभृति अष्टमगलं च भक्तिरागपरीतैः त्रिदशैः निरुपमातिशेषाः एतेऽपि उपकल्प्यन्ते) इसीप्रकार अर्थात् धर्मचक्रके समान दर्पण आदि आठ मंगलद्रव्य भी भगवानके आगे रहते हैं। भक्तिके राग से सुशोभित देव इन उपमा रहित १४ अतिशयोंको धारण करते है।

जन्मके १०, केवलज्ञानके १० और देवकृत १४ अतिशय इसप्रकार सब ३४ अतिशयोंका वर्णन किया।

आठ प्रातिहार्योंका वर्णन—

—अशोकवृक्ष—

वैडूर्यरुचिरविटपप्रवालमृदुपल्लवोपशोभितशाखः ।
श्रीमानशोकवृक्षो वरमरकतपत्रगहनबहलच्छायः ॥ ५२ ॥

अन्वयार्थः—(वैडूर्यरुचिरविटपप्रवालमृदुपल्लवोपशोभितशाखः) जिसका विस्तार वैडूर्यमणिकी कान्तिके समान अत्यन्त सुन्दर है, जिसकी शाखाऐं नवीन अकुरोंसे और कोमल पत्तोंसे सुशोभित हैं (वरमरकतपत्रगहनबहलच्छायः) उत्तम मरकतमणिके समान जिसके हरे पत्ते हैं, पत्तोंके अधिक होनेसे जिसकी छाया बहुत बडी और घनी है ऐसा अनेक प्रकारकी शोभासे सुशोभित (श्रीमानशोकवृक्षः) श्री जिनेन्द्र भगवानके पास होनेवाला शोभनीक 'अशोकवृक्ष' होता है।

पुष्पवृष्टि—

मंदारकुंदकुवलयनीलोत्पलकमलमालतीबकुलाद्यैः ।
समदभ्रमरपरीतैर्व्यामिश्रा पतति कुसुमवृष्टिर्नभसः ॥ ५३ ॥

अन्वयार्थः—(समदभ्रमरपरीतैः) जिसके चारों ओर मदोन्मत्त भ्रमर फिर रहे हैं ऐसे (मंदारकुन्दकुवलयनीलोत्पलकमलमालतीबकुलाद्यैः) मदार, कुन्द, रात्रिविकासी कमल, नील कमल, श्वेत कमल, मालती, बकुल आदि (व्यामिश्रा) मिले हुये पुष्पों द्वारा (नभसः) आकाश से (कुसुमवृष्टिः पतति) सदा पुष्पवृष्टि होती रहती है।

चामर

कटकटिसूत्रकुण्डलकेयूरप्रभृतिभूषितांगौ स्वंगौ ।
यक्षौ कमलदलाक्षौ परिनिक्षिपतः सलीलचामरयुग्मम् ।।५४।।

अन्वयार्थः— (कटकटिसूत्रकुण्डलकेयूरप्रभृतिभूषितागौ) कड़े, करधनी-कदोरा, कुण्डल, बाजूबंद आदि आभूषणोसे जिनके शरीर सुशोभित हो रहे हैं, (स्वंगौ) स्वाभाविक रीतिसे जिनके अग सुन्दर है (कमलदलाक्षौ) और कमल के दलके समान जिनके सुन्दर नेत्र हैं ऐसे (यक्षौ) दो यक्ष (सलीलचामर-युगल) आनन्द पूर्वक—लीलापूर्वक दो चमरों को (परिनिक्षिपतः) ढोरते रहने हैं ।

भामंडल—

आकस्मिकमिव युगपद्दिवसकरसहस्रमपगतव्यवधानम् ।
भामंडलमविभावितरात्रिंदिवभेदमतितरामाभाति ।। ५५ ।।

अन्वयार्थः— (आकस्मिक इव युगपद्दिवसकरसहस्र अपगतव्यवधानं अविभावितरात्रिंदिवभेद भामडल अतितरा आभाति) अकस्मात—सहसा मानों एक साथ हजारों सूर्य व्यवधान रहित उदय हुये हों, रात्रिदिनका भेद भी जिससे नष्ट हो जाता है ऐसा भामंडल अत्यन्त दैदीप्यमान होता रहता है ।

दुदूभिवाद्य—

प्रवलपवनाभिघातप्रक्षुभितसमुद्रघोसमद्रध्वानम् ।
दंध्वन्यते सुवीणावशादिसुवाद्यदुदुभिस्तालसमम् ।। ५६ ।।

अन्वयार्थ— (प्रवलपवनाभिघातप्रक्षुभितसमुद्रघोषमन्द्रध्वानम्) प्रवल वायुके घातसे शोभित हुये समुद्रके गभीर शब्दके समान जिनके मनोहर शब्द हो रहे हैं ऐसे (सुवीणावशादिसुवाद्यदुदुभिः तालसमं दध्वन्यते) वीणा, वंशी-बसरी आदि सुन्दर बाजोंके साथ दुंदुभि बाजे तालके साथ वडी मनोहर ध्वनि से बजते रहते हैं ।

तीन छत्र—

त्रिभुवनपतितालांछनमिंदुत्रयतुल्यमतुलमुक्ताजालम् ।
छत्रत्रयं च सुबृहद्वैडूर्यविक्लृप्तदंडमधिकमनोज्ञम् ।। ५७ ।।

अन्वयार्थ— (त्रिभुवनपतितालाञ्छनं) जो तीनों लोकोंके स्वामीपने के

चिह्न हैं, (इन्दुत्रयतुल्यं) जो ऊपर नीचे रक्खे हुये तीन चन्द्रमाओंके समान हैं (अतुलमुक्ताजाल) जिनमें उपमा रहित अनेक मोतियोंकी झालरें लगी हुई हैं (अधिकमनोज्ञ) जो बहुत ही मनोज्ञ हैं–मनोहर है (सुबृहद्वैडूर्यविक्लृप्त-दंड) और जिनके दंड बड़ी-बड़ी वैडूर्य मणियोंके बने हुये हैं ऐसे (छत्रत्रय च) तीन छत्र भी भगवानके ऊपर सदा सुशोभित होते रहते हैं।

दिव्यध्वनि——

ध्वनिरपि योजनमेकं प्रजायते श्रोत्रहृदयहारिगभीरः।
ससलिलजलधरपटलध्वनितमिव प्रवितान्तराशावलयम् ॥ ५८ ॥

अन्वयार्थः—(ससलिलजलधरपटलध्वनित इव) पानीसे भरे हुये बादलों की गर्जनाके समान (प्रवितान्तराशावलयं) समस्त दिशाओंके समूहमें व्याप्त श्रोत्रहृदयहारिगभीरः)और कानोंको तथा मनको अत्यन्त सुख देनेवाली (ध्वनि· अपि एक योजनं प्रजायते)ऐसी भगवान्‌की दिव्यध्वनि एक योजन तक पहुचती है।

सिंहासन——

स्फुरितांशुरत्नदीधितिपरिविच्छुरितामरेन्द्रचापच्छायम्।
ध्रियते मृगेन्द्रवर्यैः स्फटिकशिलाघटितसिंहविष्टरमतुलम् ॥५६॥

अन्वयार्थः—(स्फुरितांशुरत्नदीधितिपरिविच्छुरितामरेन्द्रचापच्छाय) जिन की किरणे चारो ओर फैल रही हैं ऐसे रत्नोंकी किरणोंसे जिसने इन्द्र धनुष भी अनेक रगका बना दिया है ऐसा (अतुल) अनुपम (स्फटिकशिलाघटितसिंह विष्टर) स्फटिक पाषाणका बनाया हुआ अत्यन्त उत्कृष्ट सिंहासन (मृगेन्द्र-वर्यैः) सिंहोंके द्वारा (ध्रियते) धारण किया जाता है।

यस्येह चतुस्त्रिंशत्प्रवरगुणा प्रातिहार्यलक्ष्म्यश्चाष्टौ।
तस्मै नमो भगवते त्रिभुवनपरमेश्वरार्हते गुणमहते ॥ ६० ॥

अन्वयार्थः—— (यस्य इह) जिनके इसप्रकार (चतुस्त्रिंशत्प्रवरगुणाः) उत्तम गुणोंको धारण करनेवाले चौंतीस अतिशय हैं (च अष्टौ प्रातिहार्यल-क्ष्म्यः) और आठ प्रातिहार्य की विभूतिया हैं, जो (गुणमहते) गुणोंसे पूज्य हैं (त्रिभुवनपरमेश्वरार्हते) तीनों लोकोंके परमेश्वर हैं, केवलज्ञानसे सुशोभित हैं ऐसे (तस्मै भगवते नमः) उन भगवान अरहंत प्रभुके लिये नमस्कार हो।

इसके आगे कायोत्सर्ग करना चाहिये ।

आलोचना--

इच्छामि भंते ! णंदीसरभत्तिकाउस्सग्गो कहो तस्सा लोचेउं । णंदीसरदीवम्मि, चउदिसविदिसासु अंजणदधिमुहरदिकरपुरुणगवरेसु जाणि जिणचेइयाणि ताणि सव्वाणि तीसुवि लोएसु भवणवासियवाणविंतरजोइसिकप्पवासियत्ति चउविहा देवा सपरिवारा दिव्वेहि गंधेहि, दिव्वेहि पुप्फेहि; दिव्वेहि धुव्वेहि, दिव्वेहि चुण्णेहि, दिव्वेहि वासेहि, दिव्वेहि ण्हाणेहि आषाढकत्तियफागुणमासाण अट्ठमिमाइ काऊण जाव पुण्णिमंति णिच्चकालं अंचंति, पूजंति, वदंति, णमसंति । णंदीसरमहाकल्लाणं करंति अहमवि इह संतो तत्थसंताइ णिच्चकालं अंचेमि, पूजेमि, वंदामि, णमसामि, दुक्खक्खओ, कम्मक्खओ, वोहिलाहो, सुगइगमणं, जिणगुणसंपत्तिहोऊ मज्झं ।

अर्थ--हे भगवन् ! मै नदीश्वरभक्ति कर कायोत्सर्ग करता हू । इसमें जो दोष हुए हों उनकी आलोचना करना चाहता हू नन्दीश्वरद्वीपमें चारों दिशाओं में तथा विदिशाओंमें अजनगिरि, दधिमुख, रतिकर पर्वत हैं । चारों दिशाओं में श्यामवर्णके चार अजनगिरि पर्वत हैं । एक एक अजनगिरि पर्वतके चारो ओर एक एक विशाल बावड़ी है, उसके मध्यभागमें एक एक दिधिमुख पर्वत है । इस प्रकार एक अजनगिरि सम्बन्धी चारों बावड़ियोंमें चार दधिमुख हैं । उन चारो बावड़ियो के चारों कोनो पर रतिकर हैं परतु अकृत्रिम चैत्यालय अजनगिरिकी ओर भीतरी कोनों पर हैं । इसलिये आठ रतिकरों पर ही चैत्यालय है तथा अजनगिरि पर तथा चारों दधिमुखों पर चैत्यालय हैं । इस प्रकार एक दिशामें तेरह चैत्यालय हैं । चारों दिशाओंमें बावन चैत्यालय हैं । तीनो लोकोंमें रहनेवाले भवनवासी, व्यतर, ज्योतिषी और कल्पवासी चारो प्रकार के देव सपरिवार आते हैं और आषाढ, कार्तिक, फाल्गुन महीनेकी शुक्ला अष्टमी से लेकर पौर्णमासीपर्यंत दिव्यगध, दिव्यपुष्प, दिव्यधूप, दिव्यचूर्ण, दिव्यवस्त्र और दिव्य अभिषेक से सदा अर्चा करते हैं, पूजा करते हैं, वदना करते हैं, और नमस्कार करते है । इसप्रकार नन्दीश्वर पर्वका महाउत्सव करते हैं । मै यहा रहकर ही उसीरीतिसे सदा अर्चा करता हू, पूजा करता हू, वंदना करता

हू और नमस्कार करता हूं। मेरे दुःखोंका नाश हो, कर्मोंका नाश हो, मुझे रत्नत्रयकी प्राप्ति हो, शुभगतिकी प्राप्ति हो, समाधिमरणकी प्राप्ति हो और भगवान जिनेन्द्रदेवके गुणोंकी प्राप्ति हो।

इति नन्दीश्वरभक्तिः।

अथ क्षेपकश्लोकानि।

गत्वा क्षितेर्वियति पञ्चसहस्रदण्डान्। सोपानविंशतिसहस्रविराजमाना॥ रेजे सभा धनदयक्षकृता यदीया तस्मै नमस्त्रिभुवनप्रभवे जिनाय॥ १॥ शालोऽथ वेदिरथवेदिरतोऽपि शालो, वेदी च शाल इह वेदिरतोऽपि शालः॥ वेदी च भाति सदसि क्रमतो यदीये तस्मै नमस्त्रिभुवनप्रभवे जिनाय॥ २॥ प्रासादचैत्यनिलयाः परिखात वल्लिः। प्रोद्यानकेतुसुरवृक्षगृहांगणाश्च॥ पीठत्रयं सदसि यस्य सदा विभाति। तस्मै नमस्त्रिभुवनप्रभवे जिनाय॥ ३॥ मालामृगेन्द्रकमलांबरवैनतेय-मातंगगोपतिरथांगमयूरहसाः॥ यस्य ध्वजा विजयिनो भुवने विभांति। तस्मै नमस्त्रिभुवनप्रभवे जिनाय॥ ४॥ निर्ग्रंथकल्पवनितात्रतिका भभौमनागस्त्रियो भवनभौमभकल्पदेवाः। कोष्ठस्थिता नृपशवोऽपि नमंति यस्य तस्मै नमस्त्रिभुवनप्रभवे जिनाय॥ ५॥ भाषाप्रभावलयविष्टरपुष्पवृष्टिः पिंडिद्रुमस्त्रिदशदुंदुभिचामराणि। छत्रत्रयेण सहितानि लसंति यस्य तस्मै नमस्त्रिभुवनप्रभवे जिनाय॥ ६॥ भृंगारतालकलशध्वजसुप्रतीक-श्वेतातपत्रवरदर्पणचामराणि॥ प्रत्येकमष्टशतकानि विभाति यस्य तस्मै नमस्त्रिभुवनप्रभवे जिनाय॥ ७॥ स्तंभप्रतोलिनिधिमार्गतडागवापी क्रीडाद्रिधूपघटतोरणनाट्यशालाः। स्तूपाश्च चैत्यतरवो विलसंति यस्य तस्मै नमस्त्रिभुवनप्रभवे जिनाय॥ ८॥ सेनापतिस्थपतिहर्म्यपतिद्विपाश्व स्त्रीचक्रचर्ममणिकाकिणिकापुरोधाः। छत्रासिदण्डपतयः प्रणमंति यस्य तस्मै नमस्त्रिभुवनप्रभवे जिनाय॥ ९॥ पद्मःकालो महाकालः सर्वरत्नश्च पांडुकः।

नैसर्पो माणवःशङ्खः पिंगला निधयो नव ॥ एतेषां पतयः प्रणमंति यस्य तस्मै नमस्त्रिभुवनप्रभवे जिनाय ॥ १० ॥ खवियघणघाइकम्मा चउतीसातिसयविसेसपञ्चकल्लाणा। अट्ठवरपाडिहेरा अरहता मङ्गला मज्झं ॥११॥

चैत्यभक्तिः ।

हरिणी छन्दः—

जयति[1] भगवान्[2] हेमाम्भोजप्रचारविजृम्भिता—
अमरमुकुटच्छायोद्गीर्णप्रभापरिचुम्बितौ[3] ।
कलुषहृदया[4] मानोद्भ्रान्ताः[5] परस्परवैरिणः,[6]
विगतकलुषाः[7] पादौ यस्य प्रपद्यविशश्वसुः[8] ॥ १ ॥

अन्वयार्थः— (हेमाम्भोजप्रचारविजृम्भितौ) स्वर्णके कमलोंपर दूसरे मनुष्योंके लिये असंभव ऐसे क्रमसे पैर रखनेके क्रमसे रहित जिनका गमन शोभायमान होता है और (अमरमुकुटच्छायोद्गीर्णप्रभापरिचुम्बितौ) देवोंके मुकुटोंमें लगे हुये मणियोंसे जो प्रभा निकलती है उसके संयोगसे जिनके चरण स्पर्श किये गये हैं ऐसे (यस्य) जिन जिनेन्द्र भगवान्के (पादौ) दोनों चरणकमलोंका (प्रपद्य) आश्रय लेकर (कलुषहृदयाः) क्रूर हृदयवाले (मानोद्भ्रान्ताः) अहंकारभावके कारण आत्मस्वभावसे च्युत हुए (परस्परवैरिणः) परस्परमें वैर रखनेवाले सर्प नौला आदिक जीव (विगतकलुषाः) वैरभावसे रहित होकर (विशश्वसुः) परस्पर विश्वासको प्राप्त होते हैं वे (भगवान्) श्री जिनेन्द्र भगवान् (जयति) जयवन्त होओ।

१—सर्वोत्कर्षेण वर्तते ।
२—इन्द्रादीनां पूज्यः केवलज्ञानसम्पन्नो वा ।
३—संश्लिष्टौ, आलिंगितौ ।
४—क्रूरमनसः
५—मानेनाहंकारेण स्तब्धत्वेन उत्क्रान्ताः, यथावदात्मस्वरूपात्प्रच्याविताः ।
६—अहिनकुलादयः ।
७—विनष्टक्रूरभावाः ।
८—विश्वासं गताः ।

विशेष—भगवान् अरहंतदेव जब विहार करते हैं तब आगे पीछे पैर रखते हुये नहीं चलते किंतु दोनों चरण कमल समान रखते हुये-एक साथ उठाते हुये विहार करते हैं। वे आकाश में विहार करते हैं। चरण कमलों के नीचे देव लोग सुवर्णमय कमलोंकी रचना करते जाते हैं। उस समय भगवान्‌के चरण कमलों की शोभा बड़ी ही अच्छी जान पड़ती है।

तदनु जयति श्रेयान्धर्मः प्रवृद्धमहोदयः।
कुगतिविपथक्लेशाद्योसौ विपाशयति प्रजाः।
परिणतनयस्यांगीभावाद्विविक्तविकल्पितम्,
भवतु भवतस्त्रातृ त्रेधा जिनेन्द्रवचोऽमृतम् ॥ २ ॥

अन्वयार्थः— (तदनु) श्री अरहत परमेष्ठीको नमस्कार करने के बाद (श्रेयान्) अत्यत प्रशसनीय—स्वर्गादिक पदकी प्राप्ति रूप (प्रवृद्धमहोदयः) जिसका उदय अत्यन्त वृद्धिको प्राप्त हो गया है (कुगतिविपथक्लेशाद्यः[1]) नरकादि दुर्गति, मिथ्यादर्शन आदि खोटे मार्ग और दुःखोंसे (प्रजाः[2]) जो समस्त प्रजाको (विपाशयति[3]) छुड़ाता है (असौ धर्मः[4]) ऐसा जिनधर्म (जयति) चिरकाल तक जयशील होओ। (परिणतनयस्य[5] अगीभावात्) द्रव्यार्थिकनयको गौणकरके-पर्यायार्थिकनयको मुख्य करके (विविक्तविकल्पितं*) गणधरादिके द्वारा रचे गये (त्रेधा) तीन प्रकारके—उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यरूप अथवा अंग, पूर्व, अंगबाह्यस्वरूप (जिनेन्द्रवचः अमृतं) जिनेन्द्र भगवान्‌के वचनरूपी अमृत (भवतः) आप लोगोंको (त्रातृ[6] भवतु) संसारसे पार करने वाले-ससारके दुःखोंसे बचानेवाले होओ।

तदनु जयताज्जैनी वित्तिः प्रभंगतरंगिणी।
प्रभवविगमध्रौव्यद्रव्यस्वभावविभाविनी ॥

१—कुत्सिता गतिः कुगतिः। विरूपकः पथाः—विपथो मिथ्यादर्शनादिः। क्लेशो दुःखं।
२—लोकान्। ३—पाशाद्विमोचयति।
४—नरकादिषु गतिषु पततः प्राणिनो धरतीति धर्म उत्तमक्षमादिलक्षणश्चारित्रस्वरूपो वा।
५—विविधपर्यायरूपतया परिणमते यत्तत्परिणतं द्रव्यमुच्यते तत्र नयः परिणतनयो द्रव्यार्थिकनयः तस्य अङ्गीभावात् अप्रधानभावात् पर्यायार्थिकनयप्राधान्यादित्यर्थः।
गणधरादिभिः रचित। * ६—त्रातृ—रक्षक।

निरुपमसुखस्येदं द्वारं विघट्य निरर्गलम् ।
विगतरजसं मोक्षं देयान्निरत्ययमव्ययम् ॥ ३ ॥

अन्वयार्थ—(तदनु) तत्पश्चात् (प्रभंगतरंगिणी) जिसमें 'स्यादस्ति, स्यान्नास्ति' इत्यादि भंगरूपी तरंगें उठती हैं-(प्रभवविगमध्रौव्यद्रव्यस्वभावविभाविनी) जो उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यस्वरूप द्रव्यके स्वभावको प्रकाशित करने वाला है ऐसा (जैनी विित्तः) यह जिनेन्द्रदेव सम्बन्धी केवलज्ञान (जयतात्) जयवन्त होओ-मति ज्ञानादिककी अपेक्षा उत्कर्षरूप से रहो। (इद) इस प्रकार अरहंतदेव, वीतरागधर्म, स्याद्वादरूप वाणी और केवलज्ञान स्तुति किये गये थे चारों (निरुपमसुखस्य द्वार) निरुपमसुखके द्वाररूप (मोक्ष) मोक्षको (निरर्गलं) अर्गल रहित- खुले हुये कपाटयुगलके समान मोहनीयकर्मको व अंतरायकर्मको (विघट्य) नाश करके (निरत्यय, अव्यय, विगतरजसं) व्याधि रहित, अविनाशी, ज्ञानावरणी दर्शनावरणीकर्म रहित (देयात्) मोक्षपदको देवे।

आर्या—

अर्हत्सिद्धाचार्योपाध्यायेभ्यस्तथा च साधुभ्यः ।
सर्वजगद्वंद्येभ्यो नमोस्तु सर्वत्र सर्वेभ्यः ॥ ४ ॥

अन्वयार्थः—(सर्वजगद्वंद्येभ्यः) तीनों लोकोंके समस्त प्राणियों द्वारा वंदनीय (सर्वत्र सर्वेभ्यः अर्हत्सिद्धाचार्योपाध्यायेभ्यः तथा च साधुभ्यः) सब स्थानोंके समस्त अरहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्यायोंको और समस्त साधुवोंको (नमोऽस्तु) नमस्कार हो।

अरहंतदेवको पुनः नमन—

मोहादिसर्वदोषारिघातकेभ्यः सदाहतरजोभ्यः ।
विरहितरहस्कृतेभ्यः पूजार्हेभ्यो नमोऽर्हद्भ्यः ॥ ५ ॥

अन्वयार्थः—(मोहादिसर्वदोषारिघातकेभ्यः) मोहादि सर्व दोषोंका घात करनेवाले (सदाहतरजोभ्यः) सर्वदाके लिये जिन्होंने ज्ञानावरण तथा दर्शनावरण कर्मका नाश कर दिया है (विरहितरहस्कृतेभ्यः) अंतरायकर्मका भी जिन्होंने नाश कर दिया है (पूजार्हेभ्यः) इन्द्रादिक देवोंसे पूजनीक ऐसे (अर्हद्भ्यः नमः) अरहंतोंको नमस्कार हो।

धर्मको नमस्कार—

क्षान्त्यार्जवादिगुणगणसुसाधनंसकललोकहितहेतुम् ।
शुभधामनि धातारं वंदे धर्मं जिनेन्द्रोक्तम् ॥ ६ ॥

अन्वयार्थः— (क्षान्त्यार्जवादिगुणगणसुसाधनं) उत्तम क्षमा, मार्दव, आर्जव आदि दश धर्मरूपी गुणोंके समूहका जो साधन है, (सकललोकहित-हेतु) समस्त प्राणियोंके जो हितका कारण है (शुभधामनि धातारं) जो, उत्तम स्थान जो मोक्ष उसमें रखनेवाला है ऐसे (जिनेन्द्रोक्तं) भगवान् जिनेन्द्रदेवके द्वारा कहे हुये (धर्मं वंदे) धर्मको नमस्कार करता हूं ।

जिनवाणीकी स्तुति—

मिथ्याज्ञानतमोवृतलोकैकज्योतिरमितगमयोगि ।
सांगोपांगमजेयं जैनं वचनं सदा वंदे ॥ ७ ॥

अन्वयार्थः— (मिथ्याज्ञानतमोवृतलोकैकज्योतिः) जो मिथ्याज्ञानरूपी अंधकारसे आच्छादितसे लोगोंको अद्वितीय ज्योतिरूप है (अमितगमयोगि) असंख्यातरूप समस्त पदार्थोंको विषय करनेवाला जो श्रुतज्ञान उसका जिस जिनवाणीके साथ कार्यकारणभावसम्बन्ध है (सांगोपांगं) जो आचारादि अंग और पूर्व वस्तु आदिक उपांगसे युक्त है (अजेयं) एकांतवादियोंके द्वारा जो जीता नहीं जा सकता ऐसे (जैनं वचनं) जिनेन्द्रदेवके वचनोंको (सदा वंदे) सर्वदा वंदना करता हूं ।

भगवान्की प्रतिमाको नमस्कार—

भवनविमानज्योतिर्व्यंतरनरलोकविश्वचैत्यानि ।
त्रिजगदभिवंदितानां त्रेधा वंदे जिनेन्द्राणाम् ॥ ८ ॥

अन्वयार्थः— (त्रिजगदभिवंदितानां) जिनको तीनों लोकोंके समस्त प्राणी नमस्कार करते हैं ऐसी (जिनेन्द्राणां) जिनेन्द्रदेव की (भवनविमान-ज्योतिर्व्यंतरलोकविश्वचैत्यानि) भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक देवोंके समस्तनिवासस्थानोंमें और मनुष्य लोकमें-मध्यलोकमें भी सब जगह विराजमान प्रतिमाऐं हैं उन सबको (त्रेधा) मन, वचन, कायसे वंदे नमस्कार करता हूं ।

चैत्यालकी स्तुति—

भुवनत्रयेऽपि भुवनत्रयाधिपाभ्यर्च्यतीर्थकर्तॄणाम् ।
वंदे भवाग्निशान्त्यै विभवानामालयालीस्ताः ॥ ९ ॥

अन्वयार्थः— (विभवाना[1]) जो जन्ममरणरूप संसार से सर्वथा रहित हैं (भुवनत्रयाधिपाभ्यर्चतीर्थकर्तॄणा) तीन लोकोके स्वामी जो देवेन्द्र, नरेन्द्र, धरणेन्द्र आदिके द्वारा सदापूज्य ऐसे तीर्थंकर परमदेवके (यालयालीः) भवन चैत्यालय (भुवनत्रये अपि) इन तीन लोकोमें जितने हैं (ताः) उन सबको मैं (भवाग्निशात्यै) अनेक प्रकारके दुःखरूप सतापका कारण ऐसी संसाररूपी अग्निको शात करनेके लिये (वंदे) नमस्कार करता हू ।

स्तुतिका उपसहार तथा फल याचना—

इति पञ्चमहापुरुषाः प्रणुता जिनधर्मवचनचैत्यानि ।
चैत्यालयाश्च विमलां दिशन्तु बोधिं बुधजनेष्टाम् ॥ १० ॥

अन्वयार्थः— (इति) इसप्रकार (पञ्चमहापुरुषाः[2]) पंच परमेष्ठियों की (जिनधर्मवचनचैत्यानि) जिनधर्म, जिनवचन जिनवाणी, जिनप्रतिमा (च चैत्यालयाः) और जिनालयोंकी (प्रणुता[3]) स्तुतिकी है। अतः ये सब (विमला[4]) अत्यन्त निर्मल (बुधजनेष्टा[5]) गणधरादिक विद्वानोंको भी इष्ट (बोधिं[6]) ऐसे रत्नत्रयको (दिशन्तु[7]) देवें ।

कृत्रिम अकृत्रिम जिन प्रतिमाओंकी स्तुति—

अकृतानि कृतानि चाप्रमेयद्युतिमति द्युतिमत्सु मंदिरेषु ।
मनुजामरपूजितानि वंदे प्रतिबिंबानि जगत्त्रये जिनानाम् ॥११॥

अन्वयार्थः— (जगत्त्रये) तीनों लोकोंमें (द्युतिमत्सु मदिरेषु) अत्यन्त दैदीप्यमान समस्त जिनालयोंमें (जिनाना) भगवान् जिनेन्द्रदेवकी (मनुजामरपूजितानि) मनुष्य और देवोंके द्वारा पूज्य ऐसे (अप्रमेयद्युतिमति कृतानि च अकृतानि प्रतिबिंबानि वदे) अपार—अत्यन्त दैदीप्यमान कृत्रिम और अकृत्रिम प्रतिमाओंको नमस्कार करता हू ।

१—विनष्टससाराणा ।
२—पंच परमेष्ठिन. ।
३—स्तुताः ।
४—निर्मला, क्षायिकीं ।
५—गणधरदेवादयस्तेषामभिप्रेताम् ।
६—सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रप्राप्ति । ७—प्रयच्छन्तु ।

द्युतिमण्डलभासुरांगयष्टीः प्रतिमा अप्रतिमा जिनोत्तमानाम् ।
भुवनेषु विभूतये प्रवृत्ता वपुषा प्रांजलिरस्मि वंदमानः ॥ १२ ॥

अन्वयार्थ —(द्युतिमण्डलभासुरांगयष्टीः) कांतिमण्डलसे जिनका शरीर देदीप्यमान हो रहा है ऐसी (भुवनेषु प्रवृत्ताः) तीनों लोकोंमें विराजमान (जिनोत्तमाना) देवाधिदेव जिनेन्द्र भगवान् की (वपुषा अप्रतिमाः प्रतिमाः) तेजसे या स्वस्वरूपसे उपमा रहित प्रतिमाओंको (विभूतये) अरहंत आदि परमेष्ठियोंकी विशेष विभूति प्राप्त करनेके लिये अथवा स्वर्ग, मोक्ष देनेवाले पुण्य की प्राप्तिके लिये (वंदमानः) नमस्कार करता हुआ (प्रांजलिः अस्मि) हाथ जोड़कर खड़ा होता हूं ।

विगतायुधविक्रियाविभूषाः प्रकृतिस्थाः कृतिनां जिनेश्वराणाम् ।
प्रतिमाः प्रतिमागृहेषु कान्त्याप्रतिमाः कल्मषशांतयेऽभिवन्दे ॥ १३ ॥

अन्वयार्थः—(कृतिना जिनेश्वराणा) कृतकृत्य जिनेन्द्र भगवान्की (विगतायुधविक्रियाविभूषाः) आयुध-शस्त्र, नानाप्रकारके विकार और अलंकारों से रहित (प्रकृतिस्थाः) अपने स्वरूपमें स्थित (कान्त्या अप्रतिमाः) तेज-कांति से अतुल्य अनुपम (प्रतिमागृहेषु प्रतिमाः) ऐसी जिनालयमें स्थित प्रतिमाओंको (कल्मषशान्तये अभिवन्दे) मैं अपने पापोंको नाश करनेके लिये सन्मुख होकर वंदना करता हूं ।

कथयन्ति कषायमुक्तिलक्ष्मीं[1] परया[2] शांततया भवांतकानाम् ।
प्रणमाम्यभिरूपमूर्तिमंति प्रतिरूपाणि[3] विशुद्धये[4] जिनानाम् ॥१४॥

अन्वयार्थः— (भवान्तकाना जिनाना) जन्ममरणरूप संसारको नाश करनेवाले भगवान् जिनेन्द्रदेवकी (अभिरूपमूर्तिमति) चारों ओरसे अत्यन्त सुन्दरताको धारण करनेवाली (प्रतिरूपाणि) जो प्रतिमाऐं (परया शांततया) अपनी अत्यन्त शांतताके द्वारा (कषायमुक्तिलक्ष्मीं कथयति) कषायोंके अभाव होनेसे प्राप्त होनेवाली अंतरंग बहिरंग लक्ष्मीकी प्राप्तिको सूचित करती हैं, उन

१–कषायाणा मुक्तिरभाव. तस्या लक्ष्मीं–सम्पत्ति ।
२–परमोपशांतमूर्त्या ।
३–प्रतिबिंबानि ।
४–कर्ममलप्रक्षालनाय ।

प्रतिमाओंको (विशुद्धये) अपने कर्मरूपी मलको दूरकर आत्माको अत्यत विशुद्ध बनानेके लिये (प्रणमामि) नमस्कार करता हू ।

स्तुतिके फलकी प्रार्थना—

यदिदं मम सिद्धभक्तिनीतं सुकृतं दुष्कृतवर्त्मरोधि तेन ।
पटुना जिनधर्म एव भक्तिर्भवताज्जन्मनि जन्मनि स्थिरा मे ॥१५॥

अन्वयार्थः—(सिद्धभक्तिनीतं) तीनों लोकोंमें प्रसिद्ध ऐसी भगवान् जिनेन्द्रदेवकी प्रतिमाओंकी भक्ति करनेसे (मम) मुझे (यत् इद) जो कुछ (सुकृत[1]) पुण्यकी प्राप्ति हुई है, जिससे (दुष्कृतवर्त्मरोधि) मन, वचन, कायके द्वारा होनेवाला समस्त पाप रुक जाता है ऐसे (पटुना[2] तेन) अत्यन्त सामर्थ्यको धारण करनेवाले उस पुण्यसे (मे जन्मनि[3] जन्मनि) मुझे जन्म जन्ममें—भव भवमें (स्थिरा[4]) सदा स्थिर रहनेवाली (जिनधर्मे एव भक्ति· भवतात्) जिनधर्मकी ही भक्ति प्राप्त हो ।

चारों प्रकारके देवोंके विमानोंमें व मनुष्यलोकमें होनेवाले चैत्यालयोंकी स्तुति—

—अनुष्टुप्—

अर्हतां सर्वभावानां[5] दर्शनज्ञानसंपदाम्* ।
कीर्तयिष्यामि[6] चैत्यानि[7] यथाबुद्धि[8] विशुद्धये[9] ॥१६॥

अन्वयार्थः—(सर्वभावाना) समस्त पदार्थोंको एक साथ जाननेवाले, (दर्शनज्ञानसंपदा) क्षायिकदर्शन, क्षायिकज्ञानरूपी संपत्तिको धारण करनेवाले अथवा क्षायिकदर्शन, क्षायिकज्ञानसे प्रगट होनेवाली समवशरणादि विभूति

१—पुण्यं ।
२—समर्थेन ।
३—भवे भवे ।
४—अविचला ।
५—सर्वे-निशेषा: भावा:-पदार्था· विषयो येषा ।
*दर्शनज्ञानयो: क्षायिकरूपयो. सपद् येषा, तयोर्वा सतो: सपत्समवशरणादिविभूतिर्येषाम् ।
६—स्तोष्ये ।
७—प्रतिबिंबानि ।
८—स्वमतिविभवानतिक्रमेण ।
९—कर्ममलप्रक्षालनाय ।

को धारण करनेवाले (अर्हतां) भगवान् जिनेन्द्रदेवकी (चैत्यानि) जितनी प्रतिमाऐं हैं उनकी मै (विशुद्धये) कर्मोंको नाश करनेके लिये (यथाबुद्धि) बुद्धिके अनुसार (कीर्तियिष्यामि) स्तुति करूगा या करता हू।

श्रीमद्भावनवासस्था स्वयभासुरमूर्तयः ।
वंदिता नो विधेयासुः[1] प्रतिमाः परमां[2] गतिम् ॥ १७ ॥

अन्वयार्थः—(स्वयंभासुरमूर्तयः) जिनकी मूर्ति अपने आप दैदीप्यमान हो रही हैं ऐसी (प्रतिमा.) भगवान् जिनेन्द्रदेवकी जो प्रतिमायें (श्रीमद्भावनवासस्थाः) वड़ी विभूतको धारण करनेवाले भवनवासियोंके भवनोंमें विराजमान हैं (वदिता) उनकी वदना करनेसे (नः) हमको (परमां गतिं) मोक्षरूप परमगतिको (विधेयासुः) देवें।

यावंति[3] संति लोकेऽस्मिन्नकृतानि[4] कृतानि च ।
तानि सर्वाणि चैत्यानि वंदे भूयांसि[5] भूतये[6] ॥ १८ ॥

अन्वयार्थः— (अस्मिन् लोके) इस मध्यलोकमें (यावंति भूयासि) जो वहुत सी (अकृतानि च कृतानि) अकृत्रिम और कृत्रिम (चैत्यानि) प्रतिमाऐं (सति) हैं (तानि सर्वाणि) उन सबको मै (भूतये) मोक्षकी परमविभूति प्राप्त करनेके लिये (वदे) नमस्कार करता हूं।

ये व्यन्तरविमानेषु स्थेयांसः[7] प्रतिमागृहाः ।
ते च संख्यामतिक्रांताः[8] सन्तु नो दोषविच्छिदे[9] ॥ १९ ॥

अन्वयार्थः—(व्यन्तरविमानेषु) व्यन्तरदेवोंके विमानोंमें (ये स्थेयासः) जो सदा स्थिर रहनेवाले (प्रतिमागृहाः) प्रतिमाओंके स्थान हैं—चैत्यालय हैं (ते च संख्या अतिक्राताः) उनकी संख्या असख्यात है, वे सब चैयालय (नः) हमारे (दोषविच्छिदे) रागद्वेषादि दोषोंको नाश करनेवाले (सतु) हों।

ज्योतिषामथ लोकस्य भूतयेऽद्भुतसंपदः[10] ।
गृहाः स्वयंभुवः[11] संति विमानेषु नमामि तान् ॥ २० ॥

१-क्रियासुः। २-मुक्तिं। ३-यत्परिमाणानि। ४-तिर्यग्लोके। ५-प्रचुरतराणि। ६-विभूत्यर्थं। ७-अतिशयेन स्थिरा., सर्वदावस्थायिनः। ८-असंख्याताः। ९-दोषशान्तये-रागाद्युपरमाय। १०-विभूतिनिमित्तं। ११-अर्हंत·।

अन्वयार्थ — (अथ) तत्पश्चात (ज्योतिषां लोकस्य) ज्योतिषी देवोंके (विमानेषु) विमानोंमें जो (स्वयंभुवः) जिनेन्द्रदेवके (अद्भुतसंपदः) अत्यंत आश्चर्य उत्पन्न करनेवाली संपत्तिको धारण करनेवाले (गृहाः सन्ति) चैत्यालय हैं (तान्) उनको मैं (भूतये) समवसरणादि विभूति प्राप्त करनेके लिये (नमामि) नमस्कार करता हूं।

वंदे सुरकि[1]रीटाग्रमणिच्छायाभिषेचनम्।
याः क्रमेणैव सेवन्ते तदर्चाः सिद्धिलब्धये ॥ २१ ॥

अन्वयार्थः—(सुरकिरीटाग्रमणिच्छायाभिषेचन) वैमानिक देवोंके मुकुटोंके अग्रभागमें लगी हुई मणियोंकी कांतिसे जिनके चरण कमलोंका अभिषेक किया जाता है, (तदर्चाः) उन्हीं वैमानिक देवोंमे पूजनीक (याः क्रमेण एव सेवन्ते) जो चरण कमलोंसे ही पूजे जाते हैं अर्थात् देव भगवानके चरण कमल की ही पूजा करते हैं, उन प्रतिमाओंको मैं (सिद्धिलब्धये) मोक्ष प्राप्तिके लिये (वंदे) नमस्कार करता हूं।

स्तुतिके फलकी प्रार्थना—

इति स्तुतिपथातीतश्रीभृतामर्हतां मम।
चैत्यानामस्तु संकीर्ति[2] सर्वास्रवनिरोधिनी ॥ २२ ॥

अन्वयार्थः—(इति) इसप्रकार (स्तुतिपथातीतश्रीभृता अर्हता) जिनकी स्तुति करनेके लिये अशक्य है, ऐसे अंतरंग और बहिरंग लक्ष्मीको धारण करनेवाले अरहंत परमेष्ठीकी (चैत्याना संकीर्तिः) प्रतिमाओंकी स्तुति (मम) मुझे (सर्वास्रवनिरोधिनी अस्तु) समस्त कर्मोके आस्रवको रोकनेवाली हो—मोक्ष प्राप्त करानेवाली हो।

महानदकी उपमा सहित अर्हंतदेवका स्वरूप—

स्कंदच्छंद.—

अर्हन्महानदस्य त्रिभुवनभव्यजनतीर्थयात्रिकदुरितम्।
प्रक्षालनैककारणमतिलौकिककुहकतीर्थमुत्तमतीर्थम् ॥ २३ ॥

अन्वयार्थः— (त्रिभुवनभव्यजनतीर्थयात्रिकदुरित) जो तीन लोकवर्ती

(१) किरीटाग्र इत्यपि पाठः।
(२) स्तुतिः।

भव्यजीवरूपी तीर्थकी यात्रा करनेवालोंके पापकर्मको (क्षालनैककारण) प्रक्षालन करनेमें एक अद्वितीय कारण है, (अतिलौकिक कुहक तीर्थं उत्तमतीर्थं) जो लौकिक व्यवहारी लोगोंके द्वारा माने हुए खोटे तीर्थको उल्लङ्घन करनेवाला है और जो असाधारण है ऐसा (अर्हन्महानदस्य) अरहत परमेष्ठीका महान् द्वादशांगरूपी तीर्थ अथवा जिनधर्मरूपी तीर्थ हम लोगोंके पापपंकको दूर करो।

भावार्थ —नदियोंका प्रवाह पूर्व दिशाकी ओर होता है परंतु जिनका प्रवाह पश्चिमकी ओर हो उनको 'नद' कहते हैं। आचार्यने भगवान् अरहंतदेवको भी एक नद बनाया है। क्योंकि संसाररूपी नदीका प्रवाह अनादि कालसे चल रहा है। भगवान् अरहंतदेवका प्रवाह उससे सर्वथा विपरीत है। जीवोंका प्रवाह संसारकी ओर जा रहा है और अरहंत भगवान्का प्रवाह मोक्षकी ओर जा रहा है। इसीलिये इनको आचार्यने 'नद' की उपमा दी है। यह अरहंतरूपी 'नद' बहुत विस्तृत है, इसलिये इसको 'महानद' कहते हैं। जिसप्रकार महानदमें तीर्थ होते हैं उसीप्रकार इसमें भी ग्यारह अंग, चौदह पूर्वरूपी उत्तमतीर्थ हैं। जिनके द्वारा यह जीव संसारसे पार हो जाय उनको 'तीर्थ' कहते हैं। इन द्वादशांगसे संसारके प्राणी तिर जाते हैं, इसलिये इस द्वादशांगको निरूपण करनेवाला भगवानका मत सबसे उत्तम तीर्थ है। नदोंके तीर्थसे शरीरका मल दूर होता है परंतु भगवान् अरहंतदेवरूपी महानदके तीर्थमें स्नान करनेसे पापरूपी समस्त मल नष्ट हो जाते हैं और भव्यजीवोंको मोक्षकी प्राप्ति हो जाती है। संसारमें अन्य जितने तीर्थ हैं, सब दंभ और ढोंगसे भरे हुए हैं परंतु भगवान् अरहंतरूपी महानदका तीर्थ उन सबको नीचा दिखाता है और अपनी उत्तमता प्रगट करता है। यह तीर्थ असाधारण है, सर्वश्रेष्ठ है। तीनों लोकोंमें यात्रा करनेवाले भव्यजीवोंके पापोंको नाश करनेमें यह अरहंत भगवान्रूपी महानदका तीर्थ एक अद्वितीय कारण है, इसीलिए यह एक अलौकिक और महाउत्तमतीर्थ है। ऐसा यह भगवान् अरहंतदेवरूपी महानदका तीर्थ मेरे सब पापोंको नाश करो।

कदाचित् कोई यह कहे कि तीर्थका प्रवाह बहता है, इस अरहंतदेवरूपी महानदका प्रवाह नहीं बहता होगा। उसके लिये आचार्य कहते हैं—

लोकालोकसुतत्त्वप्रत्यवबोधनसमर्थदिव्यज्ञान- ।
प्रत्यहवहत्प्रवाहं व्रतशीलामलविशालकूलद्वितयम् ॥ २४ ॥

अन्वयार्थः— (लोकालोकसुतत्त्वप्रत्यवबोधनसमर्थदिव्यज्ञानप्रत्यहवहत्प्रवाहं) लोक और अलोक का जो स्वरूप है—जीवादिक पदार्थोंका जो यथार्थ स्वरूप है उसको पूर्णरूपसे जाननेकी सामर्थ्य रखनेवाला जो केवलज्ञानरूप दिव्यज्ञान है उसका प्रवाह इस भगवान् अरहतदेवरूपी महानद से प्रतिदिन बहता रहता है और (व्रतशीलामलविशालकूलद्वितयम्) पाच महाव्रत और अठारह हजार भेदोंके लिये हुये शील ये दोनों ही उस महानदके निर्मल और विस्तीर्ण किनारे हैं।

यहापर कदाचित कोई यह कहे कि महानदके किनारे राजहस रहते हैं, वह गमीर शब्दसे गर्जता रहता है और बालूसे सुशोभित रहता है ये सब शोभाए इस अरहंतदेवरूपी महानदमें नहीं होंगी। इसके लिये आचार्य कहते हैं—

शुक्लध्यानस्तिमितस्थितराजद्राजहंसराजितमसकृत्— ।
स्वाध्यायमन्द्रघोष नानागुणसमितिगुप्तिसिकतासुभगम् ॥२५॥

अन्वयार्थः—इस अरहतदेवरूपी महानदके किनारे (शुक्लध्यानस्तिमितस्थितराजद्राजहसराजितं) शुक्लध्यान रूपी राजहस अत्यंत स्थिरताके साथ खड़े हुए बहुत ही अच्छे जान पड़ते है, उनसे यह महानद बहुत ही शोभायमान रहता है (असकृत्स्वाध्यायमन्द्रघोष) लाभ, पूजा, कीर्तिकी इच्छाके विना जो सर्वदा स्वाध्याय होता रहता है, उसकी गमीर ध्वनि उस महानदकी मनोहर ध्वनि होती रहती है (नानागुणसमितिगुप्तिसिकतासुभगम्) अनेक प्रकारके—चौरासीलाख सख्याको धारण करनेवाले उत्तर गुण, पाच समिति तीन गुप्ति ये ही सब उस महानदमें सुन्दर बालू है, उससे वह महानद अपूर्व ही शोभा को धारण करता है। ऐसा वह अरहतदेवरूपी महानद मेरे सब पापोंको दूर करो।

कदाचित कोई यह कहे कि अन्य महानदोंके तीर्थमें भ्रमर पड़ते हैं, चारों ओर पुष्पलताऐ होती है और उसमें सदा लहरें उठती रहती हैं। यह सब शोभा इस अरहतदेवरूपी महानद में नहीं है। इसलिये आचार्य कहते हैं—

क्षान्त्यावर्तसहस्रं सर्वदयाविकचकुसुमविलसल्लतिकम् ।
दुःसहपरीषहाख्यद्रुततररंगत्तरंगभंगुरनिकरम् ॥ २६ ॥

अन्वयार्थः— (क्षान्त्यावर्तसहस्र) भगवान् अरहतदेवरूपी महानदमें उत्तमक्षमाके हजारों भ्रमर सदा पडते रहते हैं (सर्वदयाविकचकुसुमविलसल्लतिक)

समस्त प्राणियोंकी दया ही खिले हुये फूलोंसे सुशोभित रहनेवाली लता वहांपर सदा शोभाको बढाती रहती है तथा (दु सहपरीषहाख्यद्रुततररगत्तरभंगुरनिकरं) जो बड़ी कठिनतासे सही जा सकें ऐसी क्षुधा, पिपासा आदि बाईस परिषह ही उसमें अतिशीघ्रताके साथ चारों ओर फैलती हुई और क्षणक्षणमें नाश होती हुई लहरें सदा उठती रहती हैं। ऐसा वह अरहतदेवरूपी महानद मेरे समस्त पापोंको दूर करें।

कदाचित् कोई यह कहे कि महानदमें फेन या झाक नहीं होते, शैवाल या काई नहीं होती, कीचड़ नहीं होती और मगर मच्छ नहीं होते। तभी उस तीर्थकी सेवाकी जाती है परतु इस महानदरूपी तीर्थमें ये होंगे। इसके उत्तरमें आचार्य कहते हैं—

व्यपगतकषायफेनं रागद्वेषादिदोषशैवलरहितम्।
अत्यस्तमोहकर्दममतिदूरनिरस्तमरणमकरप्रकरम् ॥ २७ ॥

अन्वयार्थः—फेन पानीको शुद्ध नहीं होने देता-मलिन कर देता है। जिस प्रकार तीर्थमें फेन नहीं होता उसीप्रकार अरहंतदेवरूपी महानदमें (व्यपगतकषायफेन) आत्माको कलुषित करनेवाला कषायरूपी फेन सर्वथा नहीं होता। जिसप्रकार तीर्थमें शैवाल–काई नहीं होती क्योंकि काई होनेसे मनुष्य पैर फिसल कर गिर पड़ता है। उसीप्रकार अरहतदेवरूपी महानदमें (रागद्वेषादिदोषशैवलरहित) रागद्वेष आदि दोषरूपी शैवाल नहीं होते। जिसप्रकार शैवाल गिरने का कारण है उसीप्रकार रागद्वेष आदि दोष भी व्रतियोंको अपने व्रतसे गिरा देते हैं, इसीलिये वे अरहंतदेवरूपी महानदमें कभी नहीं होते और इसीलिये उनका आत्मारूपी जल अत्यन्त निर्मल और शुद्ध रहता है। जिसप्रकार महानद में कीचड़ नहीं होती–यदि कीचड हो तो पानी गदला हो जाता है। यदि कीचड़ न हो तो पानी स्वच्छ निर्मल रहता है। और उसके भीतरके पदार्थ स्पष्ट दिखाई देते हैं उसीप्रकार भगवान् अरहतदेवरूपी नदमें (अत्यस्तमोहकर्दम) मोहरूपी कीचड़ सर्वथा नहीं होती। यह मोह ही आत्माको गदला बना देता है। मोह न होने से यह आत्मा अत्यन्त निर्मल और शुद्ध हो जाता है फिर उसमें समस्त पदार्थ स्पष्ट दिखाई देते हैं। जिसप्रकार तीर्थमें मगर मच्छ नहीं होते-यदि मगर मच्छ हों तो स्नान करनेवालोंका शरीर नष्ट हो जाय। उसीप्रकार भगवान्

अरहंतदेवरूपी महानदमें (अतिदूनिरस्तमरणमकरप्रकर) मरण रूपी मगर मच्छोंका समूह सर्वथा नहीं होता। यदि मरण हो तो शरीर भी नष्ट हो जाय परंतु भगवान् अरहंतदेवरूपी महानद मोक्षका साक्षात कारण है। इसीलिये उसमें मरणरूपी मगर मच्छोंका समूह बहुत दूर रहता है। इसप्रकार अत्यन्त निर्मल वह भगवान् अरहंतदेवरूपी महानद मेरे समस्त पापोंको दूर करो।

कदाचित् कोई यह कहे कि तीर्थके किनारे अनेक पक्षी शब्द करते रहते हैं, आते हुये पानीको बंद करनेके लिये और भरे हुये पानीका निकालनेके लिये मार्ग होते हैं। ये सब बातें इस नदमें नहीं होगी। इसके लिये आचार्य कहते हैं—

ऋषिवृषभस्तुतिमन्द्रोद्रेकितनिर्घोषविविधविहगध्वानम्।
विविधतपोनिधिपुलिनं सास्रवसंवरणनिर्जरानिःस्रवणम् ॥ २८ ॥

अन्वयार्थः—(ऋषिवृषभस्तुतिमन्द्रोद्रेकितनिर्घोषविविधविहगध्वान) ऋषियोमें श्रेष्ठ ऐसे गणधरादिक देव जो भगवानकी स्तुति करते हैं उनके जो अत्यन्त गंभीर और मनोज्ञ शब्द होते हैं उन शब्दोंके द्वारा होनेवाला जो शास्त्रोंका पाठ है वही पाठ उस अरहंतदेवरूपी महानदमें अनेक प्रकारके पक्षियोंके शब्द समझने चाहिये। जिसप्रकार तीर्थोंमें ऊंचे किनारे होते हैं—जहांपर बहनेवाले लोग तिरकर पहुंच जाते है उसीप्रकार उस अरहंतदेवरूपी महानदमें (विविधतपोनिधिपुलिन) अनेक प्रकारके तपश्चरणको करनेवाले महामुनिराज ही ऊंचे किनारे हैं। जो प्राणी इस संसाररूपी महानदीमें बहते जा रहे हैं उनको पकड़ कर पार लगानेवाले वे मुनिराज ही हैं, इसलिये वे ही मुनिराज उस महानदके ऊंचे किनारे हैं। जिसप्रकार तीर्थमें पानी अधिक होनेपर आता हुआ पानी रोक दिया जाता है और उसमें भरा हुआ पानी निकाल दिया जाता है। आते हुये पानीको रोकने और भरे हुए पानीको निकालनेका सुभीता रहता है उसीप्रकार इस अरहंतदेवरूपी महानदमें (सास्रवसंवरणनिर्जरानिःस्रवण) कर्मोंके आनेके मार्ग सब बंद हो जाते हैं तथा जो पहलेके कर्म होते हैं उनकी सदा निर्जरा होती रहती है। इसप्रकार वह महानद संवर और निर्जरा दोनोंसे सुशोभित रहता है। ऐसा वह अरहंतदेवरूपी महानद मेरे समस्त पापोंको दूर करो।

गणधरचक्रधरेन्द्रप्रभृतिमहाभव्यपुण्डरीकैः पुरुषैः।
बहुभिः स्नातं भक्त्या कलिकलुषमलापकर्षणार्थममेयम् ॥२९॥

अन्वयार्थः— यह श्री अरहंतदेवरूपी महानद (अमेयं) अत्यन्तविशाल है, (कलिकलुषमलापकर्षणार्थं) इस कालमें होनेवाले पापरूपी मलोंको दूर करनेके लिये (बहुभिः अनेक गणधरचक्रधरेन्द्रप्रभृतिमहाभव्यपुडरीकैः पुरुषैः भक्त्या स्नात) गणधर, चक्रवर्ती और इन्द्र आदि प्रधान प्रधान महाभव्य पुरुषोंको बड़ी भक्तिके साथ स्नान करने योग्य है अर्थात् ये सब महाभव्यपुरुष इस महानदमें सदा स्नान किया करते हैं और कर्मरूपी मलोंको दूर कर अपने आत्माको अत्यन्त निर्मल बनाया करते हैं।

अवतीर्णवतः स्नातुं ममापि दुस्तरसमस्तदुरितं दूरम् ।
व्यवहरतु परमपावनमनन्यजय्यस्वभावभावगंभीरम् ॥ ३० ॥

अन्वयार्थः—(परमपावन) श्री अरहतदेवरूपी महानद तीर्थ सबसे श्रेष्ठ है-परम पवित्र है, (अनन्यजय्यस्वभावभावगंभीर) परवादी जिनका कभी खडन नहीं कर सकते ऐसे जीवादिक पदार्थोंसे अत्यन्त गंभीर है [जीवादिक पदार्थोंका यथार्थ स्वरूप और उनके अनन्तगुणोंका वर्णन जैसा भगवान् अरहत देवके शासनमें है वैसा और किसी मतमें नहीं है] ऐसे इस अरहत-देवरूपी महानदमें (स्नातु) स्नान करनेके लिये—कर्मरूपी मलको धो डालने के लिये मै भी (अवतीर्णवतः) उतर पड़ा हू, इसलिये हे भगवन् ! (ममापि दुस्तरसमस्तदुरित दूर व्यवहरतु) मेरे अनन्त समस्त पापोंको -समस्त कर्मो को बहुत शीघ्र दूर कर दीजिये ।

जिनेन्द्रके रूपका वर्णन—

पृथ्वीछन्द —

अताम्रनयनोत्पल सकलकोपवन्हेर्जयात् ।
कटाक्षशरमोक्षहीनमविकारतोद्रेकतः ॥
विषादमदहानितः प्रहसितायमान सदा ।
मुखं कथयतीव ते हृदयशुद्धिमात्यंतिकीम् ॥ ३१ ॥

अन्वयार्थः— हे प्रभो ! (सकलकोपवन्हे जयात्) सपूर्ण क्रोधरूपी वह्निको—अग्निको जीत लेनेसे (अताम्रनयनोत्पल) आपके ये नेत्र कमल थोड़े लाल हैं (अविकारतोद्रेकतः) वीतरागताके परमप्रकर्षको प्राप्त हो जाने के कारण (कटाक्षशरमोक्षहीन) कटाक्षरूपी बाणोके छोड़नेसे रहित हैं (विषा-

दमदह्यानतः) विषाद और अहङ्कारके नष्ट हो जाने के कारण (सदा प्रह-सितायमानं) निरतर हंसते हुएकी तरह (ते मुखं) आपका ये मुख (आत्यंतिकीं) अत्यंत (हृदयशुद्धिं) हृदयकी शुद्धिको ही (कथयति इव) मानो कहता है।

निराभरणभासुरं विगतरागवेगोदयात् ।
निरम्बरमनोहरं प्रकृतिरूपनिर्दोषतः ॥
निरायुधसुनिर्भयं विगतहिंस्यहिंसक्रमात् ।
निरामिषसुतृप्तिमद्विविधवेदनाना क्षयात् ॥ ३२ ॥

अन्वयार्थ.—(विगतरागवेगोदयात्) जिनेन्द्र भगवान् का स्वरूप राग के वेगके उदयका अभाव हो जानेसे (निराभरणभासुर) आभरणके विना भी सुन्दर है, (प्रकृतिरूपनिर्दोषतः) निर्दोष प्रकृति स्वरूप होनेके कारण (निरंबरमनोहरं) विना वस्त्रके ही सुन्दर है, (विगतहिंस्यहिंसक्रमात) हिंस्य और हिंसक भावके नष्ट हो जानेसे (निरायुधसुनिर्भय) विना आयुधके ही निर्भय है विविधवेदनाना क्षयात्) जन्म, मरण आदि नानाप्रकारकी वेदनाओंके नष्ट हो जाने से (निरामिषसुतृप्तिमद्) भोजनादिसे रहित होकर भी अत्यन्त तृप्तिको प्राप्त हैं।

मितस्थितनखागजं गतरजोमलस्पर्शनम् ।
नवाम्बुरुहचंदनप्रतिमदिव्यगंधोदयम् ॥
रवीन्दुकुलिशादिदिव्यबहुलक्षणालंकृतम् ।
दिवाकरसहस्रभासुरमपीक्षणानां प्रियम् ॥ ३३ ॥

अन्वयार्थ —(मितस्थितनखागजं) जिनेन्द्र भगवान् के शरीरके नख और केश परिमित रहते हैं—वृद्धिको प्राप्त नहीं होते हैं, (गतरजोमलस्पर्शन) रजो-मलके स्पर्शसे रहित हैं (नवाम्बुरुहचदनप्रतिमदिव्यगधोदय) नवीन कमल और चन्दनके सदृश, दिव्य जिनके शरीरमें सुगध आती है (रवीन्दुकुलिशादि-दिव्यबहुलक्षणालकृत) सूर्य, चन्द्र, वज्र इत्यादि दिव्य एक हजार आठ लक्षणों से जो शोभायमान हैं (दिवाकरसहस्रभासुरं अपि ईक्षणाना प्रिय) और हजारों सूर्यके समाम देदीप्यमान होते हुये भी देखनेवालोंको जो अत्यन्त प्रिय हैं।

हितार्थपरिपंथिभिः प्रबलरागमोहादिभिः ।
कलंकितमना जनो यदभिवीक्ष्यशोशुध्यते ॥

सदाभिमुखमेव यज्जगति पश्यतां सर्वतः ।
शरद्विमलचन्द्रमण्डलमिवोत्थितं दृश्यते ॥ ३४ ॥

अन्वयार्थः — (हितार्थपरिपथिभि प्रबलरागमोहादिभिः) हितरूपी अर्थ जो मोक्ष उसको चुरानेवाले ऐसे जो प्रबल राग और मोहादिक उनसे (कलकितमना जनः) जिसका मन दूषित है ऐसा मनुष्य भी (यद् अभिवीक्ष्य) जिस सुन्दररूपको देखकर (शोशुध्यते) शुद्ध हो जाता है, उसीप्रकार (जगति) ससारमें (यत् सदाभिमुख एव पश्यता सर्वतः) जिनेन्द्र भगवानके विरागी मुखको देखनेवालोंको चारों ओर वह (शरद्विमलचन्द्रमडलं इव उत्थित दृश्यते) शरदऋतुमें उदयको प्राप्त हुए स्वच्छ पूर्ण चन्द्रमाके समान दीखता है।

तदेतदमरेश्वरप्रचलमौलिमालामणि-
स्फुरत्किरणचुंबनीयचरणारविंदद्वियम् ।
पुनातु भगवज्जिनेन्द्र तव रूपमन्धीकृतम् ।
जगत्सकलमन्यतीर्थगुरूपदोषोदयैः ॥ ३५ ॥

अन्वयार्थः — (अन्यतीर्थगुरूपदोषोदयैः) मिथ्या तीर्थके खोटे उपदेश से उत्पन्न हुए दोषोंसे (अन्धीकृत सकल जगत) अधे हुए इस सम्पूर्ण जगत् को (भगवत् जिनेन्द्र !) हे भगवन् जिनेन्द्र ! (तत् एतत् अमरेश्वरप्रचलमौलिमालामणिस्फुरत्किरणचुंबनीयचरणारविंदद्वयं तव रूप पुनातु) इन्द्रादिकके नमस्कार करते समय उनके मुकुटके मणियोंकी कातिसे जिनके दोनों चरण रूपी कमल स्पर्श किये गये हैं ऐसा अत्यन्त मनोहर आपका सुन्दर रूप पवित्र करो।

इसके बाद कायोत्सर्ग करना चाहिये।

आलोचना—

इच्छामि भंते चेइयभत्ति काउस्सग्गो कओ तस्सालोचेउं। अहलोयतिरियलोयउड्ढलोयम्मि किट्टिमाकिट्टिमाणि जाणि जिणचेइयाणि ताणि सव्वाणि तिसुवि लोएसु भवणवासियवाणविंतरजोइसियकप्पवासियत्ति चउविहादेवा सपरिवारा दिव्वेण गंधेण, दिव्वेण चुण्णेण, दिव्वेण वासेण, दिव्वेण ण्हाणेण, णिच्चकालं अंचंति, पुज्जंति, वदंति, णमंसंति, । अहमवि इह संतो तत्थ संताई णिच्चकाल अंचेमि, पूजेमि, वंदामि, णमंसामि,

दुक्खक्खओ, कम्मक्खओ, बोहिलाहो, सुगइगमणं, समाहिमरणं, जिण-गुणसंपत्ति होउ मज्झं।

अर्थ—हे भगवन्! मै चैत्यभक्ति कर कायोत्सर्ग करता हू। इसमें जो दोष लगे हों उनकी आलोचना करना चाहता हू। अधोलोक, मध्यलोक व ऊर्ध्व-लोकमें जो कृत्रिम वा अकृत्रिम चैत्यालय हैं उन सबकी तीनों लोकोंमें रहनेवाले भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिष्क और कल्पवासी चारों प्रकारके देव परिवारको साथ लेकर दिव्य गधसे, दिव्य चूर्णसे, दिव्य वस्त्रसे, और दिव्य अभिषेकसे, सदा अर्चा करते हैं, पूजा करते हैं, वदना करते हैं, और नमस्कार करते हैं। मैं भी यहा ही रहकर उसीप्रकारसे सदा समस्त चैत्यालयोंकी अर्चा करता हूं, पूजा करता हू, वदना करता हूं, और नमस्कार करता हू। मेरे दुःखोंका नाश हो, कर्मोंका नाश हो, मुझे रत्नत्रयकी प्राप्ति हो, शुभगतिकी प्राप्ति हो, समाधि-मरणकी प्राप्ति हो, और भगवान् जिनेन्द्रदेवके समस्त गुणोंकी तथा विभूतियों की प्राप्ति हो।

इति चैत्यभक्तिः।

क्षेपक श्लोकः—

मानस्तम्भाः सरांसि प्रविमलजलसत्खातिका पुष्पवाटी। प्रकारो नाट्यशाला द्वितयमुपवनं वेदिकांतर्ध्वजाद्याः॥ शालःकल्पद्रुमाणां सुपरिवृतवनं स्तूपहर्म्यावली च। प्राकारःस्फाटिकोन्तर्नृसुरमुनिसभा पीठिकाग्रे स्वयंभूः॥ १॥ वर्षेषु वर्षान्तरपर्वतेषु, नदीश्वरे यानि च मदरेषु। यावन्ति चैत्यायतनानि लोके सर्वाणि वंदे जिनपुङ्गवानाम्॥ २॥ अवनितलगतानां कृत्रिमाऽकृत्रिमाणाम्। वनभवनगतानां दिव्यवैमानिकानाम्॥ इह मनुजकृतानां देवराजार्चितानाम्। जिनवरनिलयानां भावतोऽहं स्मरामि॥ ३॥ जम्बूधातकिपुष्कराद्र्धवसुधाक्षेत्रत्रये ये भवाश्चंद्रांभोजशिखण्डिकण्ठकनकप्रावृड्घनाभाजिनः। सम्यग्ज्ञानचरित्रलक्षणधरा दग्धाष्टकर्मेन्धनाः भूतानागतवर्तमानसमये तेभ्यो जिनेभ्यो नमः॥ ४॥ श्रीमन्मेरौ कुलाद्रौ

रजतगिरिवरे शाल्मलौ जंबुवृक्षे, वक्षारे चैत्यवृक्षे रतिकररुचके कुण्डले मानुषांके। इष्वाकारेऽञ्जनाद्रौ दधिमुखशिखरे व्यंतरे स्वर्गलोके। ज्योतिर्लोकेऽभिवंदे भुवनमहितले यानि चैत्यानि तानि ॥ ५ ॥ देवासुरेंद्रनरनागसमर्चितेभ्यः, पापप्रणाशकरभव्यमनोहरेभ्यः। घंटाध्वजादिपरिवारविभूपितेभ्यो,–नित्यं नमो जगति सर्व जिनालयेभ्यः ॥ ६ ॥

अथ कल्याणालोचना

परमप्पइ वड्ढमई परमेट्ठीणं करोमि णवकारं।
सगपर सिद्धिणिमित्त कल्लाणालोयणा वोच्छे ॥ १ ॥

परमात्मानं वर्द्धितमतिं परमेष्ठिनं करोमि नमस्कारम्।
स्वकपरसिद्धिनिमित्तं कल्याणालोचनां वक्ष्ये ॥

अर्थ–जिनका ज्ञान अनंत परिणाम तक बढ़ा हुआ है ऐसे अरहंत परमेष्ठी को मैं नमस्कार करता हूं तथा अपने आत्माकी सिद्धिके लिये और अन्य जीवों के कल्याणकी सिद्धिके लिये मैं कल्याणालोचना कहता हूं।

रे जीवा णंत भवे संसारे संसरंत वहुवारं।
पत्तो ण वोहिलाहो मिच्छत्तविजंभपयडीहिं ॥ २ ॥

रे जीव अनंतभवे संसारे संसरन्ता वहुवारम्।
प्राप्तो न वोधिलाभः मिथ्यात्वविजंभितप्रकृतिभिः ॥

रे जीव! मिथ्यात्वकर्मकी बढ़ी हुई प्रकृतियोंके द्वारा इस अनंत जन्ममरण रूप संसारमें तूने अनंतवार परिभ्रमण किया परंतु अबतक तुझे रत्नत्रयकी प्राप्ति कभी नहीं हुई।

संसारभमणगमणं कुणंत आराहिओ ण जिणधम्मो।
तेणविणा वर दुक्ख पत्तोसि अणतवाराइं ॥ ३ ॥

संसार भ्रमणगमनं कुर्वन् आराधितो न जिनधर्मः।
तेन विना वरं दुःख प्राप्तोऽसि अनन्तवारम् ॥

अर्थ–इस संसारमें परिभ्रमण करते हुये तूने जिनधर्मका आराधन कभी नहीं किया और उसी जिन धर्मके विना इस संसारमें तुझे अनन्तवार महा दुःख

प्राप्त हुए हैं।

संसारे णिवसंता अणंतमरणाइ पाविओसि तुमं।
केवलिणा विण.तेसिं संखापज्जत्ति णो हवइ ॥ ४ ॥

संसारे निवसन् अनन्तमरणानि प्राप्तोऽसि त्वम्।
केवलिना विना तेषां संख्या पर्याप्तिर्न भवति ॥४॥

अर्थ—इस ससारमें निवास करते हुये तूने अनन्तवार मरण किये परतु केवल उस एक जैनधर्मके विना उन मरणोंकी संख्या पूरी नहीं हुई, अर्थात जन्ममरण का अंत नहीं हुआ।

तिण्णिसया छत्तीसा छावट्ठिसहस्सवार मरणाइ।
अंतो मुहुत्तमज्झे पत्तोसि णिगोयमज्झम्मि ॥ ५ ॥

त्रीणिशतानि षट्त्रिंशानि षट्षष्टि सहस्रवारमरणानि।
अंतर्मुहूर्तमध्ये प्राप्तोऽसि निगोदमध्ये ॥ ५ ॥

अर्थ—हे जीव ! तूने निगोदमें अन्तर्मुहूर्तकालमें छयासठ हजार तीन सौ छत्तीस वार मरण किया।

वियलिंदिये असीदी सट्ठी चालीसमेव जाणेहि।
पंचेंदिय चउवीसं खुद्दभवंतोमुहुत्तस्स ॥ ६ ॥

विकलेन्द्रिये अशीतिं षष्टिं चत्वारिंशत् एव जानीहि।
पंचेन्द्रिये चतुर्विंशतिं क्षुद्रभवान् अन्तर्मुहूर्तं ॥

अर्थ—हे जीव ! तूने दो इन्द्रिय अवस्थामें अंतर्मुहूर्त कालमें अस्सी क्षुद्रभव धारण किये। तेइन्द्रिय अवस्थामें साठ क्षुद्रभव धारण किये, चौइंद्रिय पर्याय में चालीस क्षुद्रभव धारण किये और पंचेंद्रिय पर्यायमें चौबीस क्षुद्रभव धारण किये।

अण्णोण्णं खज्जंता जीवा पावंति दारुणं दुक्खं।
ण हु तेसिं पज्जत्ती कहपावइ धम्ममइसुण्णो ॥ ७ ॥

अन्योन्यं कुध्यन्ते जीवा प्राप्नुवन्ति दारुणं दुःखम्।
न खलु तेषां पर्याप्ती: कथं प्राप्नोति धर्ममतिशून्य: ॥

अर्थ परस्पर एक दूसरेके साथ क्रोध करते हुये ये जीव अत्यन्त घोर दुःख पाते हैं। उनकी कभी पर्याप्ति ही पूरी नहीं होती फिर भला धैर्यरूप बुद्धिसे सर्वथा रहित वे जीव इस जिन धर्मको कैसे धारण कर सकते हैं।

मायापिया कुण्डवो सुजणजण कोवि णायई सत्थे।
एगागी भमइ सदा णहि वीओ अत्थि संमारे ॥ ८ ॥

माता पिता कुटुम्बः स्वजनजनः कोपि नायाति सह ।
एकाकी भ्रमति सदा न हि द्वितीयोऽस्ति संसारे ॥

इस संसारमें परिभ्रमण करते हुये इस जीवके साथ माता पिता कुटुम्बी लोग तथा अपने परिवारके मनुष्योंमें से कोई भी साथ नहीं जाता। यह जीव सदा अकेला परिभ्रमण किया करता है। इसका साथी कोई दूसरा नहीं होता।

आउक्खएवि पत्ते ण समत्थो कोवि आउदाणेय।
देवेंदो ण णरेंदो मणिओसह मतजालाई ॥ ९ ॥

आयु क्षयेपि प्राप्ते न समर्थः कोपि आयुर्दाने च ।
देवेंद्रो न नरेन्द्रः मण्यौषधमन्त्रजालानि ॥ ९ ॥

अर्थ—जब आयुका अत आ जाता है आयुपूरी हो जाती है तब कोई भी उस आयुको नहीं बढ़ा सकता। न देवोंका इन्द्र किसीकी आयु बढ़ा सकता है न चक्रवर्ती बढ़ा सकता है और न मणि, औषधि वा मत्रोंके समूह आयुको बढ़ा सकते हैं।

संपडि जिणवरधम्मो लद्धोसि तुमं विसुद्धजोएण ।
खामसु जीवा सव्वे पत्तेसमये पयत्तेण ॥ १० ॥

सम्प्रति जिनवरधर्मो लब्धोऽसित्वं विशुद्धयोगेन ।
क्षमस्व जीवान् सर्वान् प्रत्येकसमये प्रयत्नेन ॥

अर्थ-इस समय योगोंकी वा मन वचन कायकी विशुद्धि होनेसे तुम्हें इस जैनधर्मकी प्राप्ति हुई है इसलिये बड़े प्रयत्नके साथ प्रत्येक समय में तू समस्त जीवोंको क्षमा कर। उनपर क्षमा धारण कर।

तिण्णिसया तेसट्ठि मिच्छत्ता दंमणस्स पडिवक्खा ।
अण्णाणे सद्दहिया मिच्छा मे दुक्कडं हुज्ज ॥ ११ ॥

त्रीणि शतानि त्रिषष्टिमिथ्यात्वानि दर्शनस्य प्रतिपक्षाणि ।
अज्ञानेन श्रद्धितानि मिथ्या मे दुष्कृतं भवतु ॥

अर्थ-सम्यग्दर्शनके प्रतिपक्षी वा विरोधी मिथ्यात्वके तीन सौ तिरेसठ भेद हैं। यदि उनका मैंने अपने अज्ञानसे श्रद्धान किया हो तो वे सब मेरे पाप मिथ्या हों।

महुमज्जमसजूआपभिदीवसणाइ सत्तभेयाइं।
णियमो ण कथं च तेसिं मिच्छा मे दुक्कड हुज्ज ॥ १२ ॥

मधुमांसमद्यद्यूतप्रभृतीनि व्यसनानि सप्त भेदानि।
नियमो न कृतः च तेषा मिथ्या मे दुष्कृतं भवतु ॥

अर्थ—मधु, मास, मद्य और जूआ आदिको लेकर जो व्यसनोंके सात भेद हैं उनको त्याग करनेका यदि मैने नियम न किया हो तो वह सब मेरा पाप मिथ्या हो।

अणुवयमहव्वया जे जमणियमासीलसाहुगुरुदिण्णा।
जे जे विराहिदा खलु मिच्छा मे दुक्कडं हुज्ज ॥ १३ ॥

अणुव्रतमहाव्रतानि यानि यमनियमशीलानि साधुगुरुदत्तानि।
यानि यानि विराधितानि खलु मिथ्या मे दुष्कृतं भवतु ॥ १३ ॥

अर्थ—साधुओंने वा गुरुओंने मुझे जो अणुव्रत दिये हों और उनमेंसे जिन जिनकी विराधना हुई हो वह सब मेरा पाप मिथ्या हो।

णिच्चिदरधादुसत्तय तरुदसवियलिंदिएसु छच्चेव।
सुरणरयतिरियचउरो चउदस मणुए सदसहस्सा ॥ १४ ॥
एदे सव्वे जीवा चउरासीलक्खजोणिवसि पत्ता।
जे जे विराहिया खलु मिच्छा मे दुक्कडं हुज्ज ॥ १५ ॥

नित्येतरधातुसप्त तरुदश विकलेन्द्रियेषु षट् चैव।
सुरनारकतिर्यक्षु चत्वारः चतुर्दश मनुष्ये शतसहस्राणि ॥१४॥
एते सर्वे जीवाश्चतुरशीतिलक्षयोनिवशे प्राप्ताः।
ये ये विराधिता खलु मिथ्या मे दुष्कृतं भवतु ॥ १५ ॥

अर्थ—नित्य निगोदकी सातलाख, इतर निगोदकी सातलाख, पृथिवी कायिककी सातलाख, जल कायिककी सातलाख अग्निकायिककी सातलाख वायुकायिककी सातलाख, दो इन्द्रियकी दो लाख, ते इन्द्रियकी दो लाख, चौइन्द्रिय की दो लाख, देवोंकी चार लाख, नारकियोंकी चार लाख, पचेंन्द्रिय तिर्यंच की चार लाख और मनुष्योंकी दश लाख। इस प्रकार समस्त जीवोंकी चौरासी लाख योनियोंमें प्राप्त हुए जीवोंमेंसे जिन जिन जीवोंकी विराधना मुझसे हुई हो वह सब मेरा पाप मिथ्या हो।

पुढवीजलग्गिवाओ तेओवि वण'फई य वियलतया ।
जे जे विराहिया खलु मिच्छा मे दुक्कडं हुज्ज ॥ १६ ॥

पृथ्वीजलाग्निवायुतेजोवनस्पतयश्च विकलत्रया. ।
ये ये विराधिताः खलु मिथ्या मे दुष्कृत भवतु ॥ १६ ॥

अर्थ—पृथ्वीकायिक जीव, जलकायिक जीव, अग्निकायिक जीव, वायुकायिक जीव, वनस्पतिकायिक जीव और विकलत्रय जीवोंमें से जो जो मुझसे विराधे गये हों उनकी विराधना से होनेवाला सब पाप मेरा मिथ्या हों।

मल सत्तरा जिणुत्ता वयविसये जा विराहणा विविहा
सामइया खमइया खलु मिच्छा मे दुक्कड हुज्ज ॥ १७ ॥

मलसप्तति जिनोक्ता व्रतविषये वा विराधना विविधा ।
सामायिक क्षमादिका मिथ्या मे दुष्कृतं भवतु ॥ १७ ॥

अर्थ—भगवान् जिनेन्द्रदेवने व्रतोंके सत्तर अतीचार बतलाये हैं उनमें से जो जो अतिचार लगे हों वा व्रतोंमें अनेक प्रकार से विराधना हुई हों वा सामायिक और क्षमाभावोंकी विराधना हुई हो वे सब मेरे पाप मिथ्या हों।

फलफुल्लछल्लिवल्ली अणगल ण्हाणं च धोवणाईहिं ।
जे जे विराहिया खलु मिच्छा मे दुक्कडं हुज्ज ॥ १८ ॥

फलपुष्पत्वग्वल्ली अगालितस्नानं च प्रक्षालनादिभि ।
ये ये विराधिता खलु मिथ्या मे दुष्कृतं भवतु ॥ १८ ॥

अर्थ—फल, पुष्प, छाल, लता आदिको काममें लाने में जो जीवोंकी विराधना हुई हो, विना छने जलसे स्नान करनेमें जिन जीवोंकी विराधना हुई हो, वस्त्रादिकके धोनेमें जो जीवोंकी विराधना हुई हो उन सबसे होनेवाले मेरे पाप सब मिथ्या हों।

णो शीलं णेव खमा विणओ तवो ण संजमोवासा ।
ण कया ण भाविकया मिच्छा मे दुक्कड हुज्ज ॥ १९ ॥

न शील नैव क्षमा विनयस्तपो न संयमोपवासा. ।
न कृता न भाविनी कृता मिथ्या मे दुष्कृतं भवतु ॥ १९ ॥

अर्थ-मैंने जो शील पालन न किया हो, क्षमा, धारण न की हो, विनय न किया हो, तप न किया हो, संयम पालन न किया हो, उपवास न किया हो तथा न इनकी भावना की हो। वह समस्त मेरा पाप मिथ्या हो।

कंदफलमूलवीया सचित्तरयणीयभोयणाहारा।
अण्णाणे जे वि कया मिच्छा मे दुक्कड हुज्ज ॥ २० ॥

कन्दफलमूलवीजानि सचित्तरजनीभोजनाहाराः।
अज्ञानेन ये पि कृता मिथ्याऽमे दुष्कृतं भवतु ॥ २० ॥

अर्थ—यदि मैने अपने अज्ञानसे कंद, मूल, फल, वीज, खाये हो। अन्य सचित्त पदार्थोंका भक्षण किया हो वा रात्रिमें भोजन किया हो तो वे सब मेरे पाप मिथ्या हों।

णो पूया जिणचरणे ण पत्तदाणं न चेइयागमणं।
ण कया ण भाविय मये मिच्छा मे दुक्कडं हुज्ज ॥ २१ ॥

नो पूजा जिनचरणे न पात्रदानं नचेर्यागमनम्।
न कृता न भाविता मया मिथ्या मे दुष्कृतं भवतु ॥ २१ ॥

अर्थ—मैने भगवानके चरण कमलोंकी पूजा न की हो, पात्र दान न दिया हो, ईर्यासमिति पूर्वक गमन न किया हो, ये सब काम न किये हों, न इनकी भावना की हो तो वे सब मेरे पाप मिथ्या हों।

बंभारंभपरिग्गह सावज्जा वहु पमाददोसेण।
जीवा विराहिया खलु मिच्छा मे दुक्कडं हुज्ज ॥ २२ ॥

ब्रह्मारंभपरिग्रहसावद्यानि वहूनि प्रमाददोषेण।
जीवा विराधिताः खलु मिथ्या मे दुष्कृतं भवतु ॥ २२ ॥

अर्थ—मैने अपने प्रमाद जन्य दोषसे ब्रह्मचर्य, आरभ और परिग्रहमें बहुत से पाप किये हों तथा उनमें जीवोंकी विराधना हुई हो तो वे सब मेरे पाप मिथ्या हों।

सत्तरिसउखित्तभवा तीदाणागयसुवट्टमाणजिणा।
जे जे विराहिया खलु मिच्छा मे दुक्कड हुज्ज ॥ २३ ॥

सप्ततिशतक्षेत्रभावाः अतीतानागतवर्तमानजिना।
ये ये विराधिताः खलु मिथ्या मे दुष्कृतं भवतु ॥ २३ ॥

अर्थ—एकसौ सत्तर कर्मभूमियोंमें होनेवाले भूत भविष्यत् वर्तमानकाल सम्बन्धी तीर्थंकरोंकी जो विराधना की हो उनका अनादर किया हो तो वे सब मेरे पाप मिथ्या हों।

अरुहासिद्धाइरिया उवज्झाया साहु पञ्चपरमेण्ठी।
जे जे विराहिया खलु मिच्छा मे दुक्कडं हुज्ज ॥ २४ ॥

अर्हत्सिद्धाचार्या उपाध्यायाः साधवः पञ्चपरमेष्ठिनः।
ये ये विराधिताः खलु मिथ्या मे दुष्कृतं भवतु ॥ २४ ॥

अर्थ—भगवान् अरहंत परमेष्ठी, सिद्ध परमेष्ठी, आचार्य परमेष्ठी, उपाध्याय परमेष्ठी और साधु परमेष्ठीकी जो जो विराधनाकी हो इनकी आज्ञा भग की हो वा अनादर किया हो तो वे सब मेरे पाप मिथ्या हों।

जिणवयणधम्मचेइयजिणपडिमा किट्टिमाअकिट्टिमया।
जे जे विराहिया खलु मिच्छा मे दुक्कड हुज्ज ॥ २५ ॥

जिनवचनं धर्मः चैत्यं जिनप्रतिमा कृत्रिमा अकृत्रिमाः।
ये ये विराधिताः खलु मिथ्या मे दुष्कृतं भवतु ॥ २५ ॥

अर्थ—जिनवचन, जिनधर्म, जिन चैत्यालय और कृत्रिम अकृत्रिम जिन प्रतिमाओंकी जो विराधना की हो तो वे सब मेरे पाप मिथ्या हों।

दसणणाणचरित्ते दोसा अट्ठट्ठपञ्चभेयाइ।
जे जे विराहिया खलु मच्छा मे दुक्कड़ं हुज्ज ॥ २६ ॥

दर्शनज्ञानचारित्रे दोषा अष्टाष्टपञ्चभेदा।
ये ये विराधिताः खलु मिथ्या मे दुष्कृतं भवतु ॥ २६ ॥

अर्थ—सम्यग्दर्शनके आठ दोष हैं, सम्यग्ज्ञानके आठ दोष हैं और सम्यक् चारित्रके पाच दोष है इनमेंसे जो जो दोष मैने लगाये हों तो उनसे होनेवाले मेरे सब पाप मिथ्या हों।

मइसुइओहीमणपज्जय तहा केवलं च पचमयं।
जे जे विराहिया खलु मिच्छा मे दुक्कड हुज्ज ॥ २७ ॥

मतिः श्रुतं अवधिः मन पर्यय तथा केवल च पञ्चमकम्।
ये ये विराधिता. खलु मिथ्या मे दुष्कृत भवतु ॥ २७ ॥

अर्थ—मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनः पर्ययज्ञान और केवलज्ञान इन पाचों ज्ञानोंमें से जिस किसी ज्ञानकी विराधना हुई हो तो वह मेरा पाप मिथ्या हो।

आयारादी अंगा पुव्वपइण्णा जिणेहिं पण्णत्ता।
जे जे विराहिया खलु मिच्छा मे दुक्कडम् हुज्ज ॥ २८ ॥

आचारांगादीनि अंगानि पूर्वप्रकीर्णकानि जिनैः प्रणीतानि ।
ये ये विराधिताः खलु मिथ्या मे दुष्कृतं भवतु ॥ २८ ॥

आचारांग आदि ग्यारह अंग और चौदह पूर्वोंका स्वरूप जो भगवान् जिनेन्द्रदेवने कहा है । उसमें जो कुछ मुझसे विराधना हुई हो तो वह सब मेरा पाप मिथ्या हो ।

पंच महव्वयजुत्ता अट्ठादससहस्ससीलकयसोहा ।
जे जे विराहिया खलु मिच्छा मे दुक्कडं हुज्ज ॥ २९ ॥

पञ्चमहाव्रतयुक्ता अष्टादशसहस्रशीलकृतशोभाः ।
ये ये विराधिताः खलु मिथ्या मे दुष्कृतं भवतु ॥ २९ ॥

अर्थ—जो पच महाव्रतोंसे सुशोभित हैं और अठारह हजार शीलोंसे जिनकी शोभा बढ़ रही है ऐसे भगवान् अरहंत देवकी जो कुछ विराधना हुई हो तो वह सब मेरा पाप मिथ्या हो ।

लोए पियरसमाणा रिद्धिपवण्णा महागणवइया ।
जे जे विराहिया खलु मिच्छा मे दुक्कड हुज्ज ॥ ३० ॥

लोके पितृसमाना ऋद्धिप्रपन्ना महागणपतयः ।
ये ये विराधिताः खलु मिथ्या मे दुष्कृतं भवतु ॥ ३० ॥

अर्थ—अनेक ऋद्धियोंको धारण करने वाले गणधरदेव इस ससारमें पिताके समान हैं क्योंकि वे सब ऋषियोंके गुरु हैं, उनकी जो कुछ मुझसे विराधना हुई हो तो वह सब मेरा पाप मिथ्या हो ।

णिग्गंथ अज्जियाओ सड्ढा सड्ढी य चउविहो संघो ।
जे जे विराहिया खलु मिच्छा मे दुक्कड हुज्ज ॥ ३१ ॥

निर्ग्रंथा आर्यिकाः श्रावकाः श्राविकाः च चतुर्विधः संघः ।
ये ये विराधिताः खलु मिथ्या मे दुष्कृत भवतु ॥ ३ ॥

अर्थ—निर्ग्रंथमुनि, अर्जिका, श्रावक श्राविका इन चार प्रकारके सघोंमें से जिस किसीकी विराधना हुई हो तो वह सब मेरा पाप मिथ्या हो ।

देवा सुरा मणुस्सा णेरइयातिरियजोणिगयजीवा ।
जे जे विराहिया खलु मिच्छा मे दुक्कड हुज्ज ॥ ३२ ॥

देवा असुरा मनुष्या नारका तिर्यग्योनिगत जीवाः ।
ये ये विराधिताः खलु मिथ्या मे दुष्कृतं भवतु ॥ ३२ ॥

अर्थ-वैमानिक देव, भवनवासी, व्यंतर ज्योतिषी देव, मनुष्य, नारकी, और तिर्यंच गतिमें रहनेवाले जीवोंकी जो विराधना हुई हो और उससे जो पाप हुये हो वे सब मिथ्या हों।

कोहो माणो माया लोहो एदेय रायदोसाइं।
अण्णाणे जे वि कया मिच्छा मे दुक्कडं हुज्ज ॥ ३३ ॥
क्रोधो मानो माया लोभ. एते रागद्वेषा'।
अज्ञानेन ये पि कृता मिथ्या मे दुष्कृतं भवतु ॥ ३३ ॥

अर्थ-मैने अपने अज्ञानसे जो क्रोध मान माया लोभ आदि राग द्वेष किये हों वे सब मेरे पाप मिथ्या हों।

परवत्थं परमहिला पमादजोएण अज्जियं पाव।
अण्णावि अकरणीया मिच्छा मे दुक्कडं हुज्ज ॥ ३४ ॥
परवस्त्रं परमहिला प्रमादयोगेनार्जितं पापम्।
अन्येपि अकरणीया मिथ्या मे दुष्कृतं भवतु ॥ ३४ ॥

अर्थ-परवस्त्र और परस्त्री आदिके वशसे प्रमाद योग पूर्वक जो पाप मैने किये हों अथवा और जो जो न करने योग्य कार्य किये हों वे सब मेरे पाप मिथ्या हों।

इक्को सहावसिद्धो सोह अप्पा वियप्पपरिमुक्को।
अण्णो ण मज्झ सरणं सरणं सो एक्क परमप्पा ॥ ३५ ॥
एक स्वभावसिद्धः स आत्मा विकल्पपरिमुक्तः।
अन्यो न मम शरणं शरण स एक परमात्मा ॥ ३५ ॥

अर्थ-जो आत्मा एक है स्वभावसे ही सिद्ध है और सब तरहके विकल्पों से रहित हैं ऐसे एक परमात्माकी ही मै शरण जाता हू ऐसे परमात्माके सिवाय अन्य कोई भी मेरे लिये शरण नहीं है।

अरस अरूव अगंधो अव्वाबाहो अणंतणाणमओ।
अण्णो ण मज्झ सरण सरण सो एक्क परमप्पा ॥ ३६ ॥
अरस अरूप अगंधः अव्याबाव अनन्तज्ञानमय.।
अन्यो न मम शरण शरणं स एक' परमात्मा ॥ ३६ ॥

अर्थ-जो परमात्मा रस रहित है, रूप रहित है, गध रहित है, सब तरहकी वाधाओंसे रहित है और अनन्तज्ञान स्वरूप है ऐसा एक परमात्मा ही मुझे

शरण है अन्य कोई भी मुझे शरण नहीं है।

णेयपमाणं णाणं समए इक्केण हुंति ससहावे।
अण्णो ण मज्झ सरण सरणं सो एक्क परमप्पा ॥ ३७ ॥

ज्ञेयप्रमाणं ज्ञानं समयेन एकेन भवति स्वस्वभावे।
अन्ये न मम शरणं शरणं स एक. परमात्मा ॥ ३७ ॥

अर्थ—परमात्माका वह अनतज्ञान यद्यपि अपने स्वभावमें ही स्थिर रहता है तथापि वह प्रत्येक समयमें समस्त ज्ञेय पदार्थोंको जानता रहता है। ऐसा वह परमात्मा ही मुझे शरण है परमात्माके सिवाय अन्य कोई भी मुझे शरण नहीं है।

एयाणेयवियप्पपसाहणे सयसहावसुद्धगई।
अण्णो ण मज्झ सरण सरणं सो एक्क परमप्पा ॥ ३८ ॥

एकानेकविकल्पप्रसाधने स्वकस्वभावशुद्धगति.।
अन्यो न मम शरण शरणं स एकः परमात्मा ॥ ३८ ॥

अर्थ—उस परमात्माको चाहे एक प्रकारसे सिद्ध किया जाय और चाहे अनेक प्रकारसे सिद्ध किया जाय वह सदा अपने ही स्वभावमें शुद्ध बुद्ध स्वरूप स्थित रहता है। ऐसा वह परमत्मा ही मुझे शरण है उसके सिवाय अन्य कोई भी मुझे शरण नहीं है।

देहपमाणो णिच्चो लोयपमाणो वि धम्मदो होदि।
अण्णो ण मज्झ सरणं सरणं सो एक्क परमप्पा ॥ ३९ ॥

देहप्रमाण नित्य' लोकप्रम. अपि धर्मतो भवति।
अन्यो न मम शरणं शरणं स एक परमात्मा ॥ ३९ ॥

अर्थ—वह परमात्मा नित्य है, शरीरके प्रमाणके बराबर है, और प्रदेशोंके द्वारा लोक प्रमाण है ऐसा वह परमात्मा ही मुझे शरण है उसके सिवाय अन्य कोई भी मुझे शरण नहीं है।

केवलदंसणणाणं समये इक्केण दुण्णिउवओगा।
अण्णो ण मज्झ सरणं सरणं सो एक्क परमप्पा ॥ ४० ॥

केवलदर्शनज्ञाने समयेनैकेन द्वौ उपयोगौ।
अन्यो न मम शरण शरणं स एक. परमात्मा ॥ ४० ॥

अर्थ—उन परमात्माके एकही समयमें केवलदर्शन और केवलज्ञान दोनों

ही उपयोग एकसाथ होते हैं। वह परमात्मा ही मुझे शरण है। अन्य कोई शरण नहीं है।

सगरूव सहजसिद्धो विहावगुणमुक्ककम्मवावारो।
अण्णो ण मज्झ सरणं सरणं सो एक्क परमप्पा ॥ ४१ ॥

स्वकरूप सहजसिद्धो विभावगुणमुक्त कर्म व्यापारः।
अन्यो न मम शरणं शरणं स एकः परमात्मा ॥ ४१ ॥

अर्थ—वह परमात्मा अपने स्वभाविक स्वरूपमें ही लीन रहते हैं, स्वाभाविक स्वभावसे ही सिद्ध है और रागद्वेषादिक वैभाविक गुणोंसे रहित होनेके कारण समस्त कर्मोंके व्यापारसे रहित हैं। ऐसे वे परमात्माही मुझे शरण है। उनके सिवाय अन्य कोई भी मुझे शरण नहीं है।

सुण्णो णेय असुण्णो णोकम्मो कम्मवज्जिओ णाणं।
अण्णो ण मज्झ सरण सरण सो एक्क परमप्पा ॥ ४२ ॥

शून्यो नैवाशून्यो नोकर्मकर्मवर्जितो ज्ञानम्।
अन्यो न मम शरणं शरणं स एकः परमात्मा ॥ ४२ ॥

अर्थ-वह परमात्मा रूप, रस, गंध, स्पर्श रहित होनेके कारण शून्यरूप है तथा ज्ञानमय आत्मास्वरूप होनेके कारण शून्यरूप नहीं भी है। उस परमात्माका ज्ञान नोकर्मोंसे भी रहित हैं और ज्ञानावरणादिक कर्मोंसे भी रहित है। ऐसा वह परमात्मा मुझे शरण है, उसके सिवाय मुझे और कोई शरण नहीं है।

णाणाउ जो ण भिण्णो वियप्पभिण्णो सहावसुक्खमओ।
अण्णो ण मज्झ सरणं सरणं सो एक्क परमप्पा ॥ ४३ ॥

ज्ञानतो यो न भिन्न विकल्पभिन्नः स्वभावसुखमयः।
अन्यो न मम शरणं शरणं स एकः परमात्मा ॥ ४३ ॥

अर्थ—जो परमात्मा अपने केवलज्ञानसे कभी भिन्न नहीं होता, परंतु सब तरहके विकल्पोंसे वह सदा भिन्न रहता है, स्वाभाविक सुखस्वरूप है ऐसा परमात्मा ही मुझे शरण है ऐसे परमात्माके सिवाय अन्य कोई शरण नहीं है।

अच्छिण्णोवच्छिण्णो पमेय रूवत्त गुरुलहू चेव।
अण्णो ण मज्झ सरणं सरणं सो एक्क परमप्पा ॥ ४४ ॥

अच्छिन्नोवच्छिन्न प्रमेयरूपत्व अगुरुलघुत्वं चैव।
अन्यो न मम शरणं शरणं स एकः परमात्मा ॥ ४४ ॥

अर्थ—जो कभी किसी प्रकार छिन्न भिन्न नहीं होता, जो अखण्ड स्वरूप है तथा अवच्छिन्न है, अंतिम शरीरके प्रमाणके समान है अथवा असंख्यात प्रदेशमय है। जो ज्ञानके द्वारा समस्त पदार्थोंके समान है अर्थात् समस्त पदार्थों का ज्ञाता है और अगुरु लघु गुणसे सुशोभित है ऐसा परमात्मा ही मुझे शरण है। उसके सिवाय अन्य कोई भी शरण नहीं है।

सुहअसुहभावविगओ सुद्धसहावेण तम्मयं पत्तो।
अण्णो ण मज्झ सरणं सरणं सो एक्क परमप्पा ॥ ४५ ॥

शुभाशुभभावविगतः शुद्धस्वभावेन तन्मयं प्राप्तः।
अन्यो न मम शरणं शरणं स एकः परमात्मा ॥ ४५ ॥

अर्थ—जो शुभभाव और अशुभ भाव दोनोंसे रहित है। जो केवल शुद्ध-स्वभावके द्वारा अपने ही आत्मामें तल्लीन है। अथवा जो केवल अपने शुद्ध-स्वभावमें ही लीन है ऐसा ही परमात्मा मुझे शरण है। इसके सिवाय अन्य कोई भी मुझे शरण नहीं है।

णो इत्थी ण णउंसो णो पुंसो णेव पुण्णपावमओ।
अण्णो ण मज्झ सरणं सरणं सो एक्क परमप्पा ॥ ४६ ॥

न स्त्री न नपुंसकः न पुमान् नैव पुण्यपापमयः।
अन्यो न मम शरणं शरणं सः एकः परमात्मा ॥ ४६ ॥

अर्थ—जो न स्त्री है, न नपुंसक है, न पुरुष है और न पुण्यपाप रूप है, ऐसा परमात्मा ही मुझे शरण है। उसके सिवाय अन्य कोई भी शरण नहीं है।

ते को ण होदि सुयणो त कस्स ण बंधवो ण सुयणो वा।
अप्पा हवेह अप्पा एगागी जाणगो सुद्धो ॥ ४७ ॥

तव को न भवति स्वजनः त्वं कस्य न बंधुः स्वजनो वा।
आत्मा भवेत् आत्मा एकाकी ज्ञायकः शुद्धः ॥ ४७ ॥

अर्थ—हे आत्मन्! इस संसारमें तेरा कोई कुटुम्बी नहीं है तथा तू भी किसी का भाई वा कुटुम्बी नहीं है। यह आत्मा सदा आत्मा ही रहता है अकेला ही रहता है, समस्त पदार्थोंका जानना इसका स्वभाव है और यह सदा शुद्ध है।

जिणदेवो होउ सया मई सु जिणसासणे सया होऊ।
सण्णासेण य मरणं भवे भवे मज्झ संपदओ ॥ ४८ ॥

जिनदेवो भवतु सदा मतिः सुजिनशासने सदा भवतु।
सन्यासेन च मरणं भवे भवे मम सम्पत् ॥ ४८ ॥

अर्थ—मै जिनदेवकी ही सदा सेवा करता रहूं जिन देवके सिवाय अन्य किसीको देव न मानूं। मेरी बुद्धि सदा जिनशासनमें वा धर्ममें ही बनी रहे। जैन धर्मको छोड़ कर अन्य किसी धर्ममें मेरी बुद्धि न जाय। मेरा मरण सदा समाधि पूर्वक ही हो समाधि मरणके सिवाय अन्य मरण न हो। यह सम्पत्ति मुझे भव भवमें प्राप्त हो।

जिणो देवो जिणो देवो जिणो देवो जिणो जिणो।
दयाधम्मो दयाधम्मो दयाधम्मो दया सया ॥ ४६ ॥
जिनो देवो जिनो देवो जिनो देवो जिनो जिनः।
दयाधर्मो दयाधर्मो दयाधर्मो दया सदा ॥ ४६ ॥

अर्थ—इस ससारमें देव जिन ही हैं, देव जिन ही हैं देव जिन ही हैं भगवान् जिनेन्द्रदेव अरहंत देव ही देव हैं अन्य कोई देव देव नहीं है। धर्म दयारूप ही है, धर्म दयामय ही है, धर्म दया ही है। धर्म सदा दयामय ही होता है दया के सिवाय अन्य कोई धर्म हो ही नहीं सकता।

महासाहू महासाहू महासाहू दिगंवरा।
एवं तच्च सदा हुज्ज जाव णो मुत्तिसंगमो ॥ ५० ॥
महा साधवः महा साधवः महासाधवो दिगंवरा।
एवं तत्त्वं सदा भवतु यावन्न मुक्तिसंगम ॥ ५० ॥

अर्थ—महासाधु दिगम्बर ही होते हैं महासाधु दिगम्बर ही होते हैं महासाधु दिगम्बर ही होते हैं। हे प्रभो! जबतक मुझे मोक्षकी प्राप्ति न हो तवतक मेरे हृदयमें यही तत्त्व सदा बना रहे।

भावार्थ—तबतक मै दया मय धर्मको मानता रहूं जिनेन्द्रदेवको देव मानता रहूं और निर्ग्रंथ मुनियोंको साधु वा गुरु मानता रहूं।

एवमेव गओकालो अणंतो दुक्खसंगमे।
जिणोवदिट्ठमण्णासे ण यत्तारोहणा कया ॥ ५१ ॥
एवमेव गतः कालः अनन्तो दुःखसंगमे।
जिनोपदिष्टसन्यासे न यत्तारोहणा कृता ॥ ५१ ॥

अर्थ—आजतक मेरा अनंत काल दुःख भोगते ही व्यर्थ वीत गया। मैने

अबतक भगवान् जिनेन्द्र देवके कहे हुए समाधि मरणके लिए यत्न पूर्वक कभी प्रयत्न नहीं किया।

भावार्थ—समाधि मरण कभी धारण नहीं किया।

संपइ एव संपत्ताराहणा जिणदेसिया।
किं किं ण जायदे मज्झ सिद्धिसंदोहसंपई ॥ ५२ ॥

सम्प्रति एव सम्प्राप्ता आराधना जिनदेशिता।
का का न जायते मम सिद्धिसंदोहसम्पत्तिः ॥ ५२ ॥

अर्थ—अब इस समय मुझे भगवान् जिनेन्द्र देवकी कही हुई आराधना प्राप्त हुई हैं इनके प्राप्त होने से अब इस संसारमें ऐसी कौनसी सिद्धियोंकी समूह रूप संपत्ति है जो मुझे प्राप्त न हो।

भावार्थ—अब इन आराधनाओंके पालन करनेसे मुझे समस्त सिद्धिया प्राप्त हो जायेंगी।

अहो धम्ममहो धम्मं अहो मे लद्धि णिम्मला।
संजादा संपया सारा जेण सुक्खमणूपमं ॥ ५३ ॥

अहो धर्मः अहो धर्मः अहो मे लब्धिनिर्मला।
संजाता सम्पत् सारा येन सुखं अनुपमम् ॥ ५३ ॥

अर्थ—यह जिनदेवका कहा हुआ दयाधर्म बड़ा ही आश्चर्य कारक है तथा यह धर्म सबसे उत्तम है और यह मुझे प्राप्त हुई अत्यत निर्मल काल लब्धिभी अत्यत आश्चर्य उत्पन्न करनेवाली है। इस निर्मल काललब्धि और जिनधर्म के प्रसादसे मुझे आराधनारूप सर्वोत्तम संपत्ति प्राप्त हुई है इस आराधना रूप संपत्तिसे ही उपमा रहित मोक्ष सुख प्राप्त होता है।

एव आराहंतो आलोयणवंदनापडिक्कमणं।
पावइ फलंय तेसिं णिद्दिट्ठं अजियबम्मेण ॥ ५४ ॥

एवं आराधयन् आलोचनावंदनाप्रतिक्रमणानि।
प्राप्नोति फलं च तेषां निर्दिष्टमजितब्रह्मणा ॥ ५४ ॥

अर्थ—इस प्रकार आलोचना वंदना और प्रतिक्रमणकी आराधना करनेसे भगवान् जिनेन्द्र देवका कहा हुआ मोक्ष फल प्राप्त होता है।

अथ चतुर्दिशि वंदना।

प्राग्दिग्विदिगन्तरि, केवलिजिनसिद्ध साधुगणदेवाः। ये सर्वर्द्धिसमृद्धा, योगिगणास्तानऽहं वन्दे ॥ १ ॥ दक्षिणदिग्विदिगन्तरि, केवलिजिनसिद्धसाधुगणदेवाः। ये सर्वर्द्धिसमृद्धा० ॥ २ ॥ पश्चिमदिग्विदिगन्तरि केवलिजिनसिद्धसाधुगणदेवाः। ये सर्वर्द्धिसमृद्धा० ॥ ३ ॥ उत्तरदिग्विदिगन्तरि, केवलिजिनसिद्धसाधुगणदेवाः। ये सर्वर्द्धिसमृद्धा० ॥ ४ ॥

इति चतुर्दिशि वंदना।

सर्वदोषप्रायश्चित्तविधिर्लिख्यते।

ॐ ह्रीं अर्हं अ सि आ उ सा त्रयस्त्रिंशदत्यासादनात्यागानुष्ठितप्रोषधोद्योतनाय नमः ॥ १ ॥ ॐ ह्रीं अर्हं अहिंसामहाव्रतस्यात्यासादनात्यागायानुष्ठितप्रोषधोद्योतनाय नमः ॥ २ ॥ ॐ ह्रीं अर्हं सत्यमहाव्रतस्यात्यासादनात्यागायानुष्ठितप्रोषधोद्योतनाय नमः ॥ ३ ॥ ॐ ह्रीं अर्हं अचौर्यमहाव्रतस्यात्यासादनात्यागायानुष्ठितप्रोषधोद्योतनाय नमः ॥ ४ ॥ ॐ ह्रीं अर्हं ब्रह्मचर्यमहाव्रतस्यात्यासादनात्यागायानुष्ठितप्रोषधोद्योतनाय नमः ॥ ५ ॥ ॐ ह्रीं अर्हं अपरिग्रहमहाव्रतस्यात्यासादनात्यागायानुष्ठितप्रोषधोद्योतनाय नमः ॥ ६ ॥ ॐ ह्रीं अर्हं ईर्यासमितेरत्यासादनात्यागायानुष्ठितप्रोषधोद्योतनाय नमः ॥ ७ ॥ ॐ ह्रीं अर्हं भाषासमिरेत्यासादनात्यागायानुष्ठितप्रोषधोद्योतनाय नमः ॥ ८ ॥ ॐ ह्रीं अर्हं एषणासमिरेत्यासादनात्यागायानुष्ठितप्रोषधोद्योतनाय नमः ॥ ९ ॥ ॐ ह्रीं अर्हं आदाननिक्षेपणसमिरेत्यासादनात्यागायानुष्ठितप्रोसधोद्योतनाय नमः ॥ १० ॥ ॐ ह्रीं अर्हं उत्सर्गसमिरेत्यासादनात्यागायानुष्ठितप्रोषधोद्योतनाय नमः ॥ ११ ॥ ॐ ह्रीं अर्हं मनोगुप्तरेत्यासादनात्यागायानुष्ठितप्रोषधोद्योतनाय नमः ॥ १२ ॥ ॐ ह्रीं अर्हं वचोगुप्तेरत्यासादनात्यागायानुष्ठितप्रोषधोद्योतनाय नमः ॥ १३ ॥ ॐ ह्रीं अर्हं कायगुप्तेरत्यासादनात्यागायानुष्ठि-

तप्रोपधोद्योतनाय नमः ॥ १४ ॥ ॐ ह्रीं अर्हं जीवास्तिकायिकस्यात्यासादनात्यागायानुष्ठितप्रोपधोद्योतनाय नमः ॥ १५ ॥ ॐ ह्रीं अर्हं पुद्गलास्तिकायिकस्यात्यासादनात्यागायानुष्ठितप्रोषधोद्योतनाय नमः ॥ १६ ॥ ॐ ह्रीं अर्हं धर्मास्तिकायिकस्यात्यासादनात्यागायानुष्ठितप्रोपधे द्योतनाय नमः ॥ १७ ॥ ॐ ह्रीं अर्हं अधर्मास्तिकायिकस्यात्यासादनात्यागायानुष्ठितप्रोपधोद्योतनाय नमः ॥ १८ ॥ ॐ ह्रीं अर्हं आकाशास्तिकायिकस्यात्यासादनात्यागायानुष्ठितप्रोषधोद्योतनाय नमः ॥ १९ ॥ ॐ ह्रीं अर्हं पृथ्वीकायिकस्यात्यासादनात्यागायानुष्ठितप्रोषधोद्योतनाय नमः ॥ २० ॥ ॐ ह्रीं अर्हं अप्कायिकस्यात्यासादनात्यागायानुष्ठितप्रोपधोद्योतनाय नमः ॥ २१ ॥ ॐ ह्रीं अर्हं तेजः कायिकस्यात्यासादनात्यागायानु ष्ठितप्रोपधोद्योतनाय नमः ॥ २२ ॥ ॐ ह्रीं अर्हं वायुकायिकस्यात्यासादनात्यागायानुष्ठितप्रोपधोद्योतनाय नमः ॥ २३ ॥ ॐ ह्रीं अर्हं वनस्पतिकायिकस्यात्यासादनात्यागायानुष्ठितप्रोपधोद्योतनाय नमः ॥ २४ ॥ ॐ ह्रीं अर्हं त्रसकायिकस्यात्यासादनात्यागायानुष्ठितप्रोपधोद्योतनाय नमः ॥ २५ ॥ ॐ ह्रीं अर्हं जीवपदार्थस्यात्यासादनात्यागायानुष्ठितप्रोपधोद्योतनाय नमः ॥ २६ ॥ ॐ ह्रीं अर्हं अजीवपदार्थस्यात्यासादनात्यागायानुष्ठितप्रोपधोद्योतनाय नमः ॥ २७ ॥ ॐ ह्रीं अर्हं आस्रवपदार्थस्यात्यासादनात्यागायानुष्ठितप्रोपधोद्योतनाय नमः ॥ २८ ॥ ॐ ह्रीं अर्हं बंधपदार्थस्यात्यासादनात्यागायानुष्ठितप्रोपधोद्योतनाय नमः ॥ २९ ॥ ॐ ह्रीं अर्हं संवरपदार्थस्यात्यासादनात्यागायानुष्ठितप्रोपधोद्योतनाय नमः ॥ ३० ॥ ॐ ह्रीं अर्हं निर्जरापदार्थस्यात्यासादनात्यागायानुष्ठितप्रोपधोद्योतनाय नमः ॥ ३१ ॥ ॐ ह्रीं अर्हं मोक्षपदार्थस्यात्यासादनात्यागायानुष्ठितप्रोपधोद्योतनाय नमः ॥ ३२ ॥ ॐ ह्रीं अर्हं पुण्यपदार्थस्यात्यासादनात्यागायानुष्ठितप्रोपधोद्योतनाय नमः ॥ ३३ ॥ ॐ ह्रीं अर्हं पापपदार्थस्यात्यासादनात्यागायानुष्ठितप्रोपधोद्योतनाय नमः ॥ ३४ ॥ ॐ ह्रीं अर्हं सम्यग्ज्ञानाय नमः ॥३५॥ ॐ ह्रीं अर्हं सम्यग्दर्शनाय नमः ॥ ३६ ॥ ॐ ह्रीं अर्हं सम्यक्चारित्राय नमः ॥ ३७ ॥

इति सर्वदोषप्रायश्चित्तविधि ।

अथ सामायिक पाठः।

सिद्धवस्तुवचो भक्त्या, सिद्धान् प्रणमतः सदा। सिद्धकार्याः शिवं प्राप्ताः, सिद्धिं ददतु नोऽव्ययाम् ॥ १ ॥ नमोस्तु धौतपापेभ्यः, सिद्धेभ्यः ऋषिसंसदि। सामायिकं प्रपद्येऽहं, भवभ्रमणसूदनम् ॥ २ ॥ साम्यं मे सर्वभूतेषु, वैरं मम न केनचित्। आशां सर्वां परित्यज्य, समाधिमहमाश्रये ॥ ३ ॥ रागद्वेषान्ममत्वाद्वा, हा मया ये विराधिताः। क्षमन्तु जंतवस्ते मां, क्षाम्यन्तु सदा तेभ्यः क्षमाम्यहं ॥ ४ ॥ मनसा वपुषा वाचा, कृतकारितसम्मतैः। रत्नत्रयभवं दोषं, गर्हे निन्दामि वर्जये ॥ ५ ॥ तैरश्चं मानवं दैवमुपसर्गं सहेऽधुना। कायाहारकषायादीन्, संत्यजामि त्रिशुद्धितः ॥ ६ ॥ रागद्वेषं भय शोकं, प्रहर्षौत्सुक्यदीनताः। व्युत्सृजामि त्रिधा सर्वमरतिं रतिमेव च ॥ ७ ॥ जीवने मरणे लाभेऽलाभे, योगे विपर्यये। बन्धावरौ सुखे दुःखे, सर्वदा समता मम ॥ ८ ॥ आत्मैव मे सदा ज्ञाने, दर्शने चरणे तथा। प्रत्याख्याने ममात्मैव, तथा संवरयोगयोः ॥ ९ ॥ एको मे शाश्वतश्चात्मा, ज्ञानदर्शनलक्षणः। शेषा बहिर्भवा भावाः, सर्वे संयोगलक्षणाः ॥ १० ॥ संयोगमूला जीवेन, प्राप्ता दुःखपरम्परा ॥ तस्मात्संयोगसम्बन्ध, त्रिधा सर्वं त्यजाम्यहम् ॥ ११ ॥ एवं सामायिकात्सम्यक्, सामायिकमखंडितम्। वर्तते मुक्तिमानिन्या, वशीभूताय ते नमः ॥ १२ ॥

इति सामायिक पाठः।

आचार्यशान्तिसागरस्तुतिः।

पूज्यातिपूज्यैर्यतिभिस्सुवन्द्यं संसारगम्भीरसमुद्रसेतुम्। ध्यानैकनिष्ठागरिमागरिष्ठं, आचार्यवर्यं प्रणमामि नित्यम् ॥ १ ॥ ध्यानादिसैन्य परि-

वर्ध्यं पूर्णं, कर्मारिवर्गं प्रणिहत्य वेगात् । नीरागस्वातंत्र्यपदे प्रतिष्ठ, आ०
॥ २ ॥ यो मुख्यसूरिर्मुनिनायकानां, आचारपारं गतवान्समग्रं । ध्यान-
प्रभावेण प्रवृद्धदीप्तिः, आ० ॥ ३ ॥ दुर्जेयकं द्वादशधा कषायं, जित्वा
निजात्मानुभवैकशुद्ध्या । षष्ठे गुणे सप्तमके गतं तं, आ० ॥ ४ ॥ आभ्य-
न्तरो बाह्य उपाधिभारः, दूरीकृतो येन वितृष्णभावात् । दैगम्बरं सुन्दर-
दिव्यकायं, आ० ॥ ५ ॥ धर्मामृतं पाययति प्रभूत, यो भव्यजीवान्
करुणास्वरूपः । स्वात्मस्वरूपं च चकार तेभ्यः आ० ॥ ६ ॥ योऽनेक-
साधून् विषयेष्वरक्तान्, निर्ग्रंथलिंगे विधिना चकार । गुरूपरागोपि च
वीतरागः, आ० ॥ ७ ॥ महागमीरंविशदीकृतार्थं, शास्त्राब्धिपारे गत-
वान् समग्रम् । तथापि प्रज्ञामदताविरक्तः, आ० ॥ ८ ॥ यथा कुन्दकुन्दः
सुरैर्वंद्यपादः, अभूत्साधुसंसेव्यमानप्रपादः । तथैवाधुना लोकपूज्य यती-
न्द्रं भजे सूरिवर्यं सदा साधुवंद्यम् ॥ ९ ॥ यथा दुष्टजीवेन घोरोपसर्गाः
कृताः पार्श्वनाथे त्रिलोकैकपूज्ये । तथा दुष्टलोकोपसर्गं सहिष्णुं भजे०
॥ १० ॥ यतीनामनेके यथा शिष्यवर्गाः, प्रभोः कुन्दकुन्दस्य सूरेरभूवन् ।
तथैवाधुना साधुसंदोहशिष्यम्, भजे० ॥ ११ ॥ यथा सूत्रचिन्हं हि रत्न-
त्रयस्य, पुरा भारते पूर्वसूर्यैर्निरुक्तम् । तथैवाधुना सूत्रचिन्हं दधान,
भजे० ॥ १२ ॥ शान्तेरगारं विनष्टारिमारं जगत्कञ्जमित्रं गुणाढ्यं पवि-
त्रम् । वरिष्ठैः सुपूज्य गरिष्ठप्रधानं, भजे० ॥ १३ ॥ गुरुर्भीमगौडा महा-
शक्तिशाली, स्वामाता सती सत्यरूपा सुरूपा । तयोः पुत्ररत्न जिताचा-
र्यरत्नं, भजे० ॥ १४ ॥ जगद्वल्लर्गीं कर्तयित्वा कृपाणीं, गृहीत्वा शुभ-
ध्यानरूपा स्वभावाम् । प्रपेदे गुणं सप्तमञ्चैकहीनं, भजे० ॥ १५ ॥
गुणागामनीरं भवाम्भोधितीरं, सदा निर्विकारं गृहीतात्मसारम् । कषायादि-
दुर्दण्डभेदं भजे० ॥ १६ ॥ महद्ध्याननिष्ठं महत्सु प्रकृष्ट, महर्षिप्रतिष्ठं
वचा यस्य मिष्टम् । चिदानंदरूपे स्वरूपे प्रविष्टं, भजे० ॥ १७ ॥ निर्ग्रंथ-
साधुमधुपव्रजराजमाना, त्वत्पादपद्मकलिका धवलाभिरामा । नक्षत्रवृन्द-
परिवेष्टितचन्द्रविम्बः, देवैः सुदृष्टिशुचिभिर्मघवा यथा वा ॥ १८ ॥
यत्पादसेवनरताः खलु भव्यलोकाः, संसारतो झटिति यांति विरक्तिबु-

द्धिम् ॥ यद्गीः प्रशस्यमहनीयसुहेतुपूता, पश्चाननस्य समतां सदसि व्यनक्ति ॥ १९ ॥ मिथ्यान्धकारपटलं प्रविहाय शीघ्रं, तत्त्वप्रसारकिरणैः सुखदैः समन्तात् । श्रद्धापरायणजनाम्बुजकोरकांश्च, सन्तोषयन् विगततापरविस्त्वमेव ॥ २० ॥ मिथ्यान्धकारपरिमर्दनरश्मिजालं, ज्ञानप्रकाशितजगत्प्रविकाशिसूर्यम् । ध्यानैकताननियतं मुनिराजसेव्यं, आचार्यवर्यगुरुपादमहं नमामि ॥ २१ ॥ गुणास्त्वदीयाः धवलाः गभीराः, सुरेन्द्रनागेन्द्रनरेन्द्रपूज्याः । विभाति सूरे ! तव दिव्यदेहे, ततोसि पूज्यः खलु विश्वलोके ॥ २२ ॥ दर्शं दर्शं सूरिशांतस्वरूपं पायं पायं वाक्यपीयूषधाराम् । स्मारं स्मारं तद्गुणान् स्पृष्टपादाः, जाताः शान्ताः साधवोऽक्षेष्वरक्ताः ॥२३॥ चित्ते चित्ते शान्तमूर्तेः सुबोधः, बोधे तत्स्वरूपानुरूपम् । रूपे रूपे स्वात्मवृत्तौ प्रवृत्ति वृत्तौ वृत्तौ कुन्थुनेमीन्दुवीराः ॥ २४ ॥ आसीद्यः खलु दक्षिणायनकरः पश्चादुदीच्यां गतः । ज्ञानध्यानतपःप्रभामयवपुः संधारयन् दीप्तिमान् ॥ सम्यग्ज्ञानमरीचिभिर्विकसिता आशाश्च येनाखिलाः । सोऽय सूरिरपूर्वभानुरुदितो लोके सदा शांतिदः ॥ २५ ॥ सुखदयाखिलबोधविधानया, विधिविशाखिकठोरकुठारया । विगतरागगुरुर्जिनदीक्षया, तरति तारयति भ्रमजालतः ॥ २६ ॥

इति आचार्यशान्तिसागरस्तुतिः ।

दैवसिकरात्रिकप्रतिक्रमणम् ।

जीवे प्रमादजनिताः प्रचुराः प्रदोषा, यस्मात्प्रतिक्रमणतः प्रलयं प्रयान्ति । तस्मात्तदर्थममलं मुनिबोधनार्थं, वक्ष्ये विचित्रभवकर्मविशोधनार्थम् ॥ १ ॥ पापिष्ठेन दुरात्मना जडधिया मायाविना लोभिना । रागद्वेषमलीमसेन मनसा दुष्कर्म यन्निर्मितम् ॥ त्रैलोक्याधिपते जिनेन्द्र ! भवतः श्रीपादमूलेऽधुना । निन्दापूर्वमहं जहामि सततं वर्वर्तिषुः सत्पथे ॥ २ ॥ खम्मामि सव्वजीवाणं सव्वे जीवा खमतु मे । मित्ती मे सव्वभूदेसु वेरं

मज्झं ण केण वि ॥ ३ ॥ रागबंधपदोसं च हरिसं दीणभावयं। उस्सुगत्तं भयं सोगं रदिमरदिं च वोस्सरे ॥ ४ ॥ हा! दुट्ठकयं हा! दुट्ठचिंतियं भासियं च हा दुट्ठ। अंतोअंतो डज्झमि पच्छुत्तावेण वेदंतो ॥ ५ ॥ दव्वे खेत्ते काले भावे य कदावराहसोहणयं। णिंदणगरहणजुत्तो मणवचकाएण पडिक्कमणं ॥ ६ ॥ एकेन्द्रिया द्वीन्द्रियास्त्रीन्द्रियाश्चतुरिन्द्रियाः पञ्चेन्द्रियाः पृथ्वीकायिका अप्कायिकास्तेजःकायिका वायुकायिका वनस्पतिकायिकास्त्रसकायिकाः, एतेषां उत्तापनं, परितापनं, विराधनं, उपघातः कृतो वा कारितो वा क्रियमाणो वा समनुमतस्तस्य मिथ्या मे दुष्कृतम्। व्रतसमितीन्द्रियरोधा लोच आवश्यकमचेलमस्नानं। क्षितिशयनमदन्तधावनं स्थितिभोजनमेकभक्तश्च ॥ १ ॥ एते खलु मूलगुणाः श्रमणानां जिनवरैः प्रज्ञप्ताः। अत्र प्रमादकृतादतिचारान्निवृत्तोऽहम् ॥२॥ छेदोपस्थापनं भवतु मम।

पञ्चमहाव्रतपञ्चसमितिपञ्चेन्द्रियरोधलोचषडावश्यक क्रियाः, अष्टाविंशतिमूलगुणाः, उत्तमक्षमामार्दवार्जवशौचसत्यसंयमतपस्त्यागाकिञ्चन्यब्रह्मचर्याणि दशलाक्षणिको धर्मः, अष्टादशशीलसहस्राणि, चतुरशीतिलक्षगुणाः, त्रयोदशविधं चारित्रं, द्वादशविधं तपश्चेति सकलं सम्पूर्णमर्हत्सिद्धाचार्योपाध्यायसर्वसाधुसाक्षिक सम्यक्त्वपूर्वक दृढव्रतं सुव्रतं समारूढ (ते ?) मे भवतु।

"अथ सर्वातिचारविशुद्ध्यर्थं दैवसिकप्रतिक्रमणक्रियायां कृतदोषनिराकरणार्थं पूर्वाचार्यानुक्रमेण सकलकर्मक्षयार्थं भावपूजावन्दनास्तवसमेतं आलोचनासिद्धभक्तिकायोत्सर्गं करोम्यहम्" इति प्रतिज्ञाप्य "णमो अरिहंताणं" इत्यादि सामायिकदण्डकं पठित्वा कायोत्सर्गं कुर्यात्। "थोस्सामि" इत्यादि चतुर्विंशतिस्तवं पठेत्। श्रीमते वर्धमानाय नमो नमितविद्विषे। यज्ज्ञानान्तर्गतं भूत्वा त्रैलोक्यं गोष्पदायते ॥ १ ॥ तवसिद्धे णयसिद्धे संजमसिद्धे चरित्तसिद्धे य। णाणम्मि दंसणम्मि य सिद्धे सिरसा णमंसामि ॥ २ ॥ इच्छामि भंते! सिद्धभत्तिकाओस्सग्गो कओ तस्सालोचेउ, सम्मणाणसम्मदंसणसम्मचरित्तजुत्ताणं, अट्ठविहकम्ममुक्काणं, अट्ठगुणसम्पण्णाणं, उड्ढ-

ढलोयमत्थयम्मि पइट्ठियाणं, तवसिद्धाणं, णयसिद्धाणं, संजमसिद्धाणं, चरित्त सिद्धाण अतीदाणागदवट्टमाणकालत्तयसिद्धाणं, सव्वसिद्धाणं, णिच्चकाल अंचेमि पूजेमि वंदामि णमंसामि दुक्खक्खओ कम्मक्खओ वोहिलाहो सुगइगमणं समाहिमरणं जिणगुणसंपत्ति होउ मज्झं ।

आलोचना

इच्छामि भगवन् ! चारित्राचारस्त्रयोदशविधः परिविभावितः पञ्च-महाव्रतानि पञ्चसमितयः त्रिगुप्तयश्चेति । तत्र प्रथमे महाव्रते प्राणाति-पाताद्विरमणम् । तस्य पृथिवीकायिका जीवा असंख्यातासंख्याताः, अप्का-यिका जीवा असंख्यातासंख्याताः, तेजः कायिका जीवा असंख्यातासं-ख्याताः, वायुकायिका जीवा असंख्यातासंख्याताः, वनस्पतिकायिका जीवा अनन्ताः, हरिताः, वीजाः, अंकुराः छिन्नाः भिन्नाः, तेषामुत्तापन, परितापनं, विराधन, उपघातः कृतो वा कारितो वा क्रियमाणो वा समनु-मतः, तस्य मिच्छामे दुष्कृतम् ॥ १ ॥ द्वीन्द्रिया जीवा असंख्यातासं ख्याताः, कुक्षिक्रमिशङ्खक्षुल्लकवराटक अक्ष अरिष्टबालशम्बूकशुक्तिपृथि-वीकायिकाः, तेषामुत्तापन, परितापन, विराधन, उपघातः कृतो वा कारितो वा क्रियमाणो वा समनुमतः, तस्य मिच्छा मे दुष्कृतम् ॥ २ ॥ त्रीन्द्रिया जीवा असंख्यातासंख्याताः कुन्थुदेहिकवृश्चिकेगोंभिक (?) गोयू-कामत्कुणपिपीलिकादिकास्तेषामुत्तापन० ॥ ३ ॥ चतुरिन्द्रिया जीवा असंख्यातासंख्याताः दशमशकमक्षिकापतङ्गकीटभ्रमरमधुकरगोमक्षिकादि-कास्तेषामुत्तापनं० ॥ ४ ॥ पंचेंद्रिया जीवा असंख्यातासंख्याताः अंडा-चिताः, पोताचिताः, जराचिताः, रसाचिताः, संस्वेदिनः,[१] सम्मूर्च्छिनः, उद्भेदिनः, उपपादिन अपि चतुरशीतियोनिप्रमुखशतसहस्रषु, एतेषामु-त्तापन० ॥ ५ ॥

अथेष्टदेवतानमस्कारानन्तर दैवसिकापाक्षिकचातुर्मासिकभेदेन त्रि प्रका-राणा प्रतिक्रमणाना । मध्ये दैवसिकप्रतिक्रमणायास्तावत्पीठिकादण्डकमाह—

इच्छामि भगवन ! दैवसिके आलोचयितुं पञ्चमहाव्रतानि । तत्र

प्रथमं महाव्रतं प्राणातिपाताद्विरमणं, द्वितीय महाव्रत मृषावादाद्विरमणं, तृतीयं महाव्रतमदत्तादानाद्विरमणं, चतुर्थं महाव्रतं मैथुनाद्विरमणं, पञ्चमं महाव्रतं परिग्रहाद्विरमणं, षष्ठमणुव्रतं रात्रिभोजनाद्विरमणं, ईर्यासमितौ, भाषासमितौ, एषणासमितौ आदाननिक्षेपणसमितौ, उच्चारप्रस्रवणश्लेष्म-शिंघाणकविकृतिप्रतिष्ठापनिकासमितौ, मनोगुप्तौ, वचोगुप्तौ, कायगुप्तौ, ज्ञानेषु, दर्शनेषु, चारित्रेषु, द्वाविंशतिषु, परीषहेषु, पञ्चविंशतिषु, भावनासु पञ्चविंशतिषु क्रियासु अष्टादशशीलसहस्रेषु चतुरशीतिगुणशतसहस्रेषु द्वादशानां संयमानां द्वादशानां तपसां, द्वादशानां अङ्गानां, चतुर्दशानां पूर्वाणां, दशानां मुण्डानां, दशानां श्रवणधर्मानां, दशानां धर्मध्यानां, नवानां ब्रह्मचर्यगुप्तीनां, नवानां नोकषायाणां, षोडशानां, कषायाणां, अष्टानां कर्मणा, अष्टानां प्रवचनमातृकाणां, अष्टानां शुद्धीनां, सप्तानां भवानां, सप्तविधसंसाराणां, षण्णा जीवनिकायानां, षण्णां आवश्यकानां, पञ्चानामिंद्रियाणां, पचानां महाव्रतानां, पंचानां समितीनां, पंचानां चारित्राणां, चतसृणां संज्ञानां, चतुर्णां प्रत्ययानां, चतुर्णां उप-सर्गाणां, मूलगुणानां, उत्तरगुणानां दृष्टिक्यां, पृष्टिक्यां, प्रादोषिक्यां, परितापनिक्यां, तस्य क्रोधेन, वा मानेन वा मायया वा लोभेन वा रागेन वा द्वेषेण वा मोहेन वा हास्येन वा भयेन वा प्रद्वेषेण वा प्रमादेन वा प्रेम्णा वा पिपासया वा लज्जया वा गौरवेण वा एतेषामत्यासनतायां त्रयाणां दण्डानां, तिसृणां लेश्यानां, त्रयाणां गौरवाणां, द्वयोरार्तरौद्रसंक्लेशपरिणामयोः, त्रयाणामप्रशस्तसंक्लेशपरिणामानां, मिथ्यादर्शनमिथ्याज्ञानमिथ्याचारित्राणां मिथ्यात्वप्रायोग्यं असंयमप्रायोग्यं कषायप्रायोग्यं योगप्रायोग्यं अप्रायोग्यसेवनताया प्रायोग्यगर्हायां, अत्र मे यः कश्चिद्देवासिकः रात्रिकः अतिक्रमः व्यतिक्रमः अतिचारः अनाचारः आभोगः अनाभोगः तस्य भगवन्! प्रतिक्रमामि मया प्रतिक्रान्तं, तस्य मे सम्यक्त्वमरण समाधिमरणं पण्डितमरणं वीर्यमरणं दुःखक्षयः कर्मक्षयः बोधिलाभः सुगतिगमनं समाधिमरण जिनगुणसंप्राप्तिर्भवतु मम। 'व्रतसमिती'—इत्यादि पठेत्। (इति प्रतिक्रमणपीठिकादण्डकाः)

अथ सर्वातिचारविशुद्ध्यर्थं दैवसिक-(रात्रिक) प्रतिक्रमणक्रियायां कृतदोषनिराकरणार्थं पूर्वाचार्यानुक्रमेण सकलकर्मक्षयार्थं भावपूजावंदना-स्तवसमेतं श्रीप्रतिक्रमणभक्तिकायोत्सर्गं करोम्यहम् । 'णमो अरहंताणं' (इत्यादि दण्डकं पठित्वा कायोत्सर्गं कुर्यात् । अनन्तरं) 'थोस्सामि' (इत्यादि पठेत्) ।

निषिद्धिकादंडकाः

णमो अरहंताणं णमो सिद्धाणं णमो आइरीयाणं ।
णमो उवज्झायाणं णमो लोए सव्वसाहूणं ॥

नमो जिनेभ्यः ३, नमो निसिद्धिकायै ३, नमोस्तु तुभ्यं ३, अर्हन्! सिद्ध ! बुद्ध ! नीरजः ! निर्मल ! सममनः ! शुभमनः ! समयोग ! समभाव ! शल्यघट्टानां शल्यघत्ताण ! निर्भय ! नीराग ! निर्दोष ! निर्मोह ! निर्मम ! निःशङ्क ! निःशल्य ! मानमायामृषामर्दक ! तपः-प्रभावन ! गुण-रत्न-शीलसागर ! अनन्त ! अप्रमेय ! महतिमहावीरवर्ध-मान बुद्धर्षेनमोऽस्तु तुभ्यं ३ ।

अर्हन्तश्च सिद्धाश्च बुद्धाश्च जिनाश्च केवलिनोऽवधिज्ञानिनो मनःपर्य-यज्ञानिनः चतुर्दशपुर्वाङ्गमिनः श्रुतसमितिसमृद्धाश्च, तपश्च द्वादशविध तपस्विनः, गुणाश्च गुणवन्तश्च, महर्षयः, तीर्थस्तीर्थंकराश्च, प्रवचनं प्रव-चनी च, ज्ञानं ज्ञानी च, दर्शनं दर्शनी च, संयमः संयताश्चविनयो विनी-ताश्च, ब्रह्मचर्यवासो ब्रह्मचारी च, गुप्तयश्चैव गुप्तिमन्तश्च, मुक्तयश्चैव मुक्तिमन्तश्च, समितयः समितिमन्तश्च, स्वसमयपरसमयविदः, क्षान्तिक्षप-काश्च क्षान्तिमन्तश्च, क्षीणमोहाः क्षणिवन्तश्च, बोधितबुद्धाश्च बुद्धि-मन्तश्च, चैत्यवृक्षाश्च चैत्यानि । (एते सर्वे मम मङ्गलं भवन्तु) ।

ऊर्ध्वाधस्तिर्यग्लोके सिद्धायतनानि नमस्करोमि, सिद्धनिषिद्धकाः अष्टा-पदपर्वते सम्मेदे ऊर्ज्वयन्ते चम्पायां पावायां मध्यमायां हस्तिवालिकामण्डपे (नमस्यामीति सम्बन्धः) । या अन्याः काश्चित् निषिद्धिकाः जीवलोके ईषत्प्राग्भारतलगतानां सिद्धानां बुद्धानां कर्मचक्रमुक्तानां नीरजसां निर्म-

लानां गुर्वाचार्योपाध्यायानां प्रवर्तिस्थविरकुलकराणां (नमस्यामि) चतुर्वणश्च श्रमणसंघश्च भरतैरावतेषु दशसु पञ्चसु महाविदेहेषु (मम मङ्गलं भूयात्) ये लोके संति साधवः संयता तपस्विन एते मम मंगलं पवित्रं। एतानहं मगल करोमि भावतो विशुद्धयः शिरसा, अभिवन्द्य सिद्धान् कृत्वाञ्जलिं मस्तके त्रिविधं त्रिकरणशुद्धः।

१. प्रतिक्रमामि भदन्त ! दैवसिकस्यातिचारस्य अनाचारस्य मनोदुश्चरित्रस्य वचनदुश्चरित्रस्य कायदुश्चरित्रस्य ज्ञानातिचारस्य दर्शनातिचारस्य तपोऽतिचारस्य वीर्यातिचारस्य चारित्रातिचारस्य पञ्चानां महाव्रतानां पञ्चानां समितीनां तिसृणां गुप्तीना षण्णामावश्यकानां षण्णां जीवनिकायानां विराधनायां पीलः (पीडा) कृतो वा कारितो वा क्रियमाणो वा समनुमतः तस्य मिच्छा मे दुष्कृतम्...... ।

२. अतिगमने निर्गमने स्थाने गमने चक्रमणे उद्वर्त्तने परिवर्तने आकुञ्चने प्रसारणे आमर्शे परिमर्शे उत्स्वपनापिते (पूतकृते वा) दन्तकटकायिने (अतीवकर्कशशब्दे वा) चलिते निषण्णे शयने सुप्तस्योत्थाय उद्भवने उद्भस्य उपविश्य शयने एकेन्द्रियाणां...... संघट्टनया संघातनया उत्तापनया परितापनया विराधनायां यत्र मे यः कश्चिद्दैवसिको रात्रिकोऽतिक्रमो व्यतिक्रमोऽतिचारोऽनाचारस्तस्य...... ।

३. ऐर्यापथिकायां विराधनायां ऊर्ध्वमुखं चरता वा अधोमुखं चरता वा तिर्यग्मुखं चरता वा दिशामुखं चरता वा विदिशामुखं चरता वा प्राणाचंक्रणतः बीजचंक्रमणतः हरितचंक्रमणतः उत्तिंग-पणक-दकमृद्-मर्कटक तन्तु-सत्वाना चंक्रमणतः पृथ्वीकायिकसंघट्टनया अप्कायिकसंघट्टनया तेजःकायिकसंघट्टनया वायुकायिकसंघट्टनया वनस्पतिकायिकसंघट्टनया त्रसकायिकसघट्टनया उत्तापनया परितापनया विराधनायां एतस्या मे यः कश्चिदैर्यापथिक्याम्...... ।

४. उच्चारप्रस्रवणक्ष्वेलसिंहानकविकृतिप्रतिस्थापनिकायां प्रतिस्थापयता ये केचित्प्राणा वा भूता वा जीवा वा सत्वा वा संघट्टिता वा संघातिता वा उत्तापिता वा परितापिता वा एतस्मिन् .... ।

५. अनेषणया पानभोजनेन पणकभोजनेन बीजभोजनेन हरितभोजनेन अधःकर्मणा वा पश्चात्कर्मणा वा पुराकर्मणा वा उद्दिष्टकृतेन निर्दिष्टकृतेन दयासंसृष्टकृतेन रससंसृष्टकृतेन परिसातनिकया प्रतिष्ठापनिकया उद्देशिकया निर्देशिकया क्रीतकृते मिश्रे जाते स्थापिते रचिते अनिसृष्टे बलिप्राभृते प्राभृते घट्टिते मूर्छिते अतिमात्रभोजने एतस्यां (अनेषणायां) मे यः कश्चित् गोचरिशः .....।

६. स्वप्नेन्द्रियाया विराधनायां स्त्रीविपरियासिकायां दृष्टिविपरियासिकायां मनोविपरियासिकायां वचोविपरियासिकायां कायविपरियासिकायां भोजनविपरियासिकाया उच्च्यावज्ञाया स्वप्नदर्शनविपरियासिकायां पूर्वरते पूर्वखेलिते नानाचिन्तासु विश्रोत्रिकासु, एतस्या .....।

७. स्त्रीकथाया अर्थकथायां भक्तकथाया राजकथायां चोरकथायां वैरकथायां परपापण्डकथायां देशकथायां भाषाकथायां अकथायां विकथायां निष्ठुरकथायां परपैशून्यकथायां कान्दर्पिक्यां कौतुत्कुचिकायां डाम्बरिकायां मौखरिकायां आत्मप्रशंसनतायां परपरिवादनतायां परजुगुप्सनतायां परपीडनकरायां सावद्यानुमोदनिकायां एतस्यां .....।

८. आर्तध्याने रौद्रध्याने इहलोकसंज्ञाया परलोकसज्ञायां आहारसज्ञाया भयसज्ञायां मैथुनसज्ञाया परिग्रहसज्ञाया क्रोधशल्ये मानशल्ये मायाशल्ये लोभशल्ये प्रेमशल्ये पिपासाशल्ये निदानशल्ये मिथ्यादर्शनशल्ये क्रोधकषाये मानकषाये मायाकषाये लोभकषाये कृष्णलेश्यापरिणामे नीललेश्यापरिणामे कापोतलेश्यापरिणामे आरंभपरिणामे परिग्रहपरिणामे प्रतिश्रयाभिलाषपरिणामे मिथ्यादर्शनपरिणामे असंयमपरिणामे कषायपरिणामे पापयोगपरिणामे कायसुखाभिलाषपरिणामे शब्देषु रूपेषु गंधेषु रसेषु स्पर्शेषु कायिकाधिकरणिकायां प्रदोषिकायां परिद्रावणिक्यां प्राणातिपातिकासु, एतस्मिन् .. ....।

९ एकस्मिन् भावे अनाचारे, द्वयो रागद्वेषयोः, त्रिषु दण्डेषु, तिसृषु गुप्तिषु त्रिषु, गौरवेषु, चतुःषु, चतसृषु संज्ञासु, पञ्चसु महाव्रतेषु, पञ्चसु समितिषु, षट्सु जीवनिकायेषु, षट्सु आवश्यकेषु सप्तसु

भयेपु, अष्टसु मदेषु नवसु ब्रह्मचर्यगुप्तिषु, दशविधेषु श्रमणधर्मेषु, एकादशविधासु उपासकप्रतिमासु, द्वादशविधासु भिक्षुप्रतिमासु, त्रयोदशविधेषु क्रियास्थानेषु, चतुर्दशविधेषु भूतग्रामेषु पञ्चदशविधेषु प्रमादस्थानेषु षोडशविधेषु प्रवचनेषु, सप्तदशविधेसु असंयमेषु अष्टादशविधेषु असम्परायेषु, एकोनविंशतौ नाथाध्ययनेषु, विंशतौ असमाधिस्थानेषु, विंशेषु सबलेषु, द्वाविंशेषु परीसहेषु, त्रयोविंशेषु सूत्रकृताध्ययनेषु, चतुर्विंशेषु अर्हत्सु, पञ्चविंशतौ भावनासु, पञ्चविंशेषु क्रियास्थानेषु, षड्विंशतौ पृथिवीषु, सप्तविंशेषु अनगारगुणेषु, अष्टाविंशेषु आचारकल्पेषु एकोनत्रिंशत्सु पापसूत्रप्रसङ्गेषु, त्रिंशत्सु मोहनीयस्थानेषु, एकत्रिंशत्सु कर्मविपाकेषु द्वात्रिंशत्सु जिनोपदेशेषु त्रयस्त्रिंशत्प्रकारायां अत्यासादनतायां, संक्षेपेण जीवानामत्यासादनतायां, अजीवानामत्यासदनतायां, ज्ञानस्यात्यासादनतायां दर्शनस्य अत्यासादनतायां चारित्रस्यात्यासादनतायां तपसःअत्यासादनतायां वीर्यस्य अत्यासादनतायां तत्सर्वं पूर्वं दुश्चरित्र गर्हे, प्रत्युत्पन्नं अतिक्रान्तं प्रतिक्रमामि अनागतं प्रत्याख्यामि, अगर्हितं गर्हे, अनिन्दित निन्दामि, अनालोचितं आलोचयामि, अराधनां अभ्युत्तिष्ठामि, विराधनां प्रतिक्रमामि... ... ।

१०. इच्छामि भगवन्! इमं निर्ग्रंथ प्रवचन अनुत्तरं केवलियं परिपूर्ण नैकायिकसामायिकं संशुद्ध शल्यघट्टानां शल्यघातन सिद्धिमार्गं श्रेणिमार्गं, क्षांतिमार्गं मुक्तिमार्गं, प्रमुक्तिमार्गं मोक्षमार्गं प्रमोक्षमार्गं निर्याणमार्ग निर्वाणमार्ग सर्वदुःखपरिहाणिमार्ग सुचरित्रपरिनिर्वाणामार्ग अविसंपादक समाश्रयन्ति, प्रवचनं उत्तमं, तच्छ्रद्दधामि, तत्प्रतिपद्ये, तद्रोचे, तत्स्पृशामि, इद उत्तरमन्यन्नास्ति न भूतं [न भवति] न भविष्यति ज्ञानेन वा दर्शनेन वा चारित्रेण वा सूत्रेण वा । इतो जीवा सिद्ध्यंति बुद्ध्यन्ते मुच्यन्ते परिनिर्वायत्ति सर्वदुःखानामन्तं कुर्वंति परिविजानति, श्रमणोऽस्मि संयतोऽस्मि उपरतोऽस्मि उपशान्तोऽस्मि उपधिनिकृतिमानमायामृषामिथ्याज्ञानमिथ्यादर्शनमिथ्याचारित्र च प्रतिविरतोऽस्मि, सम्यग्ज्ञान सम्यग्दर्शनं सम्यग्चारित्रं च रोचे, यज्जिनवरैः प्रज्ञप्त अत्र.... ... ।

११. प्रतिक्रमामि भदन्त ! सर्वस्य, सर्वकालिक्याः, ईर्यासमितेः

भाषासमितेः एषणासमितेः आदाननिक्षेपणासमितेः उच्चार प्रश्रवण-खेल-सिंघाणक विकृतिप्रतिष्ठापनसमितेः मनोगुप्तेः वचोगुप्तेः कायगुप्तेः प्राणातिपाताद्विरमणायाः मृषावादाद्विरमणायाः अदत्तादानाद्विरमणायाः मैथुनाद्विरमणायाः परिग्रहाद्विरमणायाः रात्रिभोजनाद्विरमणायाः सर्वविराधनायाः सर्वधर्मातिक्रमतायाः सर्वमिथ्याचरितायाः (विशुद्धेर्निमित्तं) अत्र...... ।

इच्छामि भदन्त ! वीरभक्तिकायोत्सर्गं यो मम दैवसिको रात्रिकोऽतिचारोऽनाचार आभोगोऽनाभोगः कायिको वाचिको मानसिकः दुश्चिन्तितः दुर्भाषितः दुष्परिणामितः दुःस्वमितः ज्ञाने दर्शने चारित्रे सूत्रे सामायिके पञ्चानां महाव्रतानां पञ्चानां समितीनां तिसृणां गुप्तीनां षण्णां जीवनिकायानां षण्णां आवश्यकाना विराधनायां अष्टविधस्य कर्मणाः निर्घातनस्य अन्यथा उच्छ्वासितेन वा निःश्वासितेन वा उन्मिषितेन वा निर्मिषितेन वा खात्कृतेन वा छीत्कृतेन वा जम्भायितेन वा सूक्ष्मैः अङ्गचलाचलैः दृष्टिचलाचलैः एतैः सर्वैः असमाधिप्राप्तैः आचारैः, यावदर्हतां भगवतां पर्युपासनं (दैवसिकप्रतिक्रमणायामष्टोत्तरशतोच्छ्वासैः षट्त्रिंशद्वारान् पञ्चनमस्कारोच्चारणं रात्रिप्रतिक्रमणायां तु चतुःपंचाशदुच्छ्वासैः अष्टादशवारान् पंचनमस्कारोच्चारणं पर्युपासन) करोमि तावत्कायं पापकर्म दुश्चरित व्युत्सृजामि ।

मुनिप्रतिक्रमणम्

३. (इच्छामि भंते ! अट्ठमियम्मि आलोचेउं, अट्ठण्ह दिवसाणं अट्ठण्ह राईणं अब्भंतरादो पञ्चविहो आयारो णाणायारो दंसणायारो तवायारो वीरियायारो चरित्तायारो चेदि ।

इच्छामि भंते ! पक्खियम्मि आलोचेउं, पण्णरसण्हं दिवसाणं पण्णरसण्हं राईणं अब्भंतराओ पञ्चविहो आयारो णाणायारो दंसणायारो तवायारो वीरियायारो चरित्तायारो चेदि ।

इच्छामि भंते ! चाउमासियम्मि आलोचेउं, चउण्हं मासाणं अट्ठण्हं पक्खाणं वीसुत्तरसयदिवसाणं वीसुत्तरसयराईण अब्भंतराओ पचविहो आयारो णाणायारो दंसणायारो तवायारो वीरियायारो चरित्तायारो चेदि ।

इच्छामि भंते ! संवच्छरियम्मि आलोचेउ, बारसण्हं मासाणं, चउव्वीसण्हं पक्खाणं, तिण्हं छावट्ठिसयदिवसाणं, तिण्हं छावट्ठिसयराईण अब्भतराओ पञ्चविहो आयारो णाणायारो दंसणायारो तवायारो वीरियायारो चरित्तायारो चेदि ।

तत्थ णाणायारो, काले, विणए, उवहाणे, बहुमाणे, तहेव अणिण्हवणे, विंजण-अत्थ-तदुभये चेदि णाणायारो अट्ठविहो परिहाविदो, से अक्खहीणं वा, सरहीणं वा, पदहीणं वा, विंजणहीणं वा, अत्थहीणं वा, गथहीणं वा, थएसु वा, थुईसु वा, अत्थक्खाणेसु वा, अणियोगेसु वा अणियोगद्दारेसु वा, अकाले सज्झाओ कओ वा, कारिदो वा, कीरंतो वा समणुमण्णिदो, काले वा परिहाविदो, अच्छाकारिद, मिच्छा मेलिदं, आमेलिदं, वामेलिद, अण्णहादिण्ण, अण्णहा पडिच्छिद, आवासएसु परिहीणदाए, तस्स मिच्छा मे दुक्कड ॥ १ ॥

दंसणायारो अट्ठविहो, णिस्संकिय णिक्कंखिय णिव्विदिगिंछा अमूढदिट्ठी य, उवगूहण ठिदिकरणं वच्छल्ल पहावणा चेदि । अट्ठविहो परिहाविदो, संकाए कंखाए विदिगिंछाए अण्णदिट्ठीपसंसणणाए परपाखण्डपसंसणदाए अणायदणसेवणदाए अवच्छल्लदाए अप्पहावणदाए, तस्स मिच्छा मे दुक्कडं ॥ २ ॥

तवायारो बारसविहो, अब्भतरो छव्विहो बाहिरो छव्विहो चेदि तत्थ बाहिरो अणसणं आमोदरिय वित्तिपरिसंखा रसपरिच्चाओ सरीरपरिच्चाओ विवित्तसयणासणं चेदि । तत्थ अब्भंतरो पायच्छित्तं विणओ वेज्जावच्चं सज्झाओ झाणं विउस्सग्गो चेदि । अब्भतरं बाहिरं बारसविह तवोकम्म

ण कदं णिंसण्णेण, पडिक्कंतं, तस्स मिच्छा मे दुक्कडं ॥ ३ ॥

वीरियायारो पञ्चविहो परिहाविदो वरवीरियपरिक्कमेण[1] जहुत्तमाणेण[2] बलेण[3] वीरिएण[4] परिक्कमेण[5] णिगूहियं तवोकम्मं ण कम णिसण्णेण पडिक्कतं तस्स मिच्छा मे दुक्कडं ॥ ४ ॥

चरित्तायारो तेरसविहो परिहाविदो, पञ्चमहव्वयाणि, पञ्च समिदीओ, तिगुत्तीओ चेदि । तत्थ पढममहव्वदं पाणादिवादादो वेरमणं । से पुढविकाइया जीवा असंखेज्जासंखेज्जा, आउकाइया जीवा असंखेज्जासंखेज्जा, तेउकाइया जीवा असंखेज्जासंखेज्जा, वाउकाइया जीवा असंखेज्जासंखेज्जा, वणप्फदिकाइया जीवा अणंताणंत, हरिया बीया अंकुरा छिण्णा भिण्णा, तस्स उदावणं परिदावणं विराहणं उवघादो कदो वा कारिदो वा कीरंतो वा समणुमण्णिदो तस्स मिच्छा मे दुक्कडं ।

बेइंदिया जीवा असंखेज्जासंखेज्जा, कुक्खिकिमि-शङ्ख-खुल्लयवराडयअक्ख रिट्ठ-गडवाल-संबुक्क-सिप्पि-पुलविकाइया तेसिं उद्दावणं परिदावणं विराहण उवघादो कदो वा कारिदो वा कीरंतो वा समणुमण्णिदो तस्स मिच्छा मे दुक्कडं ।

तेइंदिया जीवा असंखेज्जासंखेज्जा, कुंथु-देहिय-विंछियगोभिंदगोजूव-मक्कुण-पिपीलियाइया, तेसिं उद्दावणं परिदवाणं विराहणं उवघादो कदो वा कारिदो वा कीरंतो वा समणुमण्णिदो तस्स मिच्छा मे दुक्कडं ।

चउरिंदिया जीवा असंखेज्जासंखेज्जा, दसमंसय-मक्खियपयंग-कीडभमर- महुयरि-गोमक्खियाइया, तेसिं उद्दावणं परिदावणं विराहणं उवघादो कदो वा कारिदो वा कीरंतो वा समणुमण्णिदो तस्स मिच्छा मे दुक्कडं ।

पंचिंदिया जीवा असंखेज्जासंखेज्जा, अंडाइया पोदाइया जराइया रसाइया संसेदिमा सम्मुच्छिमा उब्भेदिमा उववादिमा अवि चउरासीदिजोणिपमुहसदसहस्सेसु, एदेसिं उद्दावणं परिदावणं विराहणं उवघादो कदो वा कारिदो वा कीरंतो वा समणुमण्णिदो तस्स मिच्छा मे दुक्कडं ॥१॥

अहावरे दुव्वे महव्वदे मुसावादादो वेरमणं, से कोहेण वा माणेण

वा माएण वा लोहेण वा राएण वा दोसेण वा मोहेण वा हस्सेण वा भएण वा पमादेण वा पेम्मेण वा पिवासेण वा लज्जेण वा गारवेण वा अणादरेण वा केणवि कारणेण जादेण वा सव्वो मुसावादो भासिओ भासाविओ भासिज्जतो वि समणुमण्णिदो तस्स मिच्छा मे दुक्कडं ॥२॥

आहावरे तव्वे महव्वदे अदिण्णदाणादो वेरमणं, से गामे वा णयरे वा खेडे वा कव्वडे वा मंडवे वा मडले वा पट्टणे वा दोणमुहे वा घोसे वा आसमे वा सहाए वा संवाहे वा सण्णिवेसे वा तिणं वा कट्ठ वा वियडिं वा मणि वा एवमाइयं अदत्तं गिण्हियं गेण्हाविय गेण्हिज्जत समणुमण्णिदो तस्स मिच्छा मे दुक्कडं ॥ ३ ॥

आहावरे चउत्थे महव्वदे मेहुणादो वेरमणं, से देविएसु वा माणुसिएसु वा तेरिच्छिएसु वा अचेयणिएसु वा मणुणामणुणेसु रूवेसु मणुणामणुणेसु सद्देसु मणुणामणुणेसु गंधेसु मणुणामणुणेसु रसेसु मणुणामणुणेसु फासेसु चक्खिदियपरिणामे सोदिंदियपरिणामे घाणिंदियपरिणामे जिब्भिदियपरिणामे फासिंदियपरिणामे णोइंदियपरिणामे अगुत्तेण अगुत्तिंदिएण णवविहं बंभचरियं ण रक्खियं ण रक्खावियं ण रक्खिज्जंतो वि समणुमण्णिदो तस्स मिच्छा मे दुक्कडं ॥ ४ ॥

आहावरे पञ्चमे महव्वदे परिग्गहादो वेरमणं, सो वि परिग्गहो दुविहो अब्भतरो बाहिरो चेदि तत्थ अब्भंतरो परिग्गहो णाणावरणीयं दंसणावरणीयं वेयणीय मोहणीय आउग्ग णाम गोदं अंतराय चेदि अट्ठविहो तत्थ बाहिरो परिग्गहो उवयरण-भड-फलह पीढ-कमडलु-संथार सेज्जउवसेज्ज-भत्त-पाणादिभेएण अणयेविहो, एदेण परिग्गहेण अट्ठविह कम्मरयं बद्धं बद्धावियं बद्धज्जंतं पि समणुमण्णिदो तस्स मिच्छा मे दुक्कड ॥५॥

आहावरे छट्ठे अणुव्वदे राइभोयणादो वेरमणं, से असणं पाणं खाइयं रसाइयं चेदि चउव्विहो आहारो, से तित्तो वा कडुओ वा कसाइलो वा अमिलो वा महुरो वा लवणो वा दुच्चिंतिओ दुब्भासिओ दुप्परिणामिओ दुस्सिमिणिओ रत्तीए भुत्तो भुजवियो भुंजिजंतो वा समणुमण्णिदो तस्स मिच्छा मे दुक्कडं ॥ छ ॥

पंचसमिदीओ ईरियासमिदी भासासमिदी एसणासमिदी आदावण-णिक्खेवणसमिदी उच्चारपस्सवणखेलसिंहाणयवियडिपइट्ठावणासमिदी चेदि। तत्थ ईरियासमिदी पुव्वुत्तरदक्खिणपच्छिमचउदिसिविदिसासु विहरमाणेण जुगंतरदिट्ठिणा दट्ठव्वा डवडवचरियाए पमाददोसेण पाण-भूद-जीव-सत्ताणं उवघादो कदो वा कारिदो वा कीरंतो वा समणुमण्णिदो तस्स मिच्छा मे दुक्कडं ॥ ६ ॥

तत्थ भासासमिदी कक्कसा कडुया परुसा णिट्ठुरा परकोहिणी मज्झंकिसा अइमाणिणी अणयंकरा छेयंकरा भूयाण वहंकरा चेदि दस-विहा भासा भासिया भासाविया भासिज्जंतो पि समणुमण्णिदो तस्स मिच्छा मे दुक्कडं ॥ ७ ॥

तत्थ एसणासमिदी आहाकम्मेण वा पच्छाकम्मेण वा पुराकम्मेण वा उद्दिट्ठयडेण वा णिद्दिट्ठयडेण वा कीडयडेण वा साइया रसाइया सइ-गाला सधूमिया अइगिद्धीए अग्गीव छण्हं जीवणिकायाणं विराहणं काऊण अपरिसुद्ध भिक्खं अण्णं पाणं आहारादियं आहारिय आहारावियं आहारि-ज्जंतो पि समणुमण्णिदो तस्स मिच्छा मे दुक्कडं ॥ ८ ॥

तत्थ अदावणणिक्खवणसमिदी चक्कल वा फलहं वा पोथयं वा कमंडलं वा वियडिं वा मणिं वा एवमाइया उवयरणं अप्पडिलेहिऊण गेण्हतेण वा ठवतेण वा पाण-भूद-जीव-सत्ताण उवघादो कदो वा कारिदो वा कीरंतो वा समणुमण्णिदो तस्स मिच्छा मे दुक्कड ॥ ९ ॥

तत्थ उच्चार-पस्सवण-खेल-सिंहाणय-वियडिपइट्ठावणिया समिदी रत्तीए वा वियाले वा अचक्खुविसए अवत्थंडिले अब्भोवयासे सणिद्धे सवीए सहरिए एवमाइएसु अप्पासुगट्ठाणेसु पइट्ठावतेण पाण-भूद-जीव-सत्ताण उवघादो कदो वा कारिदो वा कीरंतो वा समणुमण्णिदो तस्स मिच्छा मे दुक्कड ॥ १० ॥

तिण्णि गुत्तीओ, मणगुत्तीओ वचिगुत्तीओ कायगुत्तीओ चेदि, तत्थ मणगुत्ती अट्टे झाणे रुद्दे झाणे इहलोयसण्णाए परलोयसण्णाए आहारसण्णाये भयसण्णाए मेहुणसण्णाए परिग्गहसण्णाये एवमाइया जा

मणगुत्ती ण रक्खिया ण रक्खाविया ण रक्खिज्जंतो पि समणुमण्णिदो तस्स मिच्छा मे दुक्कडं ॥ ११ ॥

तत्थ वचिगुत्ती इत्थिकहाए अत्थकहाए भत्तकहाए रायकहाए चोरकहाए वेरकहाए परपासंडकहाए एवमाइयासु जा रक्खिया वचि गुत्ती ण रक्खिया ण रक्खाविया ण रक्खिज्जंतं पि समणुमण्णिदो तस्स मिच्छा मे दुक्कडं ॥ १२ ॥

तत्थ कायगुत्ती चित्तकम्मेसु वा पोत्तकम्मेसु वा कट्ठकम्मेसु वा लेप्पकम्मेसु वा एवमाइयासु जा कायगुत्ती ण रक्खिया ण रक्खाविया ण रक्खिज्जंतो पि समणुमण्णिदो तस्स मिच्छा मे दुक्कडं ॥ १३ ॥

णवसु बंभचेरगुत्तीसु, चउसु सण्णासु, चउसु पच्चएसु, दोसु अट्ट-रुद्दसंकिलेसपरिणामेसु, तीसु अप्पसत्थसंकिलेसपरिणामेसु, मिच्छाणाण-मिच्छादंसण-मिच्छाचरित्तेसु, चउसु उवसग्गेसु, पञ्चसु चरित्तेसु, छसु जीवणिकाएसु, छसु आवासएसु, सत्तसु भएसु, अट्ठसु सुद्धीसु, (णवसु वभचेरगुत्तीसु) दससु समणधम्मेसु, दससु धम्मज्झाणेसु, दससु मुंडेसु, वारसेसु संजमेसु, वावीसाए परीसहेसु, पणवीसाए भावणासु, पणवीसाए किरियासु, अट्ठारससीलसहस्सेसु, चउरासीदिगुणसयसहस्सेसु, मूलगुणेसु, उत्तरगुणेसु, अट्ठमियम्मि पक्खियम्मि चउमासियम्मि संवच्छरियम्मि अइक्कमो वदिक्कमो अइचारो अणाचारो आभोगो अणाभोगो जो तं पडिक्कमामि मए पडिक्कतं, तस्स मे सम्मत्तमरणं समाहिमरणं पंडियमरणं वीरियमरणं दुक्खक्खओ कम्मक्खओ बोहिलाहो सुगइगमणं समाहिमरणं जिणगुणसम्पत्ति होउ मज्झं ।

प्रतिक्रमणादण्डकः—

णमो अरहंताणं णमो सिद्धाणं णमो आइरियाणं ।
णमो उवज्झायाणं णमो लोए सव्वसाहूणं ॥ १ ॥

णमो जिणाणं, णमो ओहिजिणाणं, णमो परमोहिजिणाणं, णमो

सव्वोहिजिणाणं, णमो अणंतोहिजिणाणं, णमो कोट्ठबुद्धीणं, णमो बीज-बुद्धीणं, णमो पादाणुसारीणं, णमो संभिण्णसोदाराणं, णमो सयंबुद्धाणं, णमो पत्तेयबुद्धाणं, णमो बोहियबुद्धाणं, णमो उजुमदीणं, णमो विउल-मदीणं, णमो दसपुव्वीणं, णमो चउदसपुव्वीणं, णमो अट्ठंगमहाणिमित्त-कुसलाणं, णमो विउव्वइड्ढिपत्ताणं, णमो विज्जाहराणं, णमो चारणाणं, णमो पण्णसमणाणं, णमो आगासगामीणं, णमो आसीविसाणं णमो दिट्ठिविसाणं, णमो उग्गतवाणं, णमो दित्ततवाणं, णमो तत्ततवाणं, णमो महातवाणं, णमो घोरतवाणं, णमो घोरगुणाणं, णमो घोरपरक्कमाणं, णमो घोरगुणबंभयारीणं, णमो आमोसहिपत्ताणं, णमो खेल्लोसहिपत्ताणं णमो जल्लोसहिपत्ताणं, णमो विप्पोसहिपत्ताणं, णमो सव्वोसहिपत्ताणं, णमो मणबलीणं, णमो वचिबलीणं, णमो कायबलीणं, णमो खीरसवीणं, णमो सप्पिसवीणं, णमो महुरसवीणं, णमो अमियसवीणं, णमो अक्खीण-महाणसाणं, णमो वड्ढमाणाणं णमो सिद्धायदणाणं, णमो भयवदो मह-दिमहावीरवड्ढमाणबुद्धरिसीणो चेदि। जस्संतियं धम्मपहं णियच्छे तस्सं-तियं वेणइयं पउंजे। काएण वाचा मणसावि णिच्चं सक्कारए तं सिरपञ्च-मेण ॥ १ ॥

सुदं मे आउस्संतो! इह खलु समणेण भयवदा महदि महावीरेण महाकस्सवेण सव्वण्हुणा सव्वलोगदरिसिणा सदेवासुरमाणुसस्स लोयस्स आगदिगदिचवणोववादं बंधं मोक्खं इड्ढिं ठिदिं जुदिं अणुभागं तक्कं कलं मणोमाणसियं भुत्तं कयं पडिसेवियं आदिकम्मं अरुहकम्मं सव्वलोए सव्वजीवे सव्वभावे सव्वं समं जाणंता पस्संता विहरमाणेण समणाणं पञ्च-महव्वदाणि राईभोयणवेरमणछट्ठाणि सभावणाणि समाउगपदाणि सउत्तर-पदाणि सम्मं धम्मं उवदेसिदाणि। तं जहा—

पढमे महव्वदे पाणादिवादादो वेरमणं, विदिए महव्वदे मुसावादादो वेरमणं, तिदिए महव्वदे अदिण्णादाणादो वेरमणं, चउत्थे महव्वदे मेहु-णादो वेरमणं, पञ्चमे महव्वदे परिग्गहादो वेरमणं, छट्ठे अणुव्वदे राईभोय-णादो वेरमणं चेदि।

तत्थ पढमे महव्वदे सव्व भंते! पाणादिवादं पच्चक्खामि जावज्जीव तिविहेण मणसा वचिया काएण, से एइंदिया वा, बेइंदिया वा, तेइंदिया वा, चउरिंदिया वा, पंचिंदिया वा, पुढविकाइए वा आउकाइए वा तेउ-काइए वा वणप्फदिकाइये वा तसकाइए वा अंडाइए वा पोदाइए वा जराइए वा रसाइए वा संसेदिमे वा सम्मुच्छिमे वा उब्भेदिमे वा उववा-दिमे वा तसे वा थावरे वा बादरे वा सुहुमे वा पाणे वा भूदे वा जीवे वा सत्ते वा पज्जत्ते वा अपज्जत्ते वा अवि चउरासीदिजोणिपमुहसदसह-स्सेसु, णेव सयं पाणादिवादिज्ज णो अण्णेहि पाणे अदिवादावेज्ज अण्णेहिं पाणे अदिवादिज्जतो वि ण समणुमणेज्ज तस्स भंते! अइचारं पडिक्क-मामि णिंदामि गरहामि अप्पाणं, वोस्सरामि पुव्विंचणं भंते! जं पि मए रागस्स वा दोसस्स वा मोहस्स वा वसगदेण सय पाणे अदिवादाविदे अण्णेहि पाणे अदिवादाविदे अण्णेहिं पाणे अदिवादिज्जते विं समणुमणिणदे तं पि इमस्स णिग्गंथस्स पावयणस्स अणुत्तरस्स केवलिपस्स केवलिपण्ण-त्तस्स धम्मस्स अहिंसालक्खणस्स, सच्चाहिट्ठियस्स विणय मूलस्स खमाब-लस्स अट्ठारससीलसहस्सपरिमडियस्स चउरासीदिगुणसयसहस्सविहूसियस्स णववंभचेरगुत्तस्स नियतिलक्खणस्स परिचायफलस्स उवसमपहाणस्स खंतिमग्गदेसयस्स मुत्तिमग्गपयासयस्स सिद्धिमग्गपज्जवसाहणस्स, से कोहेण वा माणेण वा माएण वा लोहेण वा अण्णाणेण वा अदंसणेण वा अवि-रिएण वा असंयमेण वा असमणेंण वा अणहिगमणेण वा अभिमंसिदाएण वा अवोहिदाएण वा रागेण वा दोसेण वा मोहेण वा हस्सेण वा भएण वा पदोसेण वा पमादेण वा पेम्मेण वा पिवासेण वा लज्जेण वा गारवेण वा आणादरेण वा केण वि कारणेण जादेण वा आलसदाए कम्मभारि-गदाए कम्मगुरुगदाए कम्मदुच्चरिदाए कम्मपुरुक्कडदाए तिगारवगुरु-गदाए अवहुसुददाए अविदिदपरमट्ठदाए तं सव्वं पुव्वं दुच्चरियं गरिहामि आगमेसिं च, अपच्चक्खियं पच्चक्खामि, अणालोचियं आलोचेमि अणिं-दियं णिंदामि, अगरहियं गरहामि, अपडिक्कंतं पडिक्कमामि, विगहणं वोस्स-रामि आगहणं अब्भुट्ठेमि, अण्णाणं वोस्सरामि सण्णाणं अब्भुट्ठेमि, कुदंसणं

वोस्सरामि सम्मदंसणं अब्भुट्ठेमि, कुचरियं वोस्सरामि सुचरिय अब्भुट्ठेमि, कुतवं वोस्सरामि सुतवं अब्भुट्ठेमि. अकरणिज्जं वोस्सरामि करणिज्जं अब्भुट्ठेमि अकिरिय वोस्सरामि किरिय अब्भुट्ठेमि, पाणादिवादं वोस्सरामि अभयदाणं अब्भुट्ठेमि, मोसं वोस्सरामि सच्च अब्भुट्ठेमि, अदत्तादाणं वोस्सरामि दिण्ण कप्पकिज्जं अब्भुट्ठेमि, अबंभे वोस्सरामि, बंभचरिय अब्भुट्ठेमि, परिग्गहं वोस्सरामि अपरिग्गहं अब्भुट्ठेमि, राईभोयणं वोस्सरामि दिवाभोयणमेगभत्तं पच्चुप्पण्ण फासुगं अब्भुट्ठेमि, अट्टरुद्दज्झाणं वोस्सरामि धम्मसुक्कज्झाण, अब्भुट्ठेमि; किण्हणीलकाउलेस्सं वोस्सरामि ते उपम्मसुक्कलेस्सं अब्भुट्ठेमि, आरंभ वोस्सरामि अणारंभं अब्भुट्ठेमि असंजमं वोस्सरामिसंजमं अब्भुट्ठेमि, सग्गंथं वोस्सरामि णिग्गंथ अब्भुट्ठेमि, सचेल वोस्सरामि अचेल अब्भुट्ठेमि, अलोचं वोस्सरामि लोच अब्भुट्ठेमि, ण्हाण वोस्सरामि अण्हाणं अब्भुट्ठेमि, अखिदिसयणं वोस्सरामि खिदिसयण अब्भुट्ठेमि, दतवण वोस्सरामि अदतवण अब्भुट्ठेमि, अट्ठिदि भोयणं वोस्सरामि ठिदिभोयण मेगभत्तं अब्भुट्ठेमि अपाणिपत्तं वोस्सरामि पाणिपत्तं अब्भुट्ठेमि, कोह वोस्सरामि खंतिं अब्भुट्ठेमि, माण वोस्सरामि मद्दवं अब्भुट्ठेमि, माय वोस्सरामि अज्जव अब्भुट्ठेमि लोह वोस्सरामि संतोसं अब्भुट्ठेमि अतवं वोस्सरामि दुवादसविहतवोकम्म अब्भुट्ठेमि, मिच्छत्तं परिवज्जामि सम्मत्तं उवसंपज्जामि, असीलं परिवज्जामि सुसीलं उवसंपज्जामि, ससल्लं परिवज्जामि णिसल्लं उवसंपज्जामि; अविणय परिवज्जामि विणय उवसंपज्जामि, अणाचारं परिवज्जामि आचारं उवसंपज्जामि, उम्मग्ग परिवज्जामि जिणमग्ग उवसंपज्जामि अखंतिं परिवज्जामि खंतिं उवसंपज्जामि अगुत्तिं परिवज्जामि, गुत्तिं उवसंपज्जामि, अमुत्तिं परिवज्जामि सुमुत्तिं उवसंपज्जामि, असमाहिं परिवज्जामि, सुसमाहि उवसंपज्जामि, ममत्तिं परिवज्जामि णिममत्तिं उवसंपज्जामि अभाविय भावेमि भाविय ण भावेमि, इमं णिग्गंथं पव्वयणं अणुत्तरं केवलियं पडिपुण्णं णेगाइयं सामाइय संसुद्धं सल्लघट्टाणं सल्लघत्ताण सिद्धिमग्ग सेढिमग्गं खंतिमग्ग मुत्तिमग्ग पमुत्तिमग्ग मोक्खमग्ग पमोक्खमग्ग णिज्जाणमग्ग णिव्वाणमग्ग सव्वदुक्खपरिहाणिमग्गं

सुचरियपरिणिव्वाणमग्गं जत्थ ठिया जीवा सिज्झति बुज्झंति मुंचंति परिणिव्वायंति सव्वदुक्खाणमंतं करेंति तं सद्दहामि तं पत्तियामि तं रोचेमि तं फासेमि, इदो उत्तरं अण्णं णत्थि ण भूदं ण भवं ण भविस्सदि, णाणेण वा दसणेण वा चरित्तेण वा सुत्तेण वा सीलेण वा गुणेण वा तवेण वा णियमेण वा वदेण वा विहारेण वा आलएण वा अज्जवेण वा लाहवेण वा अण्णेण वा वीरिएण वा समणोमि संजदोमि उवरदोमि उवसंतोमि उव-धियियडि माण माया-मोस-मूरण मिच्छाणाण मिच्छादंसण मिच्छाचरित्तं च पडिविरदोमि, सम्मणाण-सम्मदसण-सम्मचरित्त च रोचेमि, जं जिणव-रेहिं पण्णत्तो जो मए देवसिय-राइय-पक्खियचाउम्मासियसंवच्छरिय इरि-यावहिकेमलोचाइचारस्स संथारादिचारस्स पथादिचारस्स सव्वादिचारस्स उत्तमट्ठस्स सम्मचरित्तं च रोचेमि। पढमे महव्वदे पाणादिवादादो वेरमणं उवट्ठावणमडले महत्थे महागुणे महाणुभावे महाजसे महापुरिसाणुचिन्ने अरहंतसक्खिय सिद्धसक्खियं साहुसक्खियं अप्पसक्खियं परसक्खियं देवा-तासक्खिय उत्तमट्ठम्हि इद मे महव्वद सुव्वदं दढव्वद होदु, णित्थारयं पारयं तारय आराहियं चावि ते मे भवतु।

प्रथमं महाव्रत सेवेषां व्रतधारिणां सम्यक्त्वपूर्वकदृढव्रतं सुव्रत समा-रूढं ते मे भवतु ॥ ३ ॥

णमो अरहंताणं णमो सिद्धाणं णमो आइरीयाणं।
णमो उवज्झायाणं णमो लोए सव्वसाहूणं ॥ ४ ॥

आहावरे विदिए महव्वदे सव्व भंते! मुसावाद पच्चक्खामि जाव-ज्जीवं तिविहेण मणसा वचिया काएण, से कोहेण वा माणेण वा माएण वा लोहेण वा रागेण वा दोसेण वा मोहेण वा हस्सेण वा भएण वा पदो-सेण वा पमादेण वा पिम्मेण वा पिवासेण वा लज्जेण वा गारवेण वा अणादरेण वा केणवि कारणेण जादेण वा णेव सयं मोसं भासेज्ज ण अण्णेहिं मोसं भासाविज्ज अण्णेहि मोसं भासिज्जंतं पि ण समणुमणिज्ज तस्स भंते! अइचारं पडिक्कमामि णिंदामि गरहामि अप्पाणं, वोस्सरामि

पुव्विचरणं भंते ! जं पि मए रागस्स वा दोसस्स वा मोहस्स वा वसंगदेण सयं मोसं भासिय अण्णेहिं मोसं भासावियं अण्णहिं मोसं भासिज्जत पि समणुमण्णिद इमस्स णिग्गंथस्स पवयणस्स अणुत्तरस्स केवलियस्स केवलिपण्णत्तस्स धम्मस्स अहिंसालक्खणस्स सच्चाहिट्ठियस्स विणयमूलस्स खमावलस्स अट्ठारससीलसहस्सपरिमंडियस्स चउरासीदि गुणसयसहस्सविहूसियस्स णवसुवभचेरगुत्तस्स णियदिलक्खणस्स परिचागफलस्स उवसमपहाणस्स खंतिमग्गदेसगस्स मुत्तिमग्गपयासयस्स सिद्धमग्गपज्जवसाहणस्स······सम्मणाण सम्मदसण-सम्मचरित्तं च रोचेमि जं जिणवरेहिं पण्णत्तो इत्थ जो मए देवसिय-राइय-पक्खिय-चउमासिय संवच्छरियइरियावहिकेसलोचाइचारस्सपथादिचारस्स सव्वातिचारस्स उत्तमट्ठस्स सम्मचरित्तं च रोचेमि, विदिए महव्वदे मुसावादादो वेरमणं उवट्ठाणमंडले महत्थे महागुणे महाणुभावे महाजसे महापुरिसाणुचिण्णे अरहतसक्खियं सिद्धसक्खिय साहुसक्खिय अप्पसक्खिय परसक्खियं देवतासक्खियं उत्तमट्ठम्मि इदं मे महव्वद सुव्वद दढव्वदं होदु, णित्थारय पारयं तारयं आराहियं चावि ते मे भवतु ।

द्वितीय महाव्रत सेवपां व्रतधारिणां सम्यक्त्वपूर्वकं दृढव्रतं सुव्रत समारुढ ते मे भवतु ॥ २ ॥

णमो अरहंताणं णमो सिद्धाण णमो आइरीयाणं ।
णमो उवज्झायाण णमो लोए सव्वसाहूण ॥ २ ॥

—*—

आधावरे तदिये महव्वदे सव्व भंते ! अदत्तादाण पच्चक्खामि जावज्जीव तिविहेण मणसा वचिया काएण से देसे वा गामे वा णगरे वा खेडे वा कव्वडे वा मंडवे वा मडले वा पट्टणे वा दोणमुहे वा घोसे वा आसणे वा सहाए वा संवाहे वा सण्णिवसे वा तिणं वा कट्ठ वा वियडिं वा मणि वा खेत्त वा खले वा जले वा थले वा पहे वा उप्पहे वा रण्णे वा अरण्णे वा णट्ठं वा पमुट्ठं वा पडिढ वा अपडिढं वा सुणिहिद वा दुण्णिहिदं वा अप्पं वा वहु वा अणुय वा थूल वा सचित्तं वा अंचित्तं वा मज्झ-

ज्थं वा वहित्थ वा अवि दंततरसोहणमित्तं पि णेव सयं अदत्तं गेण्णि-ज्जाणो अण्णेहिं अदत्तं गेण्हाविज्ज अण्णेहिं अदत्तं गेण्हिज्जतं पि ण समणु-मणिज्ज, तस्स भते ! अइचारं पडिक्कमामि णिंदामि गरहामि अप्पाणं वोस्सरामि पुव्विचणं भते ! ज पि मए रागस्स वा दोसस्स वा मोहस्स वा वसंगदेण सयं अदत्तं गेण्हिदं अण्णेहिं अदत्त गेण्हाविद अण्णेहिं अदत्तं गेण्णिज्जंतं पि समणुमण्णिदो तं पि इमस्स णिग्गथस्स पवयणस्स अणुत्तर-स्स केवलियस्स केवलिपण्णत्तस्स धम्मस्स अहिंसालक्खणस्स सच्चाहिट्ठि-यस्स विणयमूलस्स खमाबलस्स अट्ठारससीलसहस्सपरिमंडियस्स चउरासी-दिगुणसयसहस्सविहूसियस्स णवसुवंभचरगुत्तस्स णियदिलक्खणस्स परि-चागफलस्स उवसमपहाणस्स खतिमग्गदेसियस्स मुत्तिमग्गपयासयस्स सिद्धिमग्गपज्जवसाहणस्स............... ... सम्मणाण सम्मदंसण-सम्मच-रित्तं च रोचेमि, जं जिणवरेहिं पण्णतो इत्थ जो मए देवसिय राईय-पक्खिय चउमासिय संवच्छरियइरियावहिकेसलोचाइचारस्स संथारादिचारस्स पंथा-दिचारस्स सव्वाइचारस्स उत्तमट्ठस्स सम्मचरित्त रोचेमि । तदिए मह-व्वदे अदत्तादाणादो वेरमणं उवट्ठावणमंडले महत्थ महागुणे महाणुभावे महाजसे महापुरिसाणुचिण्णे अरहतसक्खिय सिद्धसक्खियं साहुसक्खियं अप्पसक्खियं परसक्खियं देवतासक्खियं उत्तमट्ठम्हि इद मे महव्वद सुव्वदं दढव्वद होदु, णित्थारयं पारय तारयं आराहियं चावि ते मे भवतु ॥३॥

तृतीय महाव्रत सर्वेषां व्रतधारिणां सम्यक्त्वपूर्वकदृढव्रतं सुव्रतं समारूढं ते मे भवतु ॥ ३ ॥

णमो अरहंताणं णमो सिद्धाणं णमो आइरीयाणं ।
णमो उवज्झायाण णमो लोए सव्वसाहूणं ॥ ३ ॥

आहावरे चउत्थे महव्वदे सव्वं भते ! अवभपच्चक्खामि जावज्जीव तिविहेण मणसा वचिया काएण, से देविएसु वा तिरिच्छिएसु वा अचेय-णिएसु वा कट्ठकम्मेसु वा चित्तकम्मेसु वा पोत्तकम्मेसु वा लेप्पकम्मेसु वा लयकम्मेसु वा सिलाकम्मेसु वा गिहकम्मेसु वा भित्तिकम्मेसु वा भेद-कम्मेसु वा भंडकम्मेसु वा धादुकम्मेसु वा दंतकम्मेसु वा हत्थसंघट्टणदाए

पादसंघट्टणदाए पुग्गलसंघट्टणदाए मणुणामणुणेसु सद्देसु मणुणामणुणेसु रूवेसु मणुणामणुणेसु गंधेसु मणुणामणुणेसु रसेसु मणुणामणुणेसु फासेसु सोर्दिदियपरिणामे चक्खिदियपरिणामे घाणिंदियपरिणामे जिब्भिदिय-परिणामे फासिंदियपरिणामे णोइंदियपरिणामे अगुत्तेण अगुत्तिंदिएण णेव सयं अबभं सेविज्ज णो अण्णेहिं अबभं सेवाविज्ज णो अण्णेहिं अबमं सेविज्जत पि ममणुमणिज्ज तस्स भंते ! अइचारं पडिकमामि णिंदामि गरहामि अप्पाणं, वोस्सरामि पुव्विचरा भंते ! जपि मए रागस्स वा दोसस्स वा वसंगदेण सयं अभवं सेवियं अण्णेहिं अबभं सेवोविय अण्णेहिं अबभं सेविज्जंतं पि समणुमण्णिद त पि इमस्स णिग्गथस्स पव-वयणस्स अणुत्तरस्स केवलिपण्णत्तस्स धम्मस्स अहिंसालक्खणस्स सच्चा-रिट्ठितस्स विणयमूलस्स खमावलस्स अट्ठारससीलसहस्सपरिमंडियस्स चउरासीदिगुणसयसहस्सविहूसियस्सणवसुव भचेरगुत्तस्स णियदिलक्क-णस्स परिचागफलस्स उवसमपहाणस्स खंतिमग्गदेसयस्स मुक्तिमग्गपया-मयस्स सिद्धिमग्गपज्जवमाहणस्स ·· ··· ··· सम्मणाण सम्मदंसण-सम्मच-रित्तं च रोचेमि, जंजिण वरेहिं पण्णत्तो इत्थ जो मए देवसिए-राइय-पक्खिय-चउमासिय संवच्छरिय इरियावहिकेसलोचाइचाररस संथारादिचार स्स पथादिचारस्स सव्वादिचारस्स उत्तमट्ठस्स सम्मचरित्तं च रोचेमि। चउत्थे महव्वदे अवंभादो वेरमणं उवट्ठवणमंडले महत्थे। महागुणे महाणु-भावे महाजसे महापुरिसाणुचिण्णें अरहंतसक्खिय सिद्धसक्खियं साहुस-क्खियं अप्पसक्खिय परसक्खियं देवतासक्खियं उत्तमट्ठम्हि इद मे मह-व्वदं सुव्वद दिढव्वदं होदु णित्थारयं पारयं तारयं आरहियं चावि ते मे भवतु ॥ ३ ॥

चतुर्थं महाव्रत सर्वेषां व्रतधारिणां सम्यक्त्वपूर्वक दृढव्रतं सुव्रतं समा-रूढं ते मे भवतु ॥ ३ ॥

णमो अरहंताणं णमो सिद्धाणं णमो आइरियाणं।
णमो उवज्झायाणं णमो लोए सव्वसाहूणं ॥ ३ ॥

आधावरे पञ्चमे महव्वदे सव्वदे सव्व भते ! दुविहं परिग्गहं पचक्खिामि

तिविहेण मणसा वचिया काएण। सो परिग्गहो दुविहो अभ्भिंतरं परि-ग्गह—मिच्छत्तवेयराया तहेव हस्सादिया य छद्दोसा। चत्तारि तह कसाया चउदस अब्भंतरं गंथा ॥ १ ॥" तत्थ वाहिर परिग्गहं से हिरण्णं वा सुवण्णं वा धणं वा खेत्तं वा खलं वा वत्थुं वा पवत्थुं वा कोसं वा कुठारं वा पुरं वा अंतउरं वा बलं वा वाहणं वा सयडं वा जाणं वा जपाणं वा जुगं वा गद्दियं वा रहं वा सदणं वा सिवियं वा दासीदासगोमहिसगवेडयं मणिमोत्तियसंखसिप्पिपवालय मणिभाजणं वा सुवण्णभाजणं वा रजतभाजणं वा कंसभाजणं वा लोयभाजणं वा तंवभाजणं वा अंडजं वा वोंडजं रोमजं वक्कजं वा वम्मजं वा अप्पं वा बहुं वा अणुं वा सचित्तं वा अचित्तं वा अमुत्थ वा वहित्थ वा अवि वालग्गकोडिमित्तंपि णेव सयं असमणपाउग्ग रिग्गह गिण्हिज्जणो अण्णेहिं असमणपाउग्ग परिग्गाह गेण्हाविज्ज णो अण्णेहिं असमणपाउग्गं परिग्गहं गिण्हज्जं त पि समणुमणिज्ज तस्स भंते! अइचारं पडिक्कमामि णिंदामि गरहामि अप्पाणं, वोस्सरामि पुव्विं-चण भंते! जं पि मए रागस्स वा दोसस्स वा मोहस्स वा वसंगदेण सय असमणपाउग्ग परिग्गाहं गिण्हिज्जं अण्णेहिं असमणपाउग्गं परिग्गह गेण्हाविय, अण्णेहिं असमणपाउग्गं परिग्गहं गेण्हिज्जंतं पि समणुमणिणद नं पि इमस्स णिग्गंथस्स पवयणस्स अणुत्तरस्स केवलियस्स केवलपण्णत्त-स्स धम्मस्स अहिंसालक्खणस्स सच्चाहिट्ठितस्स विणयमूलस्स खमावलस्स अट्ठारससीलसहस्सपरिमंडियस्स चउरासीगुणसयसहस्सविहूसियस्स णवसुव-भचेगुत्तस्स णियदिलक्खणस्स परिच्चागफलस्स उवसमपहाणस्स खंतिमग्ग-देसयस्स मुत्तिमग्गपयासयस्स सिद्धिमग्गपज्जवसाहणस्स ...... सम्मणाण सम्मदंसण सम्मचरित्त च रोचेमि, जं जिणवरेहि पण्णत्ते इत्थ जो मए देवसिय-राइय पक्खिय-चउमासिय-संवच्छरिय-इरियावहिकेसलोचाइचारस्स संथाराइचारस्स पथाइचारस्स सव्वाइचारस्स उत्तमट्ठस्स सम्मचरित्त रोचेमि। पञ्चमे महव्वदे परिग्गहादो वेरमणं उवट्ठवणमंडले महत्थे। महा-गुणे महाणुभावे महापुरिसाणुचिण्णे अरहंतसक्खियं सिद्धसक्खियं साहुस-क्खियं अप्पसक्खियं परसक्खियं देवतासक्खियं उत्तमट्ठम्हि इद मे मह-

व्वद सुव्वदं दिढव्वदं होदु णित्थारयं पारयं तारयं आरहियं चावि ते मे भवतु ॥ ३ ॥

पञ्चमं महाव्रतं सर्वेषां व्रतधारिणां सम्यक्त्वपूर्वकं दृढव्रतं समारूढं ते मे भवतु ॥ ३ ॥

णमो अरहंताणं णमो सिद्धाणं णमो आइरियाणं।
णमो उवज्झायाणं णमो लोए सव्वसाहूणं ॥ ३ ॥

आधावरे छट्ठे अणुव्वदे सव्वं भंते! राईभोयणं पच्चक्खामि जावज्जीवं तिविहेण मणसा वचिया काएण, से असणं वा पाणं वा खादियं वा सादियं वा कडुयं वा कसायं वा आमिलं वा महुरं वा लवणं वा अलवणं वा सचित्तं वा अचित्तं वा तं सव्वं चउव्विहं आहारं णेवसयं रत्तिं भुंजिज्ज णो अण्णेहिं रत्तिं भुंजाविज्ज णो अण्णेहिं रत्तिं भुंजिज्जं तं पि समणुमणिज्ज, तस्स भंते! अइचारं पडिक्कमामि णिंदामि गरहामि अप्पाणां, वोसिरामि पुव्विचणं भंते! जं पि मए रागस्स वा दोसस्स वा मोहस्स वा वसंगदेण चउव्विहो आहारो सयं रत्तिं भुत्तो अण्णेहिं रत्तिं भुंजाविदो अण्णेहिं रत्तिं भुजिज्जंतो वि समणुमण्णिदो, तं पि इमस्स णिग्गंथस्स पवयणस्स अणुत्तरस्स केवलियस्स केवलिपण्णत्तस्स धम्मस्स अहिंसालक्खणस्स सच्चाहिट्ठियस्स विणयमूलस्स खमाबलस्स अट्ठारससीलसहस्सपरिमंडियस्स चउरासीदिगुणसयसहस्सविहूसियस्स णवसुबंभचेरगुत्तस्स णियदिलक्खणस्स परिचागफलस्स उवसमपहाणस्स खंतिमग्गदेसियस्स मुत्तिमग्गपयासयस्स सिद्धिमग्गपज्जवसाहणस्स ·· ······· ··· ··· सम्मणाण सम्मदंसण-सम्मचरित्तं च रोचेमि, जं जिणवरेहिं पण्णत्तो इत्थ जो मए देवसिय राइय-पक्खिय-चउमासिय संवच्छरियइरियावहि केसलोचाइयारस्स संथारादिचारस्स पंथादिचारस्स सव्वाइचारस्स उत्तमट्ठस्स सम्मचरित्तं च रोचेमि, छट्ठे अणुव्वदे राईभोयणादो वेरमणं उवट्ठावणमडले महत्थे महागुणे महाणुभावे महाजसे महापुरिसाणुचिण्णे अरहंतसक्खियं सिद्धसक्खियं साहुसक्खियं परसक्खियं देवतासक्खियं उत्तमट्ठम्हि इदं मे अणुव्वदं सुव्वदं दिढव्वदं होदु, णित्थारयं पारयं तारयं आराहियं चावि ते मे भवतु ॥ ३ ॥

षष्ठ अणुव्रत सर्वेषां व्रतधारिणां सम्यक्त्वपूर्वकदृढव्रतं सुव्रतं समारूढं ते मे भवतु ॥ ३ ॥

णमो अरहंताणं णमो सिद्धाणं णमो आइरीयाणं ।
णमो उवज्झायाणं णमो लोए सव्वसाहूणं ॥ ३ ॥

चूलियन्तु पवक्खामि भावणा पञ्चविंसदी ।
पञ्च पञ्च अणुण्णादा एक्कमेक्कह्मि महव्वदे ॥ १ ॥

मणगुत्तो वचिगुत्तो इरिया–कायसंयदो
एमणासमिदिसंजुत्तो पढमं वदमस्सिदो ॥ २ ॥

अकोहणो अलोहो य भयहस्सविवज्जिदो
अणुवीचिभासकुसलो विदियं वदमस्सिदो ॥ ३ ॥

अदेहणं भावणा चावि उग्गहं या परिग्गहे ।
संतुट्ठो भत्तपाणेसु तिदिय वदमस्सिदो ॥ ४ ॥

इत्थिकहा इत्थिसंसग्गहासखेडपलोयणे ।
णियमम्मि ट्ठिदो णियत्तो य चउत्थं वदमस्सिदो

सचित्ताचित्तदव्वेसु बज्झंब्भंतरेसु य ।
परिग्गहादो विरदो पञ्चमं वदमस्सिदो ॥ ६ ॥

धिदिमंतो खमाजुत्तो झाणजोगपरिट्ठदो ।
परीसहाणउरं देंत्तो उत्तम वदमस्सिदो ॥ ७ ॥

जो सारो सव्वसारेसु सो सारो एस गोयम ।
सारं झाणंति णामेण सव्वं बुद्धेहिं देसिदं ॥ ८ ॥

इच्चेदाणि पञ्चमहव्वयाणि राईभोयणादो वेरमणछट्ठाणि सभावणाणि समाउग्गपदाणि मउत्तरपदाणि सम्मं धम्मं अणुपालइन्ता समणा भयवंता णिग्गंथादोओण सिज्झंति बुज्झंति मुच्चंति परिणियंति सव्वदुक्खाणमंतं करेंति परिविज्जाणति । तं जहा—

पाणादिवादं चहि मोसगं च अदत्तमेहुणपरिग्गहं च ।
वदाणि सम्मं अणुपालइत्ता णिव्वाणमग्गं विरदा उवेंति ॥ १ ॥

जाणि काणि वि सल्लाणि गरहिदाणि जिणसासणे ।

ताणि सव्वाणि वोसरित्ता णिसल्लो विहारदे सया मुणी ॥ २ ॥
उप्पण्णा णुप्पण्णा माया अणुपुव्व सो णिहंतव्वा ।
आलोयण पडिकमणं णिंदणगरहणदाए ॥ ३ ॥
अब्भुट्टिदकरणदाए अब्भुट्टिददुक्कड णिराकरणदाए।
भव भावपडिक्कमण सेसा पुण दव्वदो भणिदा ॥ ४ ॥
एसो पडिक्रमणविही पण्णत्तो जिणवरेहिं सव्वेहिं !
संजमतवट्टिदाणं णिग्गंथादाणं महरिसीण ॥ ५ ॥
अक्खरपयत्थहीणं मत्ताहीणं च ज भवे एत्थ ।
तं खमउ णाणदेवय ! देउ समाहिं च वोहिं च ॥ ६ ॥
काऊण णमोक्कारं अरहंताणं तहेव सिद्धाणं ।
आइरिय–उवज्झायाणं लोयम्मि य सव्वसाहूणं ॥ ७ ॥
इच्छामि भंते ! पडिक्कमणमिदं, सुत्तस्स मूलपदाणं उत्तरपदाण-
मच्चासणदाए । तं जहा—

णमोक्कारपदे अरहंतपदे सिद्धपदे आइरियपदे उवज्झापदे साहूपदे मङ्गलपदे लोगोत्तमपदे सरणपदे सामाइयपदे चउवीसतित्थयरपदे वंदण-पदे पडिक्कमणपदे पच्चक्खाणपदे काउसग्गपदे असीहियपदे निसीहियपदे अंगंगेसु पुव्वंगेसु पइण्णएसु पाहुडेसु पाहुडपाहुडेसु कदकम्मेसु वा भूद-कम्मेसु वा णाणस्स अइक्कमणदाए दंसणस्स अइक्कमणदाए चरित्तस्स अइक्कमणदाए तवस्स अइक्कमणदाए वीरियस्स अइक्कमणदाए, से अक्ख-रहीणं वा पदहीणं वा सहीणं वा वंजणहीणं वा अत्थहीणं वा गंथहीणं वा थएसु वा थुईसु वा अट्ठक्खाणेसु वा अणियोगेसु वा अणियोगद्दारेसु वा जे भाव पण्णत्ता अरहंतेहिं भयवंतेहिं तित्थयरेहिं आदियरेहिं तिलोगणा-हेहिं तिलगबुद्धेहिं तिलोगदरसीहिं ते सद्दहामि ते पत्तियामि ते रोचेमि ते फासेमि, ते सद्दहंतस्स ते पत्तयंतस्स ते रोचयंतस्स ते फासयतस्स जो मए देवसिओ राईयो पक्खिओ संवच्छरिओ अदिक्कमो वदिक्कमो अइचारो अणाचारो आभोगो अणाभोगो अकाले सज्झाओ कओकाले वा परिहा-विदो अत्थाकारिद मिच्छामेलिदं वा मेलिद अण्णहादिण्ण अण्णहापडि-

च्छदं आवसएसु पडिहीणदाए तस्स मिच्छा मे दुक्कडं ।

अह पडिवादाए विदिए तदिए चउत्थीए पञ्चमीए छट्ठीए सत्तमीए अट्ठमीए णवमीए एयारसीए वारसीए तेरसीए चउद्दसीए पुण्णमासीए पण्णरसदिवसाणं पण्णरसराईणं, छउण्हं मासाणं अट्ठण्ह पक्खाणं वीसुत्तरसयराईणं, वारसण्हं मासाण चववीसण्हं पक्खाण तिण्हं छावट्ठिसयदिवसाणं तिण्हं छावट्ठिसयराईणं, पञ्चवरिसादो परदो अब्भिंतरदो वा दोण्हं अट्टरुद्दसंकिलेपरिणामाणं तिण्हं अप्पसत्थसंकिलेसपरिणामाणं तिण्हं दंडाणं तिण्ह लस्साणं तिण्ह गुत्तीणं तिण्हं गारवाणं तिण्ह सल्लाणं चउण्हं सण्णाणं चउण्हं कसायाण चउण्णं उवसग्गाण पञ्चण्हं महव्वयाण पञ्चण्हं इन्दियाणं पञ्चण्हं समिदीणं पञ्चण्हं चरित्ताणं छण्ह आवासयाण सत्तण्हं भयाणं सत्तविहससाराणं अट्ठण्हं मयाणं अट्ठण्हं सुद्धीणं अट्ठण्हं कम्माणं अट्ठण्हं पवयणमाउयाणं णवण्हं वभचेरगुत्तीण णवण्हं णोकसायाणं दसविहमुडाणं दसविहसमणधम्माणं दसविहधम्मज्झाणं वारसण्हं संजमाणं वारसण्हं तवाण वारसण्हं अंगाण तेरसण्ह किरियाणं चउदसण्ह पुव्वाण्हं पण्णरसण्ह पमायाण सोलसण्ह कसायाण पणवीसाए किरियासु पणवीसाए भावणासु वावीसाए परिसहेसु अट्ठारसीलसहस्सेसु चउरासीदिगुणसयसहस्सेसु मूलगुणेसु उत्तरगुणेसु अदिकम्मो वदिक्कम्मो अइचारो अणाचारो आभोगो अणाभोगो तस्स भंते ! अइचारं पडिक्कमामि पडिक्कंतं कदो वा कारिदो वा कीरंतो वा समणुमण्णिदं तस्स भंते ! अइचारं पडिक्कमामि णिंदामि गरहामि अप्पाणं वोस्सरामि जाव अरहंताण भयवंताणं णमोक्कारं करेमि पज्जुवासं करेमि ताव काय दुच्चरियं वोस्सरामि ।

णमो अरहताण णमो सिद्धाण णमो आइरियाणं ।
णमो उवज्झायाणं णमो लोए सव्वसाहूण ॥ १ ॥

पढमं ताव सुदं मे आउस्संतो ! इह खलु समणेण भयवदा महदिमहावीरेण महाकस्सवेण सव्वण्हणाणेण सव्वलोयदरसिणा सावयाण सावियाणं खुड्डयाण खुड्डीयाणं कारणेण पञ्चाणुव्वदाणि तिण्णि गुणव्वदाणि चत्तारि सिक्खावदाणि वारसविह गिहत्थधम्मं सम्मं उवदेसियाणि।

तत्थ इमाणि पञ्चाणुव्वदाणि पढमे अणुव्वदे थूलयडे पाणादिवादादो वेरमणं, विदिए अणुव्वदे थूलयडे मुसावादादो वेरमणं, तदिए अणुवदे थूलयडे अदत्तादाणादो वेरमणं, चउत्थे अणुवदे थूलयडे सदारसंतोसपरदारागमणवेरमणं कस्स य पुणु सव्वदो विरदी, पंचमे अणुव्वदे थूलयडे इच्छाकदपरिमाणा चेदि, इच्चेदाणि पञ्च अणुव्वदाणि ।

तत्थ इमाणि तिण्णि गुणव्वदाणि, तत्थ पढमे गुणव्वदे दिसिविदिसि पच्चक्खाणं, विदिए गुणव्वदे विविधअणत्थदडादो वेरमणं, तदिए गुणव्वदे भोगोपभोगोपरिसंखाणं चेदि, इच्चेदाणि तिण्णि गुणव्वदाणि ।

तत्थ इमाणि चत्तारि सिक्खावदाणि, तत्थप ढमे सामाइयं, विदिए पोसहोवासयं, तदिए अतिथिसंविभागो, चउत्थे सिक्खावदे पच्छिमसल्लेहणामरणं, तिदियं अब्भोवस्साण चेदि ।

से अभिमद जीवाजीव-उवलद्धपुण्णपाव-आसववधसंवरणिज्जर-मोक्खमहिकुसले धम्माणुरायरत्तो पि माणुरागरत्तो अट्ठिमज्जाणुरायरत्तो मुच्चिदट्ठे गिहिदट्ठे विहिदट्ठे पालिदट्ठे सेविदट्ठे णिग्गंथपावयणे अणुत्तरे सेअट्ठे सेवणुट्ठेणिस्संकियणिचकंखिय णिव्विदिगिंछी य अमूढदिट्ठी य । उवगूहण ट्ठिदिकरणं वच्छल्लपहावणा य ते अट्ठा ॥ १ ॥

सव्वेदाणि पञ्चाणुव्वदाणि तिण्णि गुणव्वदाणि चत्तारि सिक्खावदाणि वारसविह गिहत्थधम्ममणुपालइत्तादंसण वय सामाइय पोसह सच्चित्त राइभत्तेय ।

वंभारंभ परिग्गह अणुमणमुद्दिट्ठ देसविरदो य ॥ १ ॥ महुमंसमज्ज-जूआ वेसादिविवज्जणासीलो ।

पंचाणुव्वयजुत्तो सत्तेहि सिक्खावएहि संपुण्णो ॥ २ ॥

जो एदाइं वदाइं धरेइ सावया सिवियाओ वा खुड्डय खुड्डियाओ वा अट्ठदहभवणवासियवाणविंतरजोइसियसोहम्मीसाणदेवीओं वदिक्कमित्तउवरिमअण्णदरमहड्ढियासु देवेसु उववज्जंति ।

तं जहा - सोहम्मीसाणसणक्कुमारमाहिंदबंभबंभुत्तरलांतवकापिट्ठसुक्कमहासुक्कसतारसहस्सारआणतपाणतआरणअच्चुतकप्पेसु उववज्जन्ति ।

अडयवरसत्थधरा कडयंगदबद्धनउडकयसोहा ।
भासुरवरबोहिधरा देवा य महड्ढिया होंति ॥ १ ॥

उक्कस्सेण दोतिण्णभवगहणाणि जहण्णे सत्तट्ठभवगहणाणि तदो समणुसुत्तादो सुदेवत्त सुदेवत्तादो सुमाणुसत्तं तदो साइहत्था पच्छा णिग्गथा होऊण सिज्झन्ति बुज्झंति मुंचंति परिणिव्वाणयंति सव्वदुक्खाणमंत करेंति । जाव अरहंताणं भयवंताण णमोकारं करेमि पज्जुवासं करेमि ताव कायं पावकम्मं दुच्चरियं वोस्सरामि ।

—※—

(अनन्तरं साधवः "थोस्सामि" इत्यादि दंडकं पठित्वा सूरिणा सहिताः "वदसमिदिंदियरोधो" इत्यादिकं चाधीत्य वीरस्तुतिं कुर्युः)

वीरभक्तिः

यः सर्वाणि चराचराणि विविधद्रव्याणि तेषां गुणान् । पर्यायानपि भूतभाविभवतः सर्वान् सदा सर्वदा ॥ जानीते युगपत् प्रतिक्षणमतः सर्वज्ञ इत्युच्यते । सर्वज्ञाय जिनेश्वराय महते वीराय तस्मै नमः ॥ १ ॥ वीरः सर्वसुरासुरेन्द्रमहितो वीरं बुधाः संश्रिताः । वीरेणाभितः स्वकर्मनिचयो वीराय भक्त्या नमः ॥ वीरात्तीर्थमिदं प्रवृत्तिमतुलं वीरस्य घोरं तपो । वीरे श्री-द्युति कांति-कीर्ति-धृतयो हे वीर ! भद्रं त्वयि ॥ २ ॥ ये वीरपादौ प्रणमन्ति नित्यं ध्यानस्थिताः संयमयोगयुक्ताः । ते वीतशोका हि भवन्ति लोके संसारदुर्गं विषयं तरंति ॥ ३ ॥ व्रतसमुदयमूलः संयमस्कन्धबन्धो यमनियमपयोभिर्वर्धितः शीलशाखः । समितिकलिकभारो गुप्तिगुप्तप्रवालो गुणकुसुमसुगंधिः सत्तपश्चित्रपत्रः ॥ ४ ॥ शिवसुखफलदायी यो दयाछाययोद्यः । शुभजनपथिकानां खेदनोदे समर्थः ॥ दुरितरविजतापं प्रापयन्नन्तभावं । स भवविभवहान्यै नोऽस्तु चारित्रवृक्षः ॥५॥ चारित्रं सर्वजिनैश्चरित प्रोक्त च सर्वशिष्येभ्यः । प्रणमामि पञ्चभेदं पञ्चमचारित्रलाभाय ॥ ६ ॥ धर्मः सर्वसुखाकरो हितकरो धर्मं बुधाश्चि-

न्वते । धर्मेणैव समाप्यते शिवसुखं धर्माय तस्मै नमः ।। धर्मान्नास्त्यपरः सुहृद्भवभृतां धर्मस्य मूलं दया । धर्मे चित्तमहं दधे प्रतिदिन हे धर्म ! मां पालय ।। ७ ।। धम्मो मंगलमुक्किट्ठं अहिंसा संजमो तवो । देवा वि तस्स पणमंति जस्स धम्मे सया मणो ।। ८ ।।

अंचलिका

इच्छामि भंते ! पडिक्कमणादिचारमालोचेउ, सम्मणाण-सम्मदंसण सम्मचारित्त-तव-वीरियाचारेसु जम-णियम-संजम सील-मूलुत्तरगुणेसु सव्व-मईचारं सावज्जजोगं पडिविरदोमि असंखेज्जलोगअज्झवसायठाणाणि अप्प-सत्थजोगसण्णाणिंदियकसायगारवकिरियासु मणवयणकायकरणदुप्पणि-हाणाणि परिचिंतियाणि किण्हणीलकाउलेस्साओ विकहापलिकुंचिएण उम्मगहस्सरदिअरदिसोयभयदुगछवेयणविज्जंभजंभाइआणि अट्टरुद्दसंकि लेसपरिणामाणि परिणामदाणि अणिहुदकरचरणमणवयणकायकरणेण अक्खित्तबहुलपरायणेण अप्पडिपुण्णेण वासरक्खरावयपरिसंघायपडि-वत्तिए वा अच्छाकारिदं मिच्छा मेलिद आमेलिद वा मेलिद वा अण्णहा-दिण्णं अण्णहापडिच्छदं आवासएसु परिहीणदाए कदो वा कारिदो वा कीरंतो वा समणुमण्णिदो तस्स मिच्छा मे दुक्कडं ।

वदसमिदिंदियरोधो लोचो आवासयमचेलमण्हाणं । खिदिसयणमदं-तवणं ठिदिभोयणमेयभत्तं च ।। १ ।। एदे खलु मूलगुणा समणाणं जिण-वरेहिं पण्णत्ता । एत्थ पमादकदादो अइचारादो णियत्तो हं ।। २ ।। छेदो-वट्ठावणं होदु मज्झं ।

इति वीरभक्तिः

निर्वाणकाण्ड (गाथा)

अट्ठावयम्मि उसहो, चम्पाए वासुपुज्यजिणणाहो ।
उज्जंते णेमिजिणो, पावाए णिव्बुदो महावीरो ।। १ ।।

वीसं तु जिणवरिंदा अमरासुर-वंदिदा धुदकिलेसा ।
सम्मेदे गिरिसिहरे, णिव्वाणगया णमो तेसिं ॥ २ ॥
वरदत्तो य वरंगो, सायरदत्तोय तारवरणयरे ।
आहुट्ठयकोडीयो, णिव्वाण गया णमो तेसिं ॥ ३ ॥
णेमिस्सामि पज्जुण्णो, संबुकुमारो तहेव अणिरुद्धो ।
बाहत्तरिकोडीओ, उज्जंते सत्तसया सिद्धा ॥ ४ ॥
रामसुआ वण्णि जणा, लाडणरिंदाण पञ्चकोडीओ ।
पावागिरिवरसिहरे, णिव्वाण गया णमो तेसिं ॥ ५ ॥
पंडुसुआ तिण्णिजणा, दविडणरिंदाण अट्ठकोडीओ ।
सत्तुंजे गिंरिसिहरे, णिव्वाण गया णमो तेसिं ॥ ६ ॥
संते जे बलभद्दा, जदुवणरिंदाणि अट्ठकोडीओ ।
गजपंथ गिरिसिहरे, णिव्वाण गया णमो तेसिं ॥ ७ ॥
रामहणूसुग्गीओ, गवयगवक्खो य णीलमहणीलो ।
णवणवदीकोडीओ, तुंगिगिरीणिव्वुदे वंदे ॥ ८ ॥
णंगाणंगकुमारा, कोडीपञ्चद्धमुणिवरा सहिया ।
सवणागिरिवरसिहरे, णिव्वाण गया णमो तेसिं ॥ ९ ॥
दहमुहरायस्स सुआ, कोडीपञ्चद्धमुणिवरा सहिया ।
रेवाउहयतडग्गे, णिव्वाण गया णमो तेसिं ॥ १० ॥
रेवाणइये तीरे, पच्छिमभायम्मि सिद्धवरकूटे ।
दो चक्की दहकप्पे, आहुट्ठयकोडिणिव्वुदे वंदे ॥ ११ ॥
वडवाणीवरणयरे, दक्खिणभायम्मि चूलगिरिसिहरे ।
इंदजीदकुंभयणो, णिव्वाण गया णमो तेसिं ॥ १२ ॥
पावागिरिवरणयरे, सुवण्णभद्दाइमुणिवरा चउरो ।
चलणाणईतडग्गे, णिव्वाण गया णमो तेसिं ॥ १३ ॥
फलहोडीवरगामे, पच्छिमभायम्मि दोणगिरिसिहरे ।
गुरुदत्ताइ मुणिंदा, णिव्वाण गया णमो तेसिं ॥ १४ ॥
णायकुमारमुणिंदो, वालि महावालि चेव अज्झेया ।

अट्ठावयगिरिसिहरे, णिव्वाण गया णमो तेसिं ॥ १५ ॥
अच्चलपुरवरणयरे, ईसाणे भायमेढगिरिसिहरे।
आहुट्ठयकोडीओ, णिव्वाण गया णमो तेसिं ॥ १६ ॥
वंसत्थलम्मि णयरे, पच्छिमभायम्मि कुंथगिरिसिहरे।
कुलदेसभूषणमुणी; णिव्वाण गया णमो तेसिं ॥ १७ ॥
जसहररायस्स सुआ, पचसयाइं कलिंगदेसम्मि ।
कोडिसिला कोडिमुणी, णिव्वाण गया णमो तेसिं ॥ १८ ॥
पासस्स समवसरणें, गुरुवरदत्त पचरिसिपमुहा ।
रेसिंदीगिरिसिहरे, णिव्वाण गया णमो तेसिं ॥ १९ ॥
जे जिणु जित्थु तत्था, जें दु गया णिव्वुदिं परमं ।
ते वंदामि य णिच्चं, तियरणसुद्धो णमंसामि ॥ २० ॥
सेसाणं तु रिसीणं, णिव्वाणं जम्मि जम्मि ठाणम्मि ।
ते ह वंदे सव्वे, दुक्खक्खयकारणट्ठाए ॥ २१ ॥
पासं तह अहिणंदण, णायद्दहि मङ्गलाउरे वंदे ।
अस्सारंभे पट्टणि, मुणिसुव्वओ तहेव वदामि ॥ १ ॥
बाहूवलि तह-वदमि, पोदनपुर हत्थिनापुरे वंदे ।
संतीकुन्थुव अरिहो, वाराणसिए सुपास पासं च ॥ २ ॥
माहुरए अहिछित्ते, वीरं पासं तहेव वंदामि ।
जंवुमुणिंदो वदे, णिव्वुइपत्तोवि जंवुवणगहणे ॥ ३ ॥
पश्चकल्लाणठाणइ, जाणि वि संजादमच्चलोयम्मि ।
मणवयणकायसुद्धो, सव्वे सिरसा णमंसामि ॥४॥
अग्गलदेवं वंदमि, वरणयरे णिवडकुण्डणी वंदें ।
पासं सिरिपुरि वंदमि, होला गिरिसंखदेवम्मि ॥ ५ ॥
गोम्मटदेवं वंदमि, पचसयं धणुहउच्चं तं ।
देवा कुणंति वुट्ठी, केसरकुसुमाण तस्स उवरिम्मि ॥ ६ ॥
णिव्वाणठाण जाणिवि, अइसयठाणाणि अइसये सहिया ।
संजादमिच्च लोए, सव्वे सिरसा णमंसामि ॥ ७ ॥

जो जण पंठइ तियालं, णिव्वुइकंडंपि भावसुद्धीय।
भुंजदि णरसुरसुक्खं, पच्छा सो लहइ णिव्वाणं॥ ८॥

अचलिका

इच्छामि भंते! परिणिव्वाणभंतिकाउस्सग्गो कओ तस्सा लोचेउं। इमम्मि अवसप्पिणीए चउत्थ समयस्स पच्छिमे भाये, आहुट्ठमासहीणे वासचउक्कम्मिसेसकम्मि पावाए णयरीयकत्तियमासस्स किण्हचउद्दसिए रत्तीए सादीए णक्खत्ते पच्चूसेभयवदो महदिमहावीरो वड्ढमाणो सिद्धिंगदो, तिसुवि लोएसु भवणवासिय वाणविंतर जोयिसिय कप्पवासियत्ति चउव्विहा देवा सपरिवारा दिव्वेण, गंधेण, दिव्वेण पुप्फेण, दिव्वेण धूवेण, दिव्वेण, चुण्णेण, दिव्वेण वासेण, दिव्वेण ण्हाणेण णिच्चकाल अच्चति, पूजति, वदंति, णमसंति, परिणिव्वाणमहाकल्लाणपुज्ज करेंति, अहमवि इह सन्तो तत्थ संताइं णिच्चकाल अंचेमि, पूजेमि, वदामि, णमंसामि, दुक्खक्खओ कम्मक्खओ बोहिलाहो सुगइगमणं समाहिमरणं जिणगुणसंपत्ति होउ मज्झं।

गणधरवलय:

जिनान् जितारातिगणान् गरिष्ठान् देशावधीन् सर्वपरावधींश्च। सत्कोष्ठबीजादिपदानुसारीन् स्तुवे गणेशानपि तद्गुणाप्त्यै॥ १ ॥ संभिन्नश्रोत्रान्वितसन्मुनीन्द्रान् प्रत्येकसम्बोधितबुद्धधर्मान्। स्वयंप्रबुद्धांश्च विमुक्तिमार्गान् स्तुवे गणेशानपि तद्गुणाप्त्यै॥ २ ॥ द्विधामनःपर्ययचित्प्रयुक्तान् द्विपञ्चसप्तद्वयपूर्वसक्तान्। अष्टाङ्गनैमित्तिकशास्त्रदक्षान् स्तुवे गणेशानपि तद्गुणाप्त्यै॥ ३ ॥ विकुर्वणाख्यर्द्धिमहाप्रभावान् विद्याधरांश्चारणपर्द्धिप्राप्तान्। प्रज्ञाश्रितान्नित्यखगामिनश्च स्तुवे गणेशानपि तद्गुणाप्त्यै॥ ४ ॥ आशीर्विषान् दृष्टिविषान्मुनीन्द्रानुग्रातिदीप्तोत्तमतप्ततप्तान्। महातिघोरप्रतपःप्रसक्तान् स्तुवे गणेशानपि तद्गुणाप्त्यै॥५॥

वन्द्यान् सुरैर्घोरगुणांश्च लोके पूज्यान् बुधैर्घोरपराक्रमांश्च । घोरादिसंसद्गुणब्रह्मयुक्तान् स्तुवे गणेशानपि तद्गुणाप्त्यै ॥ ६ ॥ आमर्द्धिखेलर्द्धिप्रजल्लविट्प्रसर्वर्द्धिप्राप्तांश्च व्यथादिहतॄन् । मनोवचःकायबलोपयुक्तान् स्तुवे गणेशानपि तद्गुणाप्त्यै ॥ ७ ॥ सत्क्षीरसर्पिर्मधुरामृतर्द्धीन् यतीन् वराक्षीणमहानसांश्च । प्रवर्धनांस्त्रिजगत्प्रपूज्यान् स्तुवे गणेशानपि तद्गु· णाप्त्यै ॥ ८ ॥ सिद्धालयान् श्रीमहतोऽतिवीरान् श्रीवर्द्धमानर्द्धिविबुद्धिदक्षान् । सर्वान् मुनीन् मुक्तिवरानृपीन्द्रान् स्तुवे गणेशानपि तद्गुणाप्त्यै ॥ ९ ॥ नृसुरखचरसेव्या विश्वश्रेष्ठर्द्धिभूषा विविधगुणसमुद्रा मारमातङ्गसिंहाः । भवजलनिधिपोता वंदिता मे दिशन्तु मुनिगणसकलान् श्रीसिद्धिदाः सदृपीन्द्रान् ॥ १० ॥

इति गणधरवलयः ।

अथ वीतरागस्तोत्रम् ।

शिवं शुद्धबुद्ध परं विश्वनाथं । न देवो न बधुर्न कर्मा न कर्ता । न अंगं न संगं न चेच्छा न कामं । चिदानदरूपं नमो वीतरागम् ॥१॥ न बंधो न मोक्षो न रागादिदोषः । न योग न भोगं न व्याधिर्न शोकं । न कोप न मानं न माया न लोभं । चिदानद० ॥ २ ॥ न हस्तौ न पादौ न घ्राणं न जिह्वा । न चक्षुर्न कर्णं न वक्त्रं न निद्रा । न स्वामी न भृत्यं न देवो न मर्त्यः ॥ चिदानद० ॥ ३ ॥ ना जन्ममृत्यू न मोह न चिंता । न क्षुद्रो न भीतो न कार्श्यं न तंद्रा । न स्वेदं न खेदं न वर्णं न मुद्रा । चिदानद० ॥ ४ ॥ त्रिदण्डे त्रिखण्डे हरे विश्वनाथं । हृषीकेश विध्वस्तकर्मादिजालं । न पुण्यं न पापं न चाक्षादि गात्रं । चिदानंद० ॥ ५ ॥ न बालो न वृद्धो न तुच्छो न मूढो । न स्वेदं न भेद न मूर्तिर्न स्नेहः । न कृष्णं न शुक्लं न मोहं न तंद्रा । चिदानंद० ॥ ६ ॥ न आद्यं न मध्यं

न अंतं न मन्या । न द्रव्यं न क्षेत्रं न कालो न मानः । शिष्यो गुरुर्नापि हीन न दीनं ॥ चिदानद० ॥ ७ ॥ इद ज्ञानरूपं स्वय तत्त्ववेदी । न पूर्ण न शून्यं न चैत्यस्वरूपो । न चान्यो न भिन्नं न परमार्थमेकम् ॥ चिदानद० ॥ ८ ॥ आत्मारामगुणाकरं गुणनिधिं चैतन्यरत्नाकरं । सर्वे भूतगतागते सुखदुःखे ज्ञाते त्वया सर्वगे । त्रैलोक्याधिपते स्वयं स्वमनसा ध्यायति योगीश्वराः । वंदे तं हरिवंशेहर्षहृदय श्रीमन् हृदाभ्युद्यताम् ॥ ९ ॥

अथ तीर्थंकरस्तुतिः

स्वस्त्यैव नः स्याद्वृषभो जिनेन्द्रः । स्वस्तिप्रदो नस्त्वजितो जिनेंद्रः । श्रीसंभवो नोऽस्तु सदैव स्वस्ति । स्वस्त्यैव भूयादभिनदनो जिनः ॥ १ ॥ स्वस्तिप्रवृद्धयो सुमतिस्तु नोऽस्तु । पद्मप्रभो नः प्रतनोतु स्वास्ति । सुपार्श्वनामाति जिनोऽस्तु स्वास्ति । चन्द्रप्रभो नो दिशतां च स्वास्ति ॥ २ ॥ श्रीपुष्पदंतो विदधातु स्वास्ति । सुस्वास्तिदायी मम शीतलोऽस्तु । श्रेयांस स्वस्त्यैव ममैव भूयात् श्रीवासुपूज्योऽपि जिनोऽस्तु स्वास्ति ॥ ३ ॥ स्वस्तिप्रदो नो विमलो जिनोऽस्तु । स्वस्ति त्वनंतोऽपि ममास्तु नित्यं । धर्मोऽपि मां स्वास्तिकरः सदास्तु । श्रीशांतिनाथोस्तु ममैव स्वास्ति । कुन्थुस्तुभूयान्मम स्वास्तिकारी । जिनस्त्वरः स्वास्तिकरश्च नोस्तु । स्वस्त्यैव मल्लिस्तु जिनोस्तु नित्यं । स्वास्तिप्रदो नो मुनिसुव्रतोऽस्तु ॥ ५ ॥ नमिजिनः स्वास्तिकृदस्तु नित्य । स्वस्त्यैव नेमिर्जिन मेऽस्तु नित्यं । श्री पार्श्वनाथो मयि स्वास्तिदोऽस्तु । श्रीस्वास्तिदो वीरजिनः सदास्तु ॥ ६ ॥

इति तीर्थङ्करस्तुतिः ।

अथ रत्नकरंड श्रावकाचार।

नमः श्रीवर्द्धमानाय निर्धूतकलिलात्मने। सालोकानां त्रिलोकानां यद्विद्या दर्पणायते ॥ १ ॥ देशयामि समीचीनं धर्मं कर्मनिवर्हणम्। संसारदुखतः सत्वान् यो धरत्युत्तमे सुखे ॥ २ ॥ सद्दृष्टिज्ञानवृत्तानि धर्मं धर्मेश्वरा विदुः। यदीयप्रत्यनीकानि भवन्ति भवपद्धतिः ॥ ३ ॥ श्रद्धानं परमार्थानामाप्तागमतपोभृताम्। त्रिमूढापोढमष्टांगं सम्यग्दर्शनमस्मयम् ॥ ४ ॥ आप्तेनोच्छिन्नदोषेण सर्वज्ञेनागमेशिना। भवितव्य नियोगेन नान्यथा ह्याप्तता भवेत् ॥ ५ ॥ क्षुत्पिपासाजरातङ्कजन्मांतकभयस्मयाः। न रागद्वेषमोहाश्च यस्याप्तः स प्रकीर्त्यते ॥ ६ ॥ परमेष्ठी परंज्योतिर्विरागो विमलः कृती। सर्वज्ञोऽनादिमध्यान्तः सार्वः शास्तोपलाल्यते ॥ ७ ॥ अनात्मार्थं विना रागैः शास्ता शास्ति सतो हितम्। ध्वनन् शिल्पिकरस्पर्शान्मुरजः किमपेक्षते ॥ ८ ॥ आप्तोपज्ञमनुल्लंघ्यमदृष्टेष्टविरोधकम्। तत्वोपदेशकृत्सार्वं शास्त्रं कापथघट्टनम् ॥ ९ ॥ विषयाशावशातीतो निरारम्भोऽपरिग्रहः। ज्ञानध्यानतपोरक्तस्तपस्वी स प्रशस्यते ॥१०॥ इदमेवेदृशमेव तत्वं नान्यन्न चान्यथा। इत्यकम्पायसाम्भोवत्सन्मार्गेऽसंशया रुचिः ॥ ११ ॥ कर्मपरवशे सान्ते दुःखैरन्तरितोद ये। पापबीजे सुखेऽनास्था श्रद्धानाकांक्षणा स्मृता ॥ १२ ॥ स्वभावतोऽशुचौ काये रत्नत्रयपवित्रते। निर्जुगुप्सा गुणप्रीतिर्मता निर्विचिकित्सिता ॥ १३ ॥ कापथे पथि दुखानां कापथस्थेप्यसम्मतिः। असंपृक्तिरनुत्कीर्तिरमूढा दृष्टिरुच्यते ॥ १४ ॥ स्वयं शुद्धस्य मार्गस्य बालाशक्तजनाश्रयाम्। वाच्यतां यत्प्रमार्जंति तवदंत्युपगूहनम् ॥ १५ ॥ दर्शनाच्चरणाद्वापि चलतां धर्मवत्सलैः। प्रत्यवस्थापनं प्राज्ञैः स्थितिकरणमुच्यते ॥ १६ ॥ स्वयूथ्यान्प्रति सद्भावसनाथापेतकैतवा। प्रतिपत्तिर्यथायोग्यं वात्सल्यमभिलप्यते ॥ १७ ॥ अज्ञानतिमिरव्याप्तिमपाकृत्य यथायथम्। जिनशासनमाहात्म्यप्रकाशः स्यात्प्र-

भावना ॥ १८ ॥ तावदंजनचौरोऽङ्गे ततोऽनंतमती स्मृता । उद्दायनस्तृतीयेऽपि तुरीये रेवती मता ॥ १९ ॥ ततो जिनेन्द्रभक्तोऽपि वारिषेणस्ततः परः । विष्णुश्च वज्रनामा च शेषयोर्लक्ष्यतां गतौ ॥ २० ॥ नांगहीनमलं छेत्तुं दर्शनं जन्मसंततिम् । न हि मन्त्रोऽक्षरन्यूनो निहंति विषवेदनां ॥ २१ ॥ आपगासागरस्नानमुच्चयः सिकताश्मनाम् । गिरिपातोऽग्निपातश्च लोकमूढं निगद्यते ॥ २२ ॥ वरोपलिप्सयाशावान् रागद्वेषमलीमसाः । देवता यदुपासीत देवतामूढमुच्यते ॥ २३ ॥ सग्रंथारम्भहिंसानां संसारावर्तवर्तिनाम् । पाखंडिनां पुरस्कारो ज्ञेयं पाखंडिमोहनम् ॥ २४ ॥ ज्ञानं पूजां कुलं जातिं बलमृद्धिं तपो वपुः । अष्टावाश्रित्य मानित्वं स्मयमाहुर्गतस्मयाः ॥ २५ ॥ स्मयेन योऽन्यानत्येति धर्मस्थान् गर्विताशयः । सोऽत्येति धर्ममात्मीयं न धर्मो धार्मिकैर्विना ॥ २६ ॥ यदि पापनिरोधोऽन्यसंपदा किं प्रयोजनं । अथ पापास्रवोऽस्त्यन्यसंपदा किं प्रयोजनं ॥ २७ ॥ सम्यग्दर्शनसंपन्नमपि मातंगदेहजम् । देवा देवं विदुर्भस्मगूढांगारांतरौजसम् ॥ २८ ॥ श्वापि देवोऽपि देवः श्वा जायते धर्मकिल्बिषात् । कापि नाम भवेदन्या संपद्धर्माच्छरीरिणां ॥ २९ ॥ भयाशास्नेहलोभाच्च कुदेवागमलिंगिनां । प्रणामं विनयं चैव न कुर्युः शुद्धदृष्टयः ॥ ३० ॥ दर्शनं ज्ञानचारित्रात्साधिमानमुपाश्नुते । दर्शनं कर्णधारं तन्मोक्षमार्गे प्रचक्षते ॥ ३१ ॥ विद्यावृत्तस्य संभूतिस्थितिवृद्धिफलोदयाः । न संत्यसति सम्यक्त्वे बीजाभावे तरोरिव ॥ ३२ ॥ गृहस्थो मोक्षमार्गस्थो निर्मोहो नैव मोहवान् । अनगारो गृही श्रेयान् निर्मोहो मोहिनो मुनेः ॥ ३३ ॥ न सम्यक्त्वसमं किंचित् त्रैकाल्ये त्रिजगत्यपि । श्रेयोऽश्रेयश्च मिथ्यात्वसमं नान्यत्तनूभृतां ॥ ३४ ॥ सम्यग्दर्शनशुद्धा नारकतिर्यङ्नपुंसकस्त्रीत्वानि । दुष्कुलविकृताल्पायुर्दरिद्रतां च व्रजंति नाप्यव्रतिकाः ॥ ३५ ॥ ओजस्तेजोविद्यावीर्ययशोवृद्धिविजयविभवसनाथाः । महाकुला महार्था मानवतिलका भवंति दर्शनपूताः ॥ ३६ ॥ अष्टगुणपुष्टितुष्टा दृष्टिविशिष्टाः प्रकृष्टशोभाजुष्टाः । अमराप्सरसां परिषदि चिरं रमंते जिनेन्द्रभक्ताः स्वर्गे ॥ ३७ ॥ नवनिधिसप्तद्वयरत्नाधीशाः सर्वभूमिपतयश्चक्रं । वर्तयितुं प्रभवंति स्पष्ट-

दश॰ क्षमूमौलिशेखरचरणाः ॥ ३९ ॥ अमरासुरनरपतिभिर्यमधरपतिभि-
श्च नूतपादांभोजाः दृष्ट्या सुनिश्चितार्था वृषचक्रधरा भवंति लोकशरण्याः
॥ ४० ॥ शिवमजरमरुजमक्षयमव्याबाधं विशोकभयशंकं । काष्ठागतसुख-
विद्याविभवं विमलं भजंति दर्शनशरणाः ॥ ४१ ॥ देवेंद्रचक्रमहिमानमम-
मेयमानं राजेन्द्रचक्रमवनीन्द्रशिरोऽर्चनीयम् । धर्मेन्द्रचक्रमधरीकृतसर्वलोकं
लब्ध्वा शिवं च जिनभक्तिरुपैति भव्यः ॥ ४२ ॥ इति
अन्यूनमनतिरिक्तं याथातथ्यं विना च विपरीतात् । निःसंदेहं वेद
यदाहुस्तज्ज्ञानमागमिनः ॥ ४२ ॥ प्रथमानुयोगमर्थाख्यानं चरितं पुरा-
णमपि पुण्यं । बोधिसमाधिनिधानं बोधति बोधः समीचीनः ॥ ४३ ॥ लोका-
लोकविभक्तेर्युगपरिवृत्तेश्चतुर्गतीनां च । आदर्शमिव तथामतिरवैति करण-
णानुयोगं च ॥ ४४ ॥ गृहमेध्यनगाराणां चारित्रोत्पत्तिवृद्धिरक्षांगम् ।
चरणानुयोगसमयं सम्यग्ज्ञानं विजानाति ॥ ४५ ॥ जीवाजीवसुतत्त्वे पुण्या-
पुण्ये च बन्धमोक्षौ च । द्रव्यानुयोगदीपः श्रुतविद्यालोकमातनुते ॥ ४६ ॥
मोहतिमिरापहरणे दर्शनलाभादवाप्तसंज्ञानः । रागद्वेषनिवृत्यै चरणं
प्रतिपद्यते साधुः ॥ ४७ ॥ रागद्वेषनिवृत्तेर्हिंसादिनिवर्तना कृता भवति ।
अनपेक्षितार्थवृत्तिः कः पुरुषः सेवते नृपतीन् ॥ ४८ ॥ हिंसानृतचौर्ये-
भ्यो मैथुनसेवापरिग्रहाभ्यां च । पापप्रणालिकाभ्यो विरतिः संज्ञस्य चारि-
त्रम् ॥ ४९ ॥ सकलं विकलं चरणं तत्सकलं सर्वसंगविरतानाम् । अनगा-
राणां विकलं सागाराणां ससंगानाम् ॥ ५० ॥ गृहिणां त्रेधा तिष्ठत्यणुगु-
णशिक्षाव्रतात्मकं चरणम् । पंचत्रिचतुर्भेदं त्रयं यथासंख्यमाख्यातम् ॥ ५१ ॥
प्राणातिपातवितथव्याहारस्तेयकाममूर्च्छाभ्यः । स्थूलेभ्यः पापेभ्यो व्यु-
परमणमणुव्रतं भवति ॥ ५२ ॥ संकल्पात्कृतकारितमननाद्योगत्रयस्य
चरसत्वान् । न हिनस्ति यत्तदाहुः स्थूलवधाद्विरमणं निपुणाः ॥ ५३ ॥
छेदनबंधनपीडनमतिभारारोपणं व्यतीचाराः । आहारवारणापि च स्थू-
लवधाद्व्युपरतेः पंच ॥ ५४ ॥ स्थूलमलीकं न वदति न परान् वाद-
यति सत्यमपि विपदे । यत्तद्वदंति संतः स्थूलमृषावादवैरमणम् ॥ ५५ ॥
परिवादरहोभ्याख्या पैशून्यं कूटलेखकरणं च । न्यासापहारितापि च

व्यतिक्रमाः पंच सत्यस्या ॥ ५६ ॥ निहतं वा पतितं वा सुविस्मृतं वा पर-स्वमविसृष्ट न हरति यन्न च दत्ते तदकृशचौर्यादुपारमण ॥ ५७ ॥ चौर-प्रयोगचौरार्थादानविलोपसदृशसन्मिश्राः । हीनाधिकावीभिमानं पंचस्तेये व्यतीपाताः ॥ ५८ ॥ न तु परदारान् गच्छति न परान् गमयति च पापभीतेर्यत् । सा परदारनिवृत्तिः स्वदारसन्तोषनामापि ॥ ५९ ॥ अन्य-विवाहाकरणानंगक्रीडाविटत्वविपुलतृषः इत्वरिकागमनं चासरस्य पंच व्यतिचाराः ॥ ६० ॥ धनधान्यादिग्रंथं परिमाय ततोऽधिकेषु निःस्पृहता परिमितपरिग्रहः स्यादिच्छापरिमाणनामापि ॥ ६१ ॥ अतिवाहनाति-संग्रहविस्मयलोभातिभारवहनानि । परिमितपरिग्रहस्य च विपेक्षाः पंच लक्ष्यंते ॥ ६२ ॥ पचाणुव्रतनिधयो निरतिक्रमणाःफलन्ति सुरलोकं यत्रा-वधिरष्टगुणा दिव्यशरीरं च लभ्यंते ॥ ६३ ॥ मातगो धनदवेश्च वारि-षेणस्ततः परः । नीली जयश्च संप्राप्ताः पूजातिशयमुत्तमम् ॥ ६४ ॥ धन-श्रीसत्यघोषौ च तापसारक्षकावपि । उपाख्येयास्तथा श्मश्रुनवनीतो यथा क्रमम् ॥ ६५ ॥ मद्यमांसमधुत्यागैः सहाणुव्रतपंचकम् । अष्टौ मूलगुणा-नाहुर्गृहिणां श्रमणोत्तमाः ॥ ६६ ॥ दिग्व्रतमनर्थदंडव्रतं च भोगोपभोग-परिमाणम् । अनुबृंहणाद् गुणानामाख्यांति गुणव्रतान्यार्याः ॥ ६७ ॥ दिग्वलयं परिगणित कृत्वातोऽहं बहिर्न यास्यामि इति संकल्पो दिग्व्रत-मामृत्यणुपापविनिवृत्त्यै ॥ ६८ ॥ मकराकरसरिदटवीगिरिजनपदयोजनानि मर्य्यादा । प्राहुर्दिशां दशानां प्रतिसंहारे प्रसिद्धानि ॥ ६९ ॥ अवधेर्बहि-रणुपापप्रतिविरतेर्दिग्व्रतानि धारयतां । पंचमहाव्रतपरिणतिमणुव्रतानि प्रप-द्यंते ॥ ७० ॥ प्रत्याख्यानतदुरवान्मंदतराश्चरणमोहपरिणामाः । सत्वेन दुरवधारा महाव्रताय प्रकल्प्यंते ॥ ७१ ॥ पंचाना पापानां हिंसादीनां मनोवचःकायैः । कृतकारितानुमोदैस्त्यागस्तु महाव्रत महतां ॥ ७२ ॥ ऊर्ध्वाधस्तिर्यग्व्यतिपाताःक्षेत्रवृद्धिरवधीनां । विस्मरणं दिग्विरतेरत्याशाः पंच मन्यंते ॥ ७३ ॥ अभ्यतरं दिगवधेरपार्थिकेभ्यः सपापयोगेभ्यः । विर-मणमनर्थदंडव्रत विदुर्व्रतधराग्रण्यः ॥ ७४ ॥ पापोपदेशहिंसादानापध्या-नदुःश्रुतीः पंच । प्राहुः प्रमादचर्यामनर्थदण्डानदण्डधराः ॥ ७५ ॥ तिर्य-

कृक्लेशवणिज्याहिंसारंभप्रलंभनादीनाम् । कथाप्रसंगप्रसवः स्मर्त्तव्यः पापो-पदेशः ॥ ७६ ॥ परशुकृपाणखनित्रज्वलनायुधशृगिशृंखलादीनां । वधहे-तूनां दानं हिंसादान ब्रुवंति बुधाः ॥ ७७ ॥ वधबंधच्छेदादेर्द्वेषाद्रागाच्च परकलत्रादेः । आध्यानमपध्यानं शासति जिनशासने विशदाः ॥ ७८ ॥ आरंभसंगसाहसमिथ्यात्वद्वेषरागमदमदनैः । चेतः कलुषयतां श्रुतिरवधीनां दुःश्रुतिर्भवति ॥ ७९ ॥ क्षितिसलिलदहनपवनारंभ विफलं वनस्पतिच्छेद। सरणं सारणमपि च प्रमादचर्या प्रभाणंते ॥ ८० ॥ कंदर्प कौत्कुच्यं मौख-र्यमतिप्रसाधनं पंच । असमीक्ष्य चाधिकरणं व्यतीतयोऽनर्थदडकृद्विरतेः ॥ ८१ ॥ अक्षार्थानां परिसंख्यान भोगोपभोगपरिमाणं । अर्थवतामप्य-वधौ रागरतीनां तनूकृतये ॥ ८२ ॥ भुक्त्वा परिहातव्यो भोगो भुक्त्वा पुनश्च भोक्तव्यः । उपभोगोऽशनवसनप्रभृतिः पञ्चेंद्रियो विषयः ॥८३॥ त्रसहतिपरिहरणार्थं क्षौद्र पिशित प्रमादपरिहृतये । मद्यं च वर्जनियं जिन-चरणौ शरणमुपयातैः॥ ८४ ॥ अल्पफलबहुविघातान्मूलकमार्द्राणि शृंग-वेराणि । नवनीतनिंवकुसुम कैतकमित्येवमवहेयम् ॥ ८५ ॥ यदनिष्ट तद व्रतयेद्यच्चानुपसेव्यमेतदपि जह्यात् । अभिसंधिकृता विरतिर्विषयाद्योग्याद्व्रत भवति ॥ ८६ ॥ नियमो यमश्च विहितौ द्वेधा भोगोपभोगसंहारे । नियमः परिमितकालो यावज्जीवं यमो ध्रियते ॥ ८७ ॥ भोजनवाहनश-यनस्नानपवित्रांगरागकुसुमेषु । तांबूलवमनभूषणमन्मथसंगीतगीतेषु ॥८८॥ अद्य दिवा रजनी वा पक्षो मासस्तथर्तुरयन वा । इति कालपरिच्छित्या प्रत्याख्यानं भवेन्नियमः ॥ ८९ ॥ विषयविषतोऽनुपेक्षानुस्मृतिरतिलौल्य-मतितृषानुभवः । भोगोपभोगमाव्यतिक्रमाः पञ्च कथ्यंते ॥ ९० ॥

देशावकाशिक वा सामायिकं प्रोषधोपावासो वा । वैयावृत्यं शिक्षा-व्रतानि चत्वारि शिष्टानि ॥ ९१ ॥ देशावकाशिक स्यात्कालपरिच्छेदनेन देशस्य । प्रत्यहमणुव्रतानां प्रतिसंहारो विशालस्य ॥ ९२ ॥ गृहहरिग्रा-माणां क्षेत्रनदीदावयोजननां च । देशावकाशिकस्य स्मरंति सीम्रां तपो-वृद्धाः ॥ ९३ ॥ संवत्सरमृतुरयनं मासचतुर्मासपक्षमृक्षं च । देशावकाशि-कस्य प्राहुः कालावधिं प्राज्ञाः ॥ ९४ ॥ सीमान्तानां परतः स्थूलेतर-

पंचपापसंत्यागात् । देशावकाशिकेन च महाव्रतानि प्रसाध्यंते ।। ९५ ।।
प्रेषणशब्दानयनं रूपाभिव्यक्ति पुद्गलक्षेपौ । देशावकाशिकस्य व्यपदि-
श्यंतेऽत्ययाः पंच ।। ९६ ।। आसमयमुक्ति मुक्तं पंचाघानामशेषभावेन ।
सर्वत्र च सामयिकाः सामयिकं नाम शसंति ।। ९७ ।। मूर्धरुहमुष्टिवा-
सोवंधं पर्यंकवंधनं चापि । स्थानमुपवेशन वा समयं जानति समयज्ञाः
।। ९८ ।। एकाते सामायिकं निर्व्याक्षेपे वनेषु वास्तुषु च । चैत्यालयेषु
वापि च परिचेतव्य प्रसन्नधिया ।। ९९ ।। व्यापारवैमनस्याद्विनिवृत्यामं-
तरात्मविनिवृत्या । सामयिकं वघ्नीयादुपवासे चैकभुक्ते वा ।। १०० ।।
सामयिकं प्रतिदिवसं यथावदप्यनलसेन चेतव्यं । व्रतपञ्चकपरिपूरणकार-
णमवधानयुक्तेन ।। १०१ ।। सामयिके सारंभाः परिग्रहा नैव संति सर्वे-
ऽपि । चेलोपसृष्टमुनिरिव गृही तदा याति यतिभावम् ।। १०२ ।। शीतो-
ष्णदंशमशकपरीषहमुपसर्गमपि च मौनधराः । सामायिक प्रतिपन्ना अधि-
कुर्वीरन्नचलयोगाः ।। १०३ ।। अशरणमशुभमनित्यं दुःखमनात्मानमाव-
सामि भवम् । मोक्षस्तद्विपरीतात्मेति ध्यायतु सामयिके ।। १०४ ।। वाका-
यमानसानां दुष्प्रणिधानान्यनादरास्मरणे । सामयिकस्यातिगमा व्यज्यते
पञ्च भावेन ।। १०५ ।। पर्वण्यष्टम्यां च ज्ञातव्यः प्रोपधोपवासस्तु । चतु-
रभ्यवहार्याणां प्रत्याख्यान सदेच्छाभिः ।। १०६ ।। पञ्चानां पापानाम-
लंक्रियारंभगधपुष्पाणाम् । स्नानांजननस्यानामुपवासे परिहृतिं कुर्यात्
।। १०७ ।। धर्मामृत सतृषणः श्रवणाभ्यां पिवतु पाययेद्वान्यान् । ज्ञान-
ध्यानपरो वा भवतूपवसन्नतंद्रालुः ।। १०८ ।। चतुराहारविसर्जनमुपवासः
प्रोपधः सकृद्भुक्तिः । स प्रोपधोपवासो यदुपोष्यारंभमाचरति ।। १०९ ।।
ग्रहणविसर्गास्तरणान्यदृष्टमृष्टान्यनादरास्मरणे । यत्प्रोपधोपवासव्यतिलङ्घ-
नपचक तदिद ।। ११० ।। दानं वैयावृत्यं धर्माय तपोधनाय गुणनिधये ।
अनपेक्षितोपचारोपक्रियमगृहाय विभवेन ।। १११ ।। व्यापत्तिव्यपनोदः
पदयोः संवाहनं च गुणरागात् । वैयावृत्यं यावानुपग्रहोऽन्योऽपि संय-
मिनां ।। ११२ ।। नवपुण्यैः प्रतिपत्तिः सप्तगुणसमाहितेन शुद्धेन । अप-
सूनारंभाणामार्याणामिष्यते दानम् ।। ११३ ।। गृहकर्मणापि निचितं कर्म

विमार्ष्टि खलु गृहविमुक्तानां। अतिथीनां प्रतिपूजा रुधिरमलं धावते-वारि ॥ ११४ ॥ उच्चैर्गोत्रं प्रणतेर्भोगो दानादुपासनात्पूजा। भक्तेः सुंदररूपं स्तवनात्कीर्तिस्तपोनिधिषु ॥ ११५ ॥ क्षितिगतमिव वटबीजं पात्रगतं दानमल्पमपि काले। फलतिच्छायाविभव वहुफलमिष्टं शरीर-भृतां ॥ ११६ ॥ आहारौषधयोरप्युपकरणावामयोश्च दानेन। वैयावृत्यं ब्रुवते चतुरात्मत्वेन चतुरस्राः ॥ ११७ ॥ श्रीषेणवृषभसेने कौंडेशः शूक-रश्च दृष्टाताः। वैयावृत्यस्यैते चतुर्विकल्पस्य मतव्याः ॥ ११८ ॥ देवा-धिदेवचरणे परिचरणं सर्वदुःखनिर्हरणम्। कामदुहि कामदाहिनि परिचि-नुयादादृतो नित्यम् ॥ ११९ ॥ अर्हच्चरणसपर्यामहानुभावं महात्मनाम-वदत्। भेकः प्रमोदमत्तः कुसुमेनैकेन राजगृहे ॥ १२० ॥ हरितपिवान-निधाने ह्यनादरासरणमत्सरत्नानि। वैयावृत्यस्यैते व्यतिक्रमाः पंच कथ्यन्ते ॥ १२१ ॥

उपसर्गे दुर्भिक्षे जरसि रुजायां च निष्प्रतीकारे। धर्माय तनुविमो-चनमाहुः सल्लेखानामार्याः ॥ १२२ ॥ अंतक्रियाधिकरणं तपःफलं सक-लदर्शिनःस्तुवते। तस्माद्यावद्विभवं समाधिमरणे प्रयतितव्यम् ॥ १२३ ॥ स्नेह वैरं संगं परिग्रहं चापहाय शुद्धमनाः। स्वजन परिजनमपि च चान्त्वा क्षमयेत्प्रियैर्वचनैः ॥ १२४ ॥ आलोच्य सर्वमेनः कृतकारितम-नुमतं च निर्व्याजम् आरोपयेन्महाव्रतमामरणस्थायि निश्शेषम् ॥ १२५ ॥ शोकं भयमवसाद क्लेदं कालुष्यमरतिमपि हित्वा। सत्त्वोत्साहमुदीर्य च मनः प्रसाद्यं श्रुतैरमृतैः ॥ १२६ ॥ आहारं परिहाप्य क्रमशः स्निग्ध विव-र्द्धयेत्पानं। स्निग्धं च हापयित्वा खरपान पूरयेत्क्रमशः ॥ १२७ ॥ खर-पानहापनामपि कृत्वा कृत्वोपवासमपि शक्त्या पंचनमस्कारमनास्तनुं त्य-जेत्सर्वयत्नेन ॥ १२८ ॥ जीवितमरणाशंसे भयमित्रस्मृतिनिदाननामानः। सल्लेखनातिचाराः पच जिनेन्द्रैः समदिष्टाः ॥ १२९ ॥ निश्रेयसमभ्युदयं निस्तीरं दुस्तरं सुखांबुनिधिं। निष्पिवति पीतधर्मा सर्वैर्दुःखैरनालीढः ॥१३०॥ जन्मजरामयमरणैः शोकैर्दुःखैर्भयैश्च परिमुक्तम्। निर्वाणम् शुद्धसुखं निःश्रे-यसमिष्यते नित्य ॥ १३१ ॥ विद्यादर्शनशक्तिस्वास्थ्यप्रह्लादतृप्तिशुद्धियुजः।

निरतिशया निरवधयो निःश्रेयसमावसंति सुखं ।। १३२ ।। काले कल्पशतेऽपि च गते शिवानां न विक्रिया लक्ष्या । उत्पातोऽपि यदि स्यात् त्रिलोकसंभ्रांतिकरणपटुः ।। १३३ ।। निःश्रेयसमधिपन्नास्त्रैलोक्यशिखामणिश्रियं दधते । निष्किट्टकालिकाच्छविच भीकरभासुरात्मानः ।। १३४ ।। पूजार्थाज्ञैश्वर्यैर्बलपरिजनकामभोगभूयिष्टैः । अतिशयितभुवनमद्भुतमभ्युदय फलति सद्धर्मः ।। १३५ ।। श्रावकपदानि देवैरेकादश देशितानि येषु खलु । स्वगुणाः पूर्वगुणैः सह संतिष्ठंते क्रमविवृद्धः ।। १३६ ।। सम्यग्दर्शनशुद्धः संसारशरीरभोगनिर्विण्णः । पंचगुरुचरणशरणो दर्शनिकस्तत्त्वपथगृह्यः ।। १३७ ।। निरति क्रमणमणुव्रतपचकमपि शीलसप्तकं चापि । धारयते निःशल्यो योऽसौ व्रतिनां मतो व्रतिकः ।। १३८ ।। चतुरावर्त्तत्रितयश्चतुः प्रमाणः स्थितो यथाजातः सामयिको द्विनिपद्यस्त्रियोगशुद्धस्त्रिसंध्यमभिवंदी ।। १३९ ।। पर्वदिनेषु चतुर्ष्वपि मासे मासे स्वशक्तिमनिगुह्य । प्रोपधनियमविधायी प्रणिधिपरः प्रोपधानशनः ।। १४० ।। मूलफलशाकशाखाकरीरंकदप्रसूनबीजानि । नामानि योऽत्ति सोऽयं सचित्तविरतो दयामूर्तिः ।। १४१ ।। अन्नं पानं खाद्य लेह्यं नाश्नाति यो विभावर्यां । सच रात्रिभुक्तिविरतः सत्वेष्वनुकपमानमनाः ।। १४२ ।। मलबीज मलयोनिं गलन्मलं पूतिगधि बीभत्सं । पश्यन्नंगमनंगाद्विरमति यो ब्रह्मचारी सः ।। १४३ ।। सेवाकृपिवाणिज्यप्रमुखादारंभतो व्युपारमति प्राणातिपातहेतोर्योऽसावारंभविनिवृत्तः ।। १४४ ।। बाह्येषु दशसु वस्तुषु ममत्वमुत्सृज्य निर्ममत्वरतः । स्वस्थः संतोषपरः परिचित्तपरिग्रहाद्विरतः ।। १४५ ।। अनुमतिरारंभे वा परिग्रहे वैहिकेपु कर्मसु वा । नास्ति खलु यस्य समधीरनुमतिविरतः स मंतव्यः ।।१४६।। गृहतो मुनिवनमित्वा गुरूपकंठे व्रतानि परिगृह्य । भैक्ष्याशनस्तपस्यन्नुत्कृष्टश्चेलखंडधरः ।।१४७।। पापमरातिर्धर्मो बंधुर्जीवस्य चेति निश्चिन्वन् । समयं यदि जानीते श्रेयो ज्ञाता ध्रुवं भवति ।। १४८ ।। येन स्वय वीतकलंकविद्यादृष्टिक्रियारत्नकरंडभावं । नीतस्तमायाति पतीच्छ्येव सर्वार्थसिद्धिस्त्रिपु विष्टपेपु ।। १४८ ।। सुखयतु सुखभूमिः कामिन कामिनीव, सुतमिव जननी मां शुद्धशीला भुनक्तु । कुलमिव

गुणभूषा कन्यका संपुनीताज्जिनपतिपदपद्मप्रेक्षिणी दृष्टिलक्ष्मी ॥१५०॥

इति रत्नकरण्डश्रावकाचार समाप्त ।

अथ द्रव्यसंग्रह

जीवमजीवं दव्वं, जिणवरवसहेण जेण णिद्दिट्ठं । देविंदविंदवंदं, वंदे त सव्वदा सिरसा ॥ १ ॥ जीवो उवओगमओ अमुत्ति कत्ता सदेहपरिमाणो । भोत्ता संसारत्थो सिद्धो सो विस्ससोड्ढगई ॥ २ ॥ तिक्काले चदु पाणा इंदिय बलमाउ आणपाणो य । ववहारा सो जीवो णिच्चयणयदो दु चेदणा जस्स ॥ ३ ॥ उवओगो दुवियप्पो दंसणं चदुधा । चक्खु अचक्खु ओही दसणमध केवलं णेयं ॥ ४ ॥ णाणं अट्ठवियप्पं मदिसुदओही अणाणणाणाणि । मणपज्जय केवलमवि पच्चक्खपरोक्खभेयं च ॥ ५ ॥ अट्ठचदुणाणदंसण सामण्णं जीवलक्खणं भणियं । ववहारा सुद्धणया सुद्धं पुण दंसण णाण ॥ ६ ॥ वण्ण रस पंच गधा दो फासा अट्ठ णिच्चया जीवे । णो संति अमुत्ति तदो ववहारा मुत्ति बंधादो ॥ ७ ॥ पुग्गलकम्मादीण कत्ता ववहारदो दु णिच्चयदो । चेदणकम्माणादा सुद्धणया सुद्धभावाणं ॥ ८ ॥ ववहारा सुहदुक्खं पुग्गलकम्मप्फलं पभुंजेदि । आदा णिच्च यणयदो चेदण भाव खु आदस्स ॥ ९ ॥ अणुगुरुदेहपमाणो उवसंहारप्पसप्पदो चेदा । असमुहदो ववहारा णिच्चयणयदो असंखदेसो वा ॥ १० ॥ पुढविजलतेउवाऊ वणप्फदी विविहथावरेइंदी । विगतिगचदुपचक्खा तसजीवा होंति संखादी ॥ ११ ॥ समणा अमणा णेया पचेंदिय णिम्मणा परे सवे । बादर सुहुमेइंदी सव्वे पज्जत्त इदरा य ॥१२॥ मग्गणगुणठाणेहिं य चउदसहिं हवंति तह असुद्धणया । विण्णेया संसारी सव्वे सुद्धा हु सुद्धणया ॥ १३ ॥ णिक्कम्मा अट्ठगुणा, किंचूणा चरमदेहदो सिद्धा । लोयग्गठिदा णिच्चा उत्पादवयेहिं संजुत्ता ॥ १४ ॥ पयडिट्ठिदिअणुभागप्पदेसबंधेहिं सव्वदो मुक्को । उड्ढ गच्छदि सेसा विदिसावज्जं गदिं जति ॥ १५ ॥ अज्जीवो पुण णेओ पुग्गल धम्मो अध-

म्म आयासं । कालो पुग्गल मुत्तो रूवादिगुणो अमुत्ति सेसा दु ॥१६॥ सद्दो बंधो सुहमो थूलो संठाणभेदतमछाया । उज्जो दादवसहिया पुग्गल-दव्वस्स पज्जाया ॥ १७ ॥ गइपरिणयाण धम्मो पुग्गलजीवाण गमणसहयारी । तोयं जह मच्छाणं अच्छंता णेव सो णेई ॥ १८ ॥ ठाणजुदाण अधम्मो पुग्गलजीवाण ठाणसहयारी । छाया जह पहियाणं गच्छंता णेव सो धरई ॥ १९ ॥ अवगासदाणजोग्गं जीवादीणं वियाण आयासं । जेण्हं लोगागासं अल्लोगागासमिदि दुविहं ॥ २० ॥ धम्माधम्मा कालो पुग्गल-जीवा य संति जावदिये । आयासे सो लोगो तत्तो परदो अलोगुत्तो ॥ २१ ॥ दव्वपरिवट्टरूवो जो सो कालो हवेइ ववहारो । परिणामादी-लक्खो वट्टणलक्खो य परमट्ठो ॥ २२ ॥ लोयायासपदेसे इक्केक्के जे ठिया हु इक्केक्का । रयणाणं रासीमिव ते कालाणू असंखदव्वाणि ॥२३॥ एवं छब्भेयमिदं जीवाजीवप्पभेददो दव्वं उत्तं कालविजुत्तं णायव्वा पंच अत्थिकाया दु ॥ २४ ॥ संति जदो तेणेदे अत्थीति भणंति जिणवरा जम्हा । काया इव बहुदेसा तम्हा काया य अत्थिकाया य ॥ २५ ॥ होंति असंखा जीवे धम्मा धम्मे अणंत आयासे । मुत्ते तिविह पदेसा कालस्सेगो ण तेण सो काओ ॥ २६ ॥ एयपदेसो वि अणू णाणाखंधप्पदेसदो होदि । बहुदेसो उवयारा तेण य काओ भणंति सव्वण्हू ॥ २७ ॥ जावदियं आयासं अविभागी पुग्गलाणुवट्ठद्धं । त खु पदेसं जाणे सव्वाणुट्ठाण दाणरिहं ॥ २८ ॥ आसवबंधणसंवर णिज्जरमोक्खा सपुण्णपावा जे । जीवाजीवविसेसा ते वि समासेण पभणामो ॥ २९ ॥ आसवदि जेण कम्मं परिणामेणप्पणो स विण्णेओ । भावासवो जिणुत्तो कम्मासवणं परो होदि ॥ ३० ॥ मिच्छत्ताविरदिपमादजोगकोहादओऽथ विण्णेया । पण पण पणदह तिय चदु–, कमसो भेदा दु पुव्वस्स ॥ ३१ ॥ णाणावरणादीणं जोग्गं जं पुग्गल समासवदि । दव्वासवो स णेओ अणेयभेदो जिणक्खादो ॥ ३२ ॥ बज्झदि कम्मं जेण दु चेदणभावेण भावबंधो सो । कम्मादपदेसाणं अण्णोण्णपवेसणं इदरो ॥ ३३ ॥ पयडिट्ठिदिअणुभाग,–प्पदेसभेदा दु चदुविधो बंधो । जोगा पयडिपदेसा ठिदिअणुभाग कसायदो होंति

॥ ३४ ॥ चेदणपरिणामो जो कम्मस्सासवणिरोहणे हेऊ । सो भावसंवरो खलु दव्वासवरोहणो अण्णो ॥ ३५ ॥ वदसमिदीगुत्तीओ धम्माणुपिहा परीसहजओ य । चारित्तं वहुभेयं णायव्वा भावसंवरविसेसा ॥ ३६ ॥ जहकालेण तवेण य भुत्तरसं कम्मपुग्गलं जेण । भावेण सडदि णेया तस्सडणं चेदि णिज्जरा दुविहा ॥ ३७ ॥ सव्वस्स कम्मणो जो खयहेदू अप्पणो हु परिणामो । णेओ स भावमोक्खो दव्वविमोक्खो य कम्मपुध-भावो ॥ ३८ ॥ सुहअसुहभावजुत्ता पुण्णं पावं हवंति खलु जीवा । सादं सुहाउ णामं गोदं पुण्णं पराणि पावं च ॥ ३९ ॥ सम्मद्दंसण णाणं चरणं मोक्खस्स कारणं जाणे । ववहारा णिच्चयदो तत्तियमइओ णिओ अप्पा ॥ ४० ॥ रयणत्तयं ण वट्टइ अप्पाणं मुयत्तु अण्णदवियह्मि । तह्मा तत्तियमइओ होदि हु मोक्खणस्स कारणं आदा ॥ ४१ ॥ जीवादीसद्दहणं सम्मत्तं रूवमप्पणो तं तु दुरभिणिवेसविमुक्कं णाणं सम्म खु होदि सदि जह्मि ॥ ४२ ॥ संसयविमोहविब्भमविवज्जियं अप्पपरसरूवस्स । गहणं सम्मं णाणं सायारमणेयमेयं च ॥ ४३ ॥ जं सामण्णं गहणं भावाणं णेव कट्टुमायारं । अविसेसिदूण अट्ठे दंसणमिदि भण्णये समये ॥ ४४ ॥ दसणपुव्वं णाणं छदमत्थाणं ण दुण्णि उवओगा । जुगवं जह्मा केवलि, णाहे जुगवं तु ते दो वि ॥ ४५ ॥ असुहादो विणिवित्ती सुहे पवित्ती य जाण चारित्तं । वदसमिदिगुत्तिरूवं । ववहारणया दु जिणभणियं ॥४६॥ वहिरब्भंतरकिरिया रोहो भवकारणप्पणासट्ठं । णाणिस्स जं जिणुत्तं तं परमं सम्मचारित्तं ॥ ४७ ॥ दुविहंपि मोक्खहेउं झाणे पाउणदि जं मुणी णियमा । तह्मा पयत्तचित्ता जूयं ज्झाणं समब्भसह ॥ ४८ ॥ मा मुज्झह मा रज्जह मा दुस्सह इट्ठणिट्ठअत्थेसु । थिरमिच्छहि जइ चित्तं विचित्तझा-णप्पसिद्धीये ॥ ४९ ॥ पणतीस सोल छप्पण चदु दुगमेगं च जवह झाएह । परमेट्ठिवाचयाण अण्णं च गुरूवदेसेण ॥ ५० ॥ णट्ठ चदुघाइ कम्मो दसणसुहणाणवीरियमईओ । सुहदेहत्थो अप्पा सुद्धो अरिहो विचि-तिज्जो ॥ ५१ ॥ णट्ठट्ठकम्मदेहो लोयालोयस्स जाणओ दट्ठा । पुरिसायारो अप्पा सिद्धो ज्झाएह लोयसिहरत्थो ॥ ५२ ॥ दंसणणाणपहाणे वीरिय-

चारित्तवरतवायारे । अप्पं परं च जुंजइ सो आइरियो मुणी ज्झेओ ॥ ५३ ॥ जो रयणत्तयजुत्तो णिच्च धम्मोवएसणे णिरदो । सो उवज्झाओ अप्पा जदिवरवसहो णमो तस्स ॥ ५४ ॥ दंसणणाणसमग्गं मग्गं मोक्खस्स जो हु चारित्त । साधयदि णिच्च सुद्धं साहू स मुणी णमो तस्स ॥ ५५ ॥ जं किंचि वि चिंतंतो णिरीहवित्ती हवे जदा साहू । लद्धूणय एयत्त तदा हु तं तस्स णिच्चय ज्झाणं ॥ ५६ ॥ मा चिट्ठह मा जंपह, मा चिंतह किंचि जेण होइ थिरो । अप्पा अप्पम्मि रओ इणमेव परं हवे ज्झाण ॥ ५७ ॥ तवसुदवदवं चदा ज्झाणरहधुंरधरो हवे जह्मा । तह्मा तत्तियणिरदा तल्लद्धीए सदा होह ॥ ५८ ॥ दव्वसंगहमिणं मुणिणाहा दोससंचयचुदा सुदपुण्णा । सोधयंतु तणुसुत्तधरेण णेमिचंदमुणिणा भणिय जं ॥ ५९ ॥

अथाद्याष्टकस्तोत्रम् ।

अद्य मे सफलं जन्म नेत्रे च सफले मम । त्वामद्राक्षं यतो देव हेतुमक्षयसम्पदः ॥ १ ॥ अद्य संसारगम्भीरपारावारः सुदुस्तरः । सुतरोऽयं क्षणेनैव जिनेन्द्र तव दर्शनात् ॥ २ ॥ अद्य मे क्षालितं गात्रं नेत्रे च विमले कृते । स्नातोऽहं धर्मतीर्थेषु जिनेन्द्र तव दर्शनात् ॥ ३ ॥ अद्य मे सफलं जन्म प्रशस्तं सर्वमंगलम् । संसारार्णवतीर्णोऽहं जिनेन्द्र तव दर्शनात् ॥ ४ ॥ अद्य कर्माष्टकज्वालं विधूतं सकषायकम् । दुर्गतेर्विनिवृत्तोऽहं जिनेन्द्र तव दर्शनात् ॥ ५ ॥ अद्य सौम्या ग्रहा सर्वे शुभाश्चैकादश स्थिताः । नष्टानि विघ्नजालानि जिनेन्द्र तव दर्शनात् ॥ ६ ॥ अद्य नष्टो महाबन्धः कर्मणां दुःखदायकः । सुखसंगमसमापन्नो जिनेन्द्र तव दर्शनात् । अद्य कर्माष्टकं नष्टं दुःखोत्पादनकारकम् । सुखाम्भोधिनिमग्नोऽहं जिनेन्द्र तव दर्शनात् ॥ ८ ॥ अद्य मिथ्यान्धकारस्य हन्ता ज्ञानदिवाकरः । उदितो मच्छरीरेऽस्मिन् जिनेन्द्र तव दर्शनात् ॥ ९ ॥ अद्याहं सुकृती

भूतो निर्धूताशेषकल्मषः। भुवनत्रयपूज्योऽहं जिनेन्द्र तव दर्शनात् ॥ १०॥ अद्याष्टकं पठेद्यस्तु गुणानन्दितमानसः। तस्य सर्वार्थसंसिद्धिर्जिनेन्द्र तव दर्शनात् ॥ ११ ॥

अथ दृष्टाष्टकस्तोत्रम्

दृष्टं जिनेन्द्रभवनं भवतापहारि, भव्यात्मनां विभवसंभवभूरिहेतुः। दुग्धाब्धिफेनधवलोज्ज्वलकूटकोटि-नद्धध्वजप्रकरराजिविराजमानम् ॥ १ ॥ दृष्टं जिनेन्द्रभवनं भुवनैकलक्ष्मीधामर्द्धिवर्द्धितमहामुनिसेव्यमानम्। विद्याधरामरवधूजनमुक्तदिव्य-पुण्याञ्जलिप्रकरशोभितभूमिभागम् ॥ २ ॥ दृष्टं जिनेन्द्रभवनं भवनादिवास-विख्यातनाकगणिकागणगीयमानम्। नानामणिप्रचयभासुररश्मिजाल-व्यालीढनिर्मलविशालगवाक्षजालम् ॥ ३ ॥ दृष्टं जिनेन्द्रभवनं सुरसिद्धयक्ष-गन्धर्वकिन्नरकरार्पितवेणुवीणा। संगीतमिश्रितनमस्कृतधीरनादै-रापूरिताम्बरतलोरुदिगन्तरालम् ॥ ४ ॥ दृष्टं जिनेन्द्रभवनं विपलद्विलोल-मालाकुलालितलितालक विभ्रमाणम्। माधुर्यवाद्यलयनृत्यविलासिनीनां, लीलाचलद्वलयनूपुरनादरम्यम् ॥ ५ ॥ दृष्टं जिनेन्द्रभवनं मणिरत्नहेमसारोज्ज्वलैः कलशचामरदर्पणाद्यैः। सन्मंगलैः सततमष्टशतप्रभेदै-र्विभ्राजित विमलमौक्तिकदामशोभम् ॥ ६ ॥ दृष्टं जिनेन्द्रभवनं वरदेवदारु-कर्पूरचन्दनतरुस्कसुगंधिधूपैः। मेघायमानगगने पवनाभिघात चञ्चच्चलद्विमलकेतनतुङ्गशालम् ॥ ७ ॥ दृष्ट जिनेन्द्रभवनं धवलातपत्र-च्छायानिमग्नतनुयक्षकुमारवृन्दैः। दोधूयमानसितचामरपंक्तिभासं, भामंडलद्युतियुतप्रतिमाभिरामम् ॥ ८ ॥ दृष्टं जिनेन्द्रभवन विविधप्रकार-पुष्पोपहाररमणीयसुरत्नभूमि। नित्यं वसंततिलकश्रियमा दधानं सन्मगलं सकलचन्द्रमुनीन्द्रवन्द्यम् ॥ ९ ॥ दृष्ट मयाद्य मणिकाञ्चनचित्र-तुङ्गसिंहासनादिजिनविम्बविभूतियुक्तम्। चैत्यालय यदतुल परिकीर्तितं मे, सन्मंगल सकलचन्द्रमुनीन्द्रवन्द्यम् ॥ १० ॥

अथ परमानन्दस्तोत्रम्

परमानंदसंयुक्तं, निर्विकारं निरामयम् ॥ ध्यानहीना न पश्यन्ति, निजदेहे व्यवस्थितम् अनंतसुखसंपन्नं, ज्ञानामृतपयोधरम् ॥ अनंतवीर्य-सम्पन्नं, दर्शनं परमात्मनः ॥ २ ॥ निर्विकारं निराबाध, सर्वसंगविवर्जि-तम् । परमानन्दसम्पन्नं, शुद्धचैतन्यलक्षणम् ॥ ३ ॥ उत्तमा स्वात्मचिंता स्यात्, मोहचिंता च मध्यमा । अधमा कामचिंता स्यात्, परचिंताधमाधमा ॥ ४ ॥ निर्विकल्पसमुत्पन्नं, ज्ञानमेव सुधारसम् । विवेकमंजलिं कृत्वा, तं पिबंति तपस्विनः ॥ ५ ॥ सदानंदमय जीवं, यो जानाति स पंडितः । स सेवते निजात्मान, परमानंदकारणम् ॥ ६ ॥ नलिनाच्च यथा नीरं भिन्न तिष्ठति सर्वदा । सोऽयमात्मा स्वभावेन, देहे तिष्ठति निर्मलः ॥ ७ ॥ द्रव्य-कर्ममलैर्मुक्तं, भावकर्मविवर्जितम् । नोकर्मरहित सिद्धं, निश्चयेन चिदा-त्मकम् ॥ ८ ॥ आनंदं ब्रह्मणो रूपं, निजदेहे व्यवस्थितम् । ध्यानहीना न पश्यंति, जात्यन्धा इव भास्करम् ॥ ९ ॥ सद्ध्यानं क्रियते भव्यो, मनो येन विलीयते । तत्क्षणं दृश्यते शुद्ध, चिच्चमत्कारलक्षणम् ॥ १० ॥ ये ध्यानलीना मुनयः प्रधानाः, ते दुःखहीना नियमाद्भवंति सम्प्राप्य शीघ्रं परमात्मतत्त्वं, व्रजंति मोक्षं क्षणमेकमेव ॥ ११ ॥ आनदरूप परमात्मतत्त्वं समस्तसंकल्पविकल्पमुक्तम् । स्वभावलीना निवसंति नित्य, जानाति योगी स्वयमेव तत्त्व ॥ १२ ॥ निजानदमयं शुद्ध, निराकारं निरामयम् । अनत-सुखसम्पन्नं सर्वसंगविवर्जितम् ॥ १३ ॥ लोकमात्रप्रमाणोयं, निश्चये न हि संशयः । व्यवहारे तनुमात्रः, कथितः परमेश्वरैः ॥ १४ ॥ यत्क्षणं दृश्यते शुद्धं, तत्क्षणं गतविभ्रमः । स्वस्थचित्तः स्थिरीभूत्वा, निर्विकल्प-समाधितः ॥ १५ ॥ स एव परम ब्रह्म, स एव जिनपुंगवः । स एव परम तत्त्वं, स एव परमो गुरुः ॥ १६ ॥ स एव परम ज्योतिः स एव परमं तपः । स एव परमं ध्यानं, स एव परमात्मकः ॥ १७ ॥ स एव सर्व-

कल्याणं, स एव सुखभाजनम्। स एव शुद्धचिद्रूपं स एव परमं शिवः ॥ १८ ॥ स एव परमानंदः, स एव सुखदायकः। स एव परमज्ञानं स एव गुणसागरः ॥ १९ ॥ परमाह्लादसंपन्नं, रागद्वेषविवर्जितम्। सोहं तं देहमध्येषु यो जानाति स पंडितः ॥ २० ॥ आकाररहितं शुद्ध, स्वस्व-रूपे व्यवस्थितम्। सिद्धमष्टगुणोपेत, निर्विकारं निरंजनम् ॥ २१ ॥ तत्स-दृश निजात्मान, यो जानाति स पंडितः। सहजानदचैतन्यप्रकाशाय मही-यसे ॥ २२ ॥ पाषाणेषु यथा हेम, दुग्धमध्ये यथा घृतम्। तिलमध्ये यथा तैलं, देहमध्ये तथा शिवः ॥ २३ ॥ काष्ठमध्ये यथा वह्निः, शक्ति-रूपेण तिष्ठति। अयमात्मा शरीरेषु, यो जानाति स पडितः ॥ २४ ॥

श्रावक-प्रतिक्रमणम्।



जीवे प्रमादजनिताः प्रचुराः प्रदोषा यस्मात्प्रतिक्रमणतः प्रलयं प्रया-न्ति। तस्मात्तदर्थममलं मुनिबोधनार्थं वक्ष्ये विचित्रभवकर्मविशोधनार्थम् ॥ १ ॥ पापिष्ठेन दुरात्मना जडधिया मायाविना लोभिना रागद्वेषमलीम-सेन मनसा दुष्कर्म यन्निर्मितम्। त्रैलोक्याधिपते जिनेन्द्र! भवतः श्रीपाद-मूलेऽधुना निन्दापूर्वमहं जहामि सततं वर्वर्तिषुः सत्पथे ॥ २ ॥ खम्मामि सव्वजीवाणं सव्वे जीवा खमंतु मे। मेत्ती मे सव्वभूदेसु वेरं मज्झं ण केणवि ॥ ३ ॥ रागबंधपदोसं च हरिसं दीणभावय। उस्सुगत्तं भयं सोगं रदिम-रदिं च वोस्सरे ॥ ४ ॥ हा दुट्ठकयं हा दुट्ठचिंतियं भासियं च हा दुट्ठं। अंतो अंतो उज्झमि पच्छुत्तावेण वेयंतो ॥ ५ ॥ दव्वे खेत्ते काले भावे य कदावराहसोहणय। णिंदणगरहणजुत्तो मणवयकाएण पडिकमणं ॥ ६ ॥

एइंदिय-बेइंदिय-तेइंदिय-चउरिंदिय-पंचेंदिय-पुढविकाइय-आउकाइय-तेउकाइय-वाउकाइय-वणप्फदिकाइय तस्सकाइया, एदेसिं उद्दावणं परि-दावणं विराहणं उवघादो कदो वा कारिदो वा कीरंतो वा समणुमण्णिदो

तस्स मिच्छा मे दुक्कडं ।

दंसणवयसामाइयपोसहसच्चित्तरायभत्ते य ।
बंभारंभपरिग्गहअणुमणुमुद्दिट्ठ देसविरदेदे ॥ १ ॥

एयासु जधाकहिदपडिमासु पमादाइकयाइचारसोहणट्ठं छेदोवट्ठावणं होदु मज्झं ।

अरहंतसिद्धआइरियउवज्झायसव्वसाहुसक्खियं सम्मत्तपुव्वगं सुव्वदं दिढव्वद, समारोहियं मे भवदु मे भवदु मे भवदु ।

देवसियपडिक्कमणाए सव्वाइचारविसोहिणिमित्तं पुव्वाइरियकमेण अलोयणसिद्धभत्तिकाउस्सग्गं करेमि

सामायिकदण्डकः—

णमो अरहंताणं णमो सिद्धाणं णमो आइरियाणं ।
णमो उवज्झायाणं णमो लोए सव्वसाहूण ॥ २ ॥

चत्तारि मंगल—अरहंत मंगलं, सिद्ध मंगलं, साहु मंगलं, केवलि पण्णत्तो धम्मो मंगलं ।

चत्तारि लोगोत्तमा—अरहंतलोगोत्तमा, साहु लोगोत्तमा, केवलिपण्णत्तो धमो लोगोत्तमा ।

चत्तारि सरणं पव्वजामि—अरहंत सरणं पव्वजामि, सिद्ध सरणं पव्वजामि, साहु सरणं पव्वजामि, केवलिपण्णत्तो धम्मो सरणं पव्वजामि ।

अड्ढाइज्जदीवदोसमुद्देसु पण्णारसकम्मभूमीसु जाव अरहंताणं भयवंताणं आदियराणं तित्थयराणं जिणाण जिणोत्तमाणं केवलियाणं, सिद्धाणं बुद्धाणं परिणिव्वुदाण अंतयडाणं पारयडाणं, धम्माइरियाणं, धम्मदेसयाणं, धम्मणायगाणं, धम्मवरचाउरंगचक्कवट्टीणं देवाहिदेवाणं, णाणाणं दंसणाणं चरित्ताणं सदा करेमि किरियम्मं ।

करेमि भंते ! सामाइयं सव्वं सावज्जजोगं पच्चक्खामि, जावजीवं तिविहेण मणसा वचिया काएण ण करेमि ण कारेमि अण्णं करंतं पि ण समणुमणामि । तस्स भंते ! अइचारं पडिक्कमामि, णिंदामि, गरहामि अप्पाणं, जाव अरहंताणं भयवंताणं पज्जुवासं करेमि ताव कायं पावक-

म्मं दुच्चरियं वोस्सरामि।

णमोकार ६ गुणिया। कायोत्सर्ग उच्छ्वास २७।

चतुर्विंशतिस्तवः—

थोस्सामि हं जिणवरे तित्थयरे केवलीअणंतजिणे। णरपवरलोयमहिए विहुयरयमले महापण्णे ॥ १ ॥ लोयस्सुज्जोययरे धम्मंतित्थंकरे जिणे वंदे। अरहते कित्तिस्से चउवीसं चेव केवलिणो ॥ २ ॥ उसहमजियं च वंदे संभवमभिणंदणं च सुमइं च। पउमप्पहं सुपासं जिणं च चंदप्पहं वंदे ॥ ३ ॥ सुविहं च पुप्फयंतं सीयल सेयंस वासुपुज्जं च। विमलमणंतं भयवं धम्मं संतिं च वंदामि ॥ ४ ॥ कुन्थुं च जिणवरिंदं अरं च मल्लिं च सुव्वयं च णमिं। वंदामि रिट्ठणेमिं तहपासं वड्ढमाणं च ॥ ५ ॥ एवं मए अभित्थुआ विहुयरयमला पहीणजरमरणा। चउवीसं पि जिणवरा तित्थयरा मे पसीयंतु ॥ ६ ॥ कित्तिय वंदिय महिया एए लोगोत्तमा जिणा सिद्धा। आरोग्गणाणलाहं दिंतु समाहिं च मे बोहिं ॥ ७ ॥ चंदेहिं णिम्मलयरा आइच्चेहिं अहिय पयासंता। सायरमिव गभीरा सिद्धा सिद्धिं मम दिसंतु ॥ ८ ॥

श्रीमते वर्धमानाय नमो नमितविद्विषे।
यज्ज्ञानान्तर्गतं भूत्वा त्रैलोक्यं गोष्पदायते ॥ १ ॥

सिद्धभक्तिः—

तवसिद्धे णयसिद्धे संयमसिद्धे चरित्तसिद्धे य।
णाणम्मि दंसणम्मि य सिद्धे सिरसा णमसामि ॥ २ ॥

इच्छामि भंते! सिद्धभत्तिकाउस्सग्गो कओ तस्सालोचेउ, सम्मणाणसम्मदंसण सम्मचरित्तजुत्ताणं अट्ठविहकम्ममुक्काणं अट्ठगुणसंपण्णाणं उड्ढलोयमत्थयम्मि पइट्ठियाणं तवसिद्धाण णयसिद्धाणं चरित्तसिद्धाणं सम्मणाण-सम्मदंसण सम्मचरित्तसिद्धाण अदीदाणागदवट्टमाणकालत्तय-

सिद्धाणं सव्वसिद्धाणं णिच्चकालं अंचेमि पूजेमि वंदामि णमंसामि दुक्खक्खओ कम्मक्खओ बोहिलाहो सुगइगमणं समाहिमरणं जिणगुणसंपत्ति होउ मज्झं।

आलोचना -

इच्छामि भंते! देवसियं आलोचेउं। तत्थ-पंचुंबरसहियाइं सत्त विवसणाइं जो विवज्जेइ। सम्मत्तविसुद्धमई सो दंसणसावओ भणियो ॥१॥ पञ्च य अणुव्वयाइं गुणव्वयाइं हवंति तह तिण्णि। सिक्खावयाइं चत्तारि जाण विदियम्मि ठाणम्मि ॥ २ ॥ जिणवयणधम्मचेइयपरमेट्ठिजिणयालयाण णिच्चं पि। जं वंदणं तियालं कीरइ सामाइयं त खु ॥ ३ ॥ उत्तममज्झजहण्णं तिविहं पोसहविहाणमुद्दिट्ठं। सगसत्तीए मासम्मि चउसु पव्वेसु कायव्व ॥ ४ ॥ जं वज्जिजदि हरिदं तयपत्तपवालकंदफलबीयं। अप्पासुगं च सलिलं सच्चित्तणिव्वत्तिमं ठाणं ॥ ५ ॥ मणवयणकायकदकारिदाणुमोदेहिं मेहुणं णवधा। दिवसम्मि जो विवज्जदि गुणम्मि सो सावओ छट्ठो ॥ ६ ॥ पुव्वुत्तणवविहाणं णि मेहुणं सव्वदा विवज्जंतो। इत्थिकहादिणिवित्ती सत्तमगुणबंभचारी सो ॥ ७ ॥ जं किंपि गिहारंभं बहु थोवं वा सया विवज्जेदि। आरंभणिवित्तमदी सो अट्ठमसावओ भणिओ ॥ ८ ॥ मोत्तूण वत्थमित्तं परिग्गहं जो विवज्जदे सेसं। तत्थ वि मुच्छं ण करदि वियाण सो सावओ णवमो ॥ ९ ॥ पुट्ठो वा पुट्ठो वा णियगेहिं परेहिं सग्गिहकज्जे। अणुमणणं जो ण कुणदि वियाण सो सावओ दसमो ॥१०॥ णवकोडीसु विसुद्धं भिक्खायरणेण भुंजदे भुंजं। जायणरहियं जोग्गं एयारस सावओ सो दु ॥ ११ ॥ एयारसम्मि ठाणे उक्किट्ठो सावओ हवे दुविहो। वत्थेयधरो पढमो कोवीणपरिग्गहो विदिओ ॥ १२ ॥ तववयणियमावासयलोच कारेदि पिच्छ गिण्हेदि। अणुवेहाधम्मझाणं करपत्ते एयठाणम्मि ॥ १३ ॥

इत्थ मे जो कोई देवसिओ अइचारो अणाचारो तस्स भंते! पडिक्कमामि पडिक्कमंतस्स मे सम्मत्तमरणं समाहिमरणं पंडियमरणं वीरियमरणं दुक्खक्खओ कम्मक्खओ बोहिलाहो सुगइगमणं समाहिमरणं जिणगुण-

संपत्ति होउ मज्झं ।

दंसणवयसामाइयपोसहसच्चित्तरायभत्ते य ।

बंभारंभपरिग्गहअणुमणुमुद्दिट्ठ देसविरदेदे ॥ १ ॥

एयासु जधाकहिदपडिमासु पमादाइकयाइचारसोहणट्ठं छेदोवट्ठावणं होदु मज्झ ।

प्रतिक्रमणभक्तिः--

श्रीपडिक्कमणभक्ति काउस्सग्गं करेमि-

णमो अरहंताणमित्यादि-थोस्सामीत्यादि ।

णमो अरहंताणं णमो सिद्धाणं णमो आइरियाणं ।

णमो उवज्झायाणं णमो लोए सव्वसाहूणं ॥ २ ॥

णमो जिणाणं ३, णमो णिस्सहीए ३, णमोत्थु दे ३, अरहंत ! सिद्ध ! बुद्ध ! णीरय ! णिम्मल ! समसण ! सुभमण ! सुसमत्थ ! समजोग ! समभाव ! सल्लघट्टाणं ! सल्लघत्ताण ! णिब्भय ! णिराय ! णिद्दोस ! णिम्मोह ! णिम्मम ! णिस्संग ! णिस्सल ! माणमायमोसमूरण ! तवप्पहावण ! गुणरयण ! सीलसायर ! अणंत ! अप्पमेय ! महदिमहावीरवड्ढमाण ! बुद्धिरिसिणो चेदि णमोत्थु दे णमोत्थु दे णमोत्थु दे ।

मम मङ्गलं अरहंता य सिद्धा य बुद्धा य जिणा य केवलिणो ओहिओहिणाणिणो मणपज्जयणाणिणो चउदसपुव्वंगामिणो सुदसमिदिसमिद्धा य, तवो य बारसविहो तवसी, गुणा य गुणवंतो य महारिसी तित्थं तित्थकरा य, पवयणं पवणी य, णाण णाणी य, दसणं दसणी य, संजमो संजदा य, विणओ विणीदा य, बंभचेरवासो बंभचारी य, गुत्तीओ चेव गुत्तिमंतो य, मुत्तीओ चेव मुत्तिमंतो य, समिदीओ चेव समिदिमंतो य, ससमयपरसमयविदू, खंति खवगा य, खीणमोहा य खीणवंतो य, बोहियबुद्धा य बुद्धिमंतो य, चेईयरुक्खाय चेईयाणि ।

उड्ढमहतिरियलोए सिद्धायदणाणि णमंसामि सिद्धिणिसीहियाओ अट्ठावयव्वे य सम्मेदे उज्जंते चंपाये पावाए मज्झिमाए हत्थिवालियसहाए

जाओ अपणाओ का वि णिसीहियाओ जीवलोयम्मि ईसिपब्भारतलगयाणं सिद्धाणं वुद्धाण कम्मचक्कमुक्काणं णीरयाणं णिम्मलाण गुरुआइरियउवज्झायाण पव्व-तित्थेर-कुलयराणं चाउवण्णाय समणसंघा य भरहेरावएसु दससु पंचसु महाविदेहेसु जे लोए संति साहवो संजदा तवसी एदे मम मगलं पवित्त एदे ह मगल करेमि भावदो विसुद्धो सिरसा अहिवंदिऊण सिद्धे काऊण मजलिमत्थयंमि पडिलेहिय अट्ठकत्तरिओ तिविहं तियरणसुद्धो।

पडिक्कमामि भंते ! दंसणपडिमाए संकाए कंखाए विदिगिंछाए परपासंडाण पसंसाए पसंथुए जो मए देवसिओ अइचारो मणसा वचिया काएण कदो वा कारिदो वा कीरंतो वा समणुमण्णिदो तस्स मिच्छा मे दुक्कड ॥ १ ॥

पडिक्कमामि भंते ! वदपडिमाए पढमे थूलयडे हिंसाविरदिवदे वहेण वा वधेण वा छेएण वा अइभारारोहणेण वा अण्णपाणणिरोहणेण वा जो मए देवसिओ अइचारो मणसा वचिया काएण कदो वा कारिदो वा कीरंतो वा समणुमण्णिदो तस्स मिच्छा मे दुक्कडं ॥ २-१ ॥

पडिक्कमामि भंते ! वदपडिआए विदिए थूलयडे असच्चविरदिवदे मिच्छोवदेसेण वा रहोअब्भक्खाणेण वा कूडलेहणकरणेण वा णायापहारेण वा सायारमंत्रभेएण वा जो मए देवसिओ अइचारो मणसा वचिया काएण कदो वा कारिदो वा कीरंतो वा समणुमण्णिदो तस्स मिच्छा मे दुक्कडं ॥ २-२ ॥

पडिक्कमामि भंते ! वदपडिमाए तिदिए थूलयडे थेणविरदिवदे थेणपओगेण वा थेणहरियादाणेण वा विरुद्धरज्जाइक्कमणेण वा हीणाहियमाणुम्माणेण वा पडिरूवयववहारेण वा जो मए देवसिओ अइचारो मणसा वचिया काएण कदो वा कारिदो वा कीरंतो वा समणुमण्णिदो तस्स मिच्छा मे दुक्कडं ॥ २-३ ॥

पडिक्कमामि भंते ! वदपडिमाए चउत्थे थूलयडे अबंभविरदिवदे परविवाहकरणेण वा इत्तरियागमणेण वा परिग्गहिदापरिग्गहिदागमणेण वा अणगकीडणेण वा कामतिव्वाभिणिवेसेण वा जो मए देवसिओ अइ

चारो मणसा वच्चिया काएण कदो वा कारिदो वा कीरंतो वा समणुमण्णिदो तस्स मिच्छा मे दुक्कडं ॥ २-४ ॥

पडिक्कमामि भंते ! वदपडिमाए पंचमे थूलयडे परिग्गहपरिमाणवदे खेत्तवत्थूण परिमाणाइक्कमणेण वा धणधाणाणं परिमाणाइक्कमणेण वा दासीदासाणं परिमाणाइक्कमणेण वा हिरण्णसुवण्णाणं परिमाणाइक्कमणेण वा कुप्पभांडपरिमाणाइक्कमणेण वा जो मए देवसिओ अइचारो मणसा वच्चिया काएण कदो वा कारिदो वा कीरंतो वा समणुमण्णिदो तस्स मिच्छा मे दुक्कडं ॥२-५॥

पडिक्कमामि भंते ! वदपडिमाए पढमे गुणव्वदे उड्ढवइक्कमणेण वा अहोवइक्कमणेण वा वातिरियवइक्कमणेण वा खेत्तउड्ढीएण वा सदिअंतराधाणेण वा जो मए देवसिओ अइचारो मणसा वच्चिया काएण कदो वा कारिदो वा कीरंतो वा समणुमण्णिदो तस्स मिच्छा मे दुक्कडं ॥२-६-१॥

पडिक्कमामि भंते ! वदपडिमाए विदिए गुणव्वदे आणयणेण वा विणिजोगेण वा सद्दाणुवाएण वा रूवाणुवाएण वा पुग्गलखेवेण वा जो मए देवसिओ अइचारो मणसा वच्चिया काएण कदो वा कारिदो वा कीरंतो वा समणुमण्णिदो तस्स मिच्छा मे दुक्कडं ॥ २-७-२ ॥

पडिक्कमामि भंते ! वदपडिमाए तिदिए गुणव्वदे कंदप्पेण वा कुकुवेएण वा मोक्खरिएण वा असमक्खियाहिकरणेण वा भोगोपभोगाणत्थकेण वा जो मए देवसिओ अइचारो मणसा वच्चिया काएण कदो वा कारिदो वा कीरंतो वा समणुमण्णिदो तस्स मिच्छा मे दुक्कडं ॥ २-८-३ ॥

पडिक्कमामि भंते ! वदपडिमाए पढमे सिक्खावदे फासिंदियभोगपरिमाणाइक्कमणेण वा रसणिंदियभोगपरिणाइक्कमणेण वा घाणिंदियभोगपरिमाणाइक्कमणेण वा सवणिंदियभोगपरिमाणाइक्कमणेण वा जो मए देवसिओ अइचारो मणसा वच्चिया काएण कदो वा कारिदो वा कीरंतो वा समणुमण्णिदो तस्स मिच्छा मे दुक्कड ॥ २-९-१ ॥

पडिक्कमामि भंते ! वदपडियाए विदिए सिक्खावदे फासिंदियपरिभोगपरिमाणाइक्कमणेण वा रसणिंदियपरिभोगपरिमाणाइक्कमणेण वा घाणिंदियपरिभोगपरमाणाइक्कमणेण वा चक्खिंदियपरिभोगपरिमाणा-

इक्कमणेण वा सवणिंदियपरिभोगपरिमाणाइक्कमणेण वा जो मए देव-सिओ अइचारो मणसा वचिया काएण कदो वा कारिदो वा कीरंतो वा समणुमण्णिदो तस्स मिच्छा मे दुक्कडं ॥ २-१०-२ ॥

पडिक्कमामि भंते ! वदपडिमाए तिदिए सिक्खावदे सचित्तणिक्खेवेण वा सचित्तापिहाणेण वा परउवएसेण वा कालाइक्कमणेण वा मच्छरिएण वा जो मए देवसिओ अइचारो मणसा वचिया काएण कदो वा कारिदो वा कीरंतो वा समणुमण्णिदो तस्स मिच्छा मे दुक्कड ॥२-११-३॥

पडिक्कमामि भंते ! वदपडिमाए चउत्थे सिक्खावदे जीविदासंसणेण वा मरणासंसणेण वा मित्ताणुराएण वा सुहाणुबंधेण वा णिदाणेण वा जो मए देवसिओ अइचारो मणसा वचिया काएण कदो वा कारिदो वा कीरंतो वा समणुमण्णिदो तस्स मिच्छा मे दुक्कड ॥ २-१२-४ ॥

पडिक्कमामि भंते ! सामाइयपडिमाए मणदुप्पणिधाणेण वा वायदुप्पणिधाणेण वा कायदुप्पणिधाणेण वा अणादरेण वा सदिअणुवट्ठावणेण वा जो मए देवसिओ अइचारो मणसा वचिया काएण कदो वा कारिदो वा कीरंतो वा समणुमण्णिदो तस्स मिच्छा मे दुक्कडं ॥ ३ ॥

पडिकमामि भंते ! पोसहपडिमाए अप्पडिवेक्खियापमज्जियोस्सग्गेण वा अप्पडिवेक्खियापमज्जियादाणेण वा अप्पडिवेक्खियापमज्जियासंथारोवक्कमणेण वा आवस्सयाणादरेण वा सदिअणुवट्ठावणेण वा जो मए देवसिओ अइचारो मणसा वचिया काएण कदो वा कारिदो वा कीरंतो वा समणुमण्णिदो तस्स मिच्छा मे दुक्कडं ॥ ४ ॥

पडिक्कमामि भंते ! सचित्तविरदिपडिमाए पुढविकाइया जीवा असंखेज्जासंखेज्जा आउकाइया जीवा असंखेज्जासंखेज्जा तेउकाइया जीवा असंखेज्जासंखेज्जा वाउकाइया जीवा असंखेज्जासंखेज्जा वणप्फदिकाइया जीवा अणंताअणंता हरिया वीया अंकुरा छिण्णा भिण्णा एदेसिं उद्दावणं परिदावणं विराहणं उवघादो कदो वा कारिदो वा कीरंतो वा समणुमण्णिदो तस्स मिच्छा मे दुक्कडं ॥ ५ ॥

पडिक्कमामि भंते ! रायभत्तपडिमाए णवविहबंभचरियस्स दिवा

जो मये देवसिओ अइचारो अणाचारो मणसा वचिया काएण कदो वा कारिदो वा कीरंतो वा समणुमण्णिदो तस्स मिच्छा मे दुक्कडं ॥६॥

पडिक्कमामि भंते ! वभपडिमाए इत्थिकहायत्तणेण वा इत्थिमणोहररंगणिरक्खणेणवा पुव्वरयाणुस्सरणेण वा कामकोवणरसासेवणेण वा सरीरमंडणेण वा जो मए देवसिओ अइचारो अणाचारो मणसा वचिया काएण कदो वा कारिदो वा कीरंतो वा समणुमण्णिदो तस्स मिच्छा मे दुक्कड ॥७॥

पडिक्कमामि भंते ! आरंभविरदिपडिमाए कसायवसंगएण जो मए देवसियो आरंभो मणसा वचिया काएण कदो वा कारिदो वा कीरंतो वा समणुमणिणदो तस्स मिच्छा मे दुक्कडं ॥८॥

पडिक्कमामि भंते ! परिग्गहविरदिपडिमाए वत्थमेत्तपरिग्गहादो अवरम्मि परिग्गहे मुच्छापरिणामे जो मए देवसिओ अइचारो अणाचारो कदो वा कारिदो वा कीरंतो वा समणुमण्णिदो तस्स मिच्छा मे दुक्कडं॥९॥

पडिक्कमामि भंते ! अणुमणुविरदिपडिमाए जं किं पि अणुमणणं पुट्ठापुट्ठेण कद वा कारिदं वा कीरंतं वा समणुमण्णिदो तस्स मिच्छा मे दुक्कडं ॥१०॥

पडिक्कमामि भंते ! उद्दिट्ठविरदिपडिमाए उद्दिट्ठदोसवहुलं अहोरदियं आहारयं अहारदियं आहारिज्जंतं वा समणुमण्णिदो तस्स मिच्छा मे दुक्कड ॥११॥

इच्छामि भंते ! इम णिग्गथ पावयणं अणुत्तरं केवलय पडिपुण्णं णेगाइय सामाइय संसुद्ध सल्लघट्टाण सल्लघत्ताणं सिद्धिमाग्गं सेढिमग्गं खंतिमग्गं मोत्तिमग्ग पमोत्तिमग्गं मोक्खमग्ग पमोक्खमग्गं णिज्जाणमग्गं णिव्वाणमग्ग सव्वदुक्खपरिहाणिमग्गं सुचरियपरिणिव्वाणमग्गं अवितहमविसंतिपव्वयणमुत्तमं त सद्दहामि त पत्तियामि त रोचेमि तं फासेमि इदो उत्तरं अण्ण णत्थि भूदं ण भयं ण भविस्सदि णाणेण वा दसणेण वा चरित्तेण वा सुत्तेण वा इदो जीवा सिज्झति वुज्झति मुच्चंति परिणिव्वाणयंति सव्वदुक्खाणमंतं करंति परिवियाणंति समणोमि संजदोमि उवरदोमि

उवसंतोमि उवधिणियडियमाणमायामोसमूरणा मिच्छणाणमिच्छदंसणमिच्छ-चरित्तं च पडिविरदोमि सम्मणाणसम्मदंसणसम्मचरित्तं च रोचेमि जं जिण-वरेहिं पण्णत्तो इत्थ मे जो कोइ देवसिओ अइचारो अणाचारो तस्स मिच्छा मि दुक्कडं ।

इच्छामि भंते ! वीरभत्तिकाउस्सग्गं करेमि जो मए देवसिओ अइ-चारो अणाचारो आभोगो अणाभोगो काइयो वाइयो माणसिओ दुच्चरिओ दुच्चारिओ दुब्भासिओ दुप्परिणामिओ णाणे दसणे चरित्ते सुत्ते सामाइए एयारसण्हं पडिमाणं विराहणाए अट्ठविहस्स कम्मस्स णिग्घादणाए अण्णहा उस्सासिदेण णिस्सासिदेण वा उम्मिसिदेण णिम्मिस्सिदेण खासिदेण वा छिंकिदेण वा जंभाइदेण वा सुहुमेहिं अंगचलाचलेहिं दिट्ठिचलाचलेहिं एदेहिं सव्वेहिं असमाहिं पत्तेहिं आयारेहिं जाव अरहंताणं भयवंताणं पज्जु-वासं करेमि ताव कायं पाव कम्मं दुच्चरियं वोस्सरामि ।

दंसणवयसामाइयपोसहसच्चित्तराइभत्ते य ।
बंभारंभपरिग्गहअणुमणुमुद्दिट्ठदेसविरदेदे ॥ १ ॥

वीरभत्तिकाउस्सग्गं करेमि---

(णमो अरहंताणमित्यादि, थोस्सामीत्यादि जाप्य ३६ देवा) ।

यः सर्वाणि चराचराणि विधिवद्द्रव्याणि तेषां गुणान् पर्यायानपि भूतभाविभवतः सर्वान् सदा सर्वदा । जानीते युगपत्प्रतिक्षणमतः सर्वज्ञ इत्युच्यते सर्वज्ञाय जिनेश्वराय महते वीराय तस्मै नमः ॥ १ ॥ वीरः सर्व-सुरासुरेन्द्रमहितो वीरं बुधाः संश्रिता वीरेणाभिहतः स्वकर्मनिचयो वीराय भक्त्या नमः वीरात्तीर्थमिदं प्रवृत्तमतुलं वीरस्य वीरं तपो वीरे श्री-द्युति-कांति-कीर्ति-धृतयो हे वीर ! भद्रं त्वयि ॥ २ ॥ ये वीरमादौ प्रणमंति नित्यं ध्यानास्थिताः संयमयोगयुक्ताः । ते वीतशोका हि भवन्ति लोके संसारदुर्गं विषमं तरंति ॥ ३ ॥ व्रतसमुदयमूलः संयमस्कन्धबन्धो यमनियमपयोभि-र्वर्धितः शीलशाखः । समितिकलिकभारो गुप्तिगुप्तप्रवालो गुणकुसुमसुगंधिः

सत्तपश्चित्रपत्रः ॥ ४ ॥ शिवसुखफलदायी यो दयाछाययोघः शुभजन-पथिकानां खेदनोदे समर्थः । दुरितरविजताप प्रापयन्नन्तभावं स भवविभवहान्यैनोऽस्तु चारित्रवृत्तः ॥ ५ ॥ चारित्र सर्वजिनैश्चरितं प्रोक्तं च सर्वशिष्येभ्यः । प्रणमामि पचभेदं पचमचारित्रलाभाय ॥ ५ ॥ धर्मः सर्व-सुखाकरो हितकरो धर्मं वुधाश्चिन्वते धर्मेणैव समाप्यते शिवसुखं धर्माय तस्मै नमः। धर्मान्नास्त्यपरः सुहृद्भवभृतां धर्मस्य मूल दया धर्मे चित्त-महं दधे प्रतिदिन हे धर्म ! मा पालय ॥ ७ ॥ धम्मो मगलमुद्दिट्ठं अहिंसा संयमो तवो । देवा वि तस्म पणमति जस्स धम्मे सया मणो ॥ ८ ॥

इच्छामि भंते ! पडिकमणाइचारमालोचेउं तत्थ देसासिआ आसणा-सिआ ठाणासिआ कालासिआ मुद्दासिआ काओसग्गासिआ पणमासिआ आवत्तासिआ पडिक्कमासिए छसु आवासएसु परिहीणदा जो मए अच्चा-सणा मणसा वचिया काएण कदो वा कारिदो वा कीरंतो वा समणुम-ण्णिदो तस्स मिच्छा मि दुक्कडं ।

दसण-वय सामाइय-पोसह-सच्चित्त-रायभत्ते य ।
वंभारंभ परिग्गह-अणुमणमुद्दिट्ठ देसविरदो य ॥ १ ॥

चउवीसतित्थयरभत्तिकाउस्सग्गं करेमि--

(णमो अरहताणमित्यादि, थोस्सामीत्यादि)

चउवीसं तित्थयरे उसहाइवीरपच्छिमे वंदे । सव्वेसिं गुणगणहरसिद्धे सिरसा णमंसामि ॥१॥ ये लोकेष्टसहस्रलक्षणधरा ज्ञेयार्णवान्तर्गता ये सम्य-कभवजालहेतुमथनाश्चन्दार्कतेजोधिकाः । ये साध्विन्द्रसुराप्सरोगणशतै-र्गीतप्रणुत्यार्चिता-स्तान् देवान् वृभादिवीरचरमान् भक्त्या नमस्याम्यहम् ॥ २ ॥ नाभेय देवपूज्यं जिनवरमजित सर्वलोकप्रदीपं सर्वज्ञं संभवाख्यं मुनिगणवृपभं नन्दनं देवदेवम् । कर्मारिघ्नं सुवुद्धिं वरकमलनिभ पद्मपुष्पा-भिगन्धं क्षान्त दान्तं सुपार्श्वं सकलशशिनिभं चन्द्रनामानमीडे ॥ ३ ॥ विख्यात पुष्पदन्त भवभयमथनं शीतलं लोकनाथं श्रेयांसं शीलकोश प्रव-रनरगुरु वासुपूज्यं सुपूज्यम्। मुक्तं दान्तेन्द्रियाश्व विमलमृपिपतिं सिंह-

सैन्यं मुनीन्द्रं धर्म सद्धर्मकेतुं शमदमनिलयं स्तौमि शांतिं शरण्यम् ॥४॥ कुन्थुं सिद्धालयस्थ श्रमणपतिमरं त्यक्तभोगेषु चक्रं मल्लिं विख्यातगोत्र खचरगणनुतं सुव्रतं सौख्यराशिम् । देवेन्द्राच्यं नमीश हरिकुलतिलक नेमिचन्द्र भवान्त पार्श्वं नागेन्द्रवन्द्य शरणमहमितो वर्धमानं च भक्त्या॥५॥

अंचलिका----

इच्छामि भंते ! चउवीसतित्थयरभत्तिकाउस्सग्गो कओ तस्सालोचेउ पञ्चमहाकल्लाणसंपण्णाणं अट्ठमहापाडिहेरसहिदाणं चउतीसातिसयविसेस-संजुत्ताणं बत्तीसदेविंदमणिमउडमत्थयमहिदाण बलदेव-वासुदेव-चक्कहर-रिसिमुणिजइअणगारोवगूढाणं थुइसहस्सणिलयाण उसहाइवीरपच्छिममङ्ग-लमहापुरिसाण णिच्चकालं अंचेमि पूजेमि वंदामि णमंसामि दुक्खक्खओ कम्मक्खओ बोहिलाहो सुगइगमण समाहिमरण जिणगुणसंपत्ति होउ मज्झं ।

दसण-वय सामाइय-पोसह-सचित्त-रायत्ते य ।
बंभारंभ-परिग्गह-अणुमणमुद्दिट्ठ देसविरदो ॥ १ ॥

श्रीसिद्धभक्ति-श्रीप्रतिक्रमणभक्ति-श्रीवीरभक्ति-श्रीचतुर्विंशतिभक्तीः कृत्वा तद्धीनाधिकत्वादिदोषविशुद्धयर्थं समाधिभक्ति कायोत्सर्गं करोम्यहं—

(णमोकार ९ गुणिवा)

अथेष्टप्रार्थना प्रथमं करण चरण द्रव्य नमः शास्त्राभ्यासो जिनपति-नुतिः संगतिः सर्वदार्यैः सद्वृत्तानां गुणगणकथा दोषवादे च मौनम् । सर्वस्यापि प्रियहितवचो भावना चात्मतत्वे सम्पद्यन्तां मम भवभवे याव-देतेऽपवर्गः ॥ १ ॥ तव पादौ मम हृदये मम हृदय तव पदद्वये लीनं । तिष्ठतु जिनेन्द्र ! तावद्यावन्निर्वाणसम्प्राप्तिः ॥ २ ॥ अक्खरपयत्थहीण मत्ताहीण च जं भए भणियं । तं खमउ णाणदेव य मज्झ वि दुक्खक्खयं दिंतु ॥ ३ ॥ दुक्खक्खओ कम्मक्खओ बोहिलाहो सुगइगमण समाहि-मरण जिणगुणसंपत्ति होउ मज्झं ।

इति श्रीश्रावकप्रतिक्रमण समाप्तम् ।

दीक्षा-नक्षत्राणि

प्रणम्य शिरसा वीरं जिनेन्द्रममलव्रतम् । दीक्षा ऋक्षाणि वक्ष्यन्ते सतां शुभफलाप्तये ॥ १ ॥ भरण्युत्तरफाल्गुन्यौ मघाचित्राविशखिकाः । पूर्वाभाद्रपदा भानि रेवती मुनि-दीक्षणे ॥ २ ॥ रोहिणी चोत्तराषाढा उत्तराभाद्रपत्तथा । स्वातिः कृत्तिकया सार्धं वर्ज्जते मुनिदीक्षणे ॥ ३ ॥ अश्विनी-पूर्वाफाल्गुन्यौ हस्तस्वात्यनुराधिकाः । मूलं तथोत्तराषाढा श्रवणः शतभिषक्तथा ॥ ४ ॥ उत्तराभाद्रपच्चापि दशेति विशदाशयाः । अर्यिकाणां व्रते योग्यान्युपन्ति शुभहेतवः ॥ ५ ॥ भरण्यां कृत्तिकायां च पुष्पे श्लेषार्द्रयोस्तथा । पुनर्वसो च नो दद्युरार्यिकाव्रतमुत्तमाः ॥ ६ ॥ पूर्वाभाद्रपदा मूल धनिष्ठा च विशाखिका । श्रवणश्चैषु दीक्ष्यन्ते क्षुल्लकाः शल्यवर्जिताः ॥ ७ ॥

इति दीक्षानक्षत्रपटलम्

—*—

दीक्षा ग्रहणक्रिया

सिद्धयोगिबृहद्भक्तिपूर्वकं लिङ्गमर्प्यताम् ।
लुञ्चाख्यानाग्न्यपिच्छात्म क्षम्यतां सिद्धभक्तितः ॥

अथदीक्षाग्रहण क्रियायां .... सिद्धभक्तिकायोत्सर्गं करोमिः—

('सिद्धानुद्धूत' इत्यादि)

अथ दीक्षाग्रहण क्रियायां .... योगिभक्तिकायोत्सर्गं करोमि (थोस्सामि गुणधराणां इत्यादि जातिजरोरूरोग इत्यादि वा) अनन्तरं लोचकरण, नामकरण, नाग्न्यप्रदानं, पिच्छप्रदानं च अथ दीक्षा निष्ठापनक्रियाया .....सिद्धभक्ति कायोत्सर्गं करोमि ।

दीक्षादानोत्तरकर्त्तव्यम्—

व्रतसमितीन्द्रियरोधाः पंच पृथक क्षितिशयो रदाघर्षः ।
स्थितिसकृदशने लुञ्चवश्यकषट्के विचेलताऽस्नानम् ॥

इत्यष्टविंशति मूलगुणान् निक्षप्य दीक्षिते।
संक्षेपेण सशीलादीन् गणी कुर्यात्प्रतिक्रमम् ॥

लोचक्रिया

लोचो द्वित्रिचतुर्मासैर्वरो मध्योऽधमः क्रमात्।
लघु प्राग्भक्तिः कार्यः सोपवास प्रतिक्रमः ॥

अथ लोच प्रतिष्ठापनक्रियायां····· सिद्धभक्तिकायोत्सर्गं करोमि–
('तवसिद्धे' इत्यादि)

अथ लोच प्रतिष्ठापनक्रियायां······योगिभक्तिकायोत्सर्गं करोमि अनन्तरं स्वहस्तेन परहस्तेनापि वा लोचः कार्यः।

अथ लोच-निष्ठापनक्रियाया·····सिद्धभक्तिकायोत्सर्गं करोमि ('तवसिद्धे' इत्यादि) अनन्तरं प्रतिक्रमणं कर्तव्यम्।

बृहद्दीक्षाविधिः

पूर्वदिने भोजनसमये भाजनतिरस्कारविधिं विधाय आहारं गृहीत्वा चैत्यालये आगच्छेत्। ततो बृहत्प्रत्याख्यानप्रतिष्ठापने सिद्धयोगभक्तिं पठित्वा गुरुपार्श्वे प्रत्याख्यान सोपवासं गृहीत्वा आचार्य-शांति समाधि-भक्तीः पठित्वा गेरोः प्रणामं कुर्यात्।

अथ दीक्षादाने दीक्षादातृजनाशांतिक-गणधरवलयपूजादिकं यथाशक्ति कारयेत्। अथ दाता तं स्नानादिकं कारयित्वा यथायोग्यालङ्कार-युक्तं महामहोत्सवेन चैत्यालये समानयेत्। स देवशास्त्र-गुरूपूजां विधाय वैराग्यभावनापरः सर्वैः सह क्षयां कृत्वा गुरोरग्रेनिष्ठत्।

ततो गुरोरग्रे संघस्याग्रे दीक्षायै च यांचां कृत्वा तदाज्ञया सौभाग्यवती–स्त्री-विहितस्वस्तिकोपरि श्वेतवस्त्र प्रच्छाद्य तत्र पूर्वदिशाभिमुखः पर्यंकासनं कृत्वा आसते गुरुश्चोत्तराभिमुखो भूत्वा संघाष्टकं संघं च परिपृच्छय लोचं कुर्यात्।

अथ तद्विधिः--

बृहद्दीक्षायां लोचस्वीकारक्रियाया पूर्वाचार्येत्यादिकमुच्चार्य सिद्ध-योगि-भक्ति कृत्वा—

ॐनमोऽर्हते भगवते प्रक्षीणाशेषकल्मषाय दिव्यतेजोमूर्तये श्रीशांति-नाथाय शांतिकराय सर्वविघ्नप्रणाशनाय सर्वरोगापमृत्युविनाशनाय सर्व-परकृतक्षुद्रोपद्रवविनाशनाय सर्वक्षामडामरविनाशाय ओ ह्रां ह्रीं ह्रूं ह्रौं ह्रः अ सि आ उ सा अमुकस्य सर्व शांतिं कुरु कुरु स्वाहा।

इत्येनेन मंत्रेण गन्धोदकादिक त्रिवारं मंत्रयित्वा शिरसि निक्षिपेत्। शांतिमंत्रेण गधोदकं त्रिः परिषिंच्य मस्तकं वामहस्तेन स्पृशेत्। ततो दध्यक्षतगोमयदूर्वा कुरान् मस्तके वर्धमानमंत्रेण निक्षिपेत्–

ॐ नमो भयवदोवड्ढमाणस्स रिसहस्स चक्कं जलंतं गच्छइ आयासं पायाल लोयाणं भूयाण जये वा विवादे वा थंभणे वा रणगणे वा राय-गणे वा मोहण वा सव्वजीवसन्ताणं अपराजिदो भवदु भवदे रक्ख रक्ख स्वाहा वर्धमान मंत्रः।

ततः पवित्रभस्मपात्र गृहीत्वा "ओं णमो अरहंताणं रत्नत्रयपविमिक्-चोत्तमांगाय ज्योतिर्मयाय मतिश्रुतावधिमनः पर्ययकेवलज्ञानाय असि आउसा स्वाहा" इदं मंत्र पठित्वा शिरसि कर्पूर मिश्रितं भस्म परिक्षिप्य "ओं ह्रीं श्रीं क्लीं ऐं अर्हं अ सि आ उ सा स्वाहा अनेन प्रथमं केशोत्पाटन कृत्वा पश्चात् "ओं ह्रां अर्हद्भ्यो नमः, ओं ह्रीं सिद्धेभ्यो नमः, ओं ह्रूं सूरिभ्यो नमः, ओं ह्रौं पाठकेभ्यो नमः, ओं ह्रः सर्वसाधुभ्यो नमः" इत्युच्चरन् गुरुः स्वहस्तेन पंचवारान् केशान् उत्पाटयेत्। पश्चादन्यः कोऽपि लोचावसाने बृहद्दी-क्षायां लोचनिष्ठापनक्रियाया पूर्वाचार्येत्यादिक पठित्वा सिद्धभक्ति (क्तिं) कर्तव्या (कुर्यात्) ततः शीर्ष प्रक्षाल्य गुरुभक्ति कृत्वा वस्त्राभरणयज्ञो-पवीतादिकं परित्यज्य तत्रैवावस्थाप्य दीक्षा याचयेत्। ततो गुरुः शिरसि श्रीकारं लिखित्वा "ओं ह्रीं अर्हं अ सि आ उ सा ह्रीं स्वाहा" अनेन १०८ मंत्रेण जाप्यं दद्यात्। ततो गुरुस्तस्याजलौ केशरकर्पूरश्रीखंडेन श्रीकरं कुर्यात्।

श्रीकारस्य चतुर्दिक्षु—

रयणत्तयं च वंदे चउवीसजिणं तहा वंदे ।
पचगुरूणं वंदे चारणजुगलं तहा वंदे ॥

इति पठन् अंकान् लिखेत् । पूर्वे ३ दक्षिणे २४ पश्चिमे ५ उत्तरे २ इति लिखित्वा "सम्यगदर्शनाय नमः सम्यक्चारित्राय नमः" इति पठन् तन्दुलैरञ्जलिं पूर्यत्तदुपरि नालिकेरं पूगीफल च धृत्वा सिद्धचारित्रयोगिभक्तिं पठित्वा व्रतादिकं दद्यात् ।

तथा हि—

वदसमिदिंयरोधो लोचो, आवासयमचेलमण्हाणं ।
खिदिसयणमदंतवणं ठिदिभोयणमेयभत्तं च ॥ २ ॥

इति पठित्वा तदुव्याख्या विधेया कालानुसारेणेति निरूप्य पचमहाव्रत-पंचसमित्यादि पठित्वा सम्यक्त्वपूर्वकं दृढव्रत सुव्रतं समारूढ ते भवतु इति त्रीनवारान् उच्चार्य व्रतानि दत्त्वा तथा शांतिभक्तिं पठेत् । ततः आशोः श्लोक पठित्वा अंजलिस्थं तन्दुलादिक दात्रे दापयित्वा अथ षोडशसंस्कारारोपणं—

अयं सम्यग्दर्शनसंस्कार इह मुनौ स्फुरतु ॥ १ ॥
अयं सम्यग्ज्ञानसंस्कार इह मुनौ स्फुरतु ॥ २ ॥
अय सम्यक्चारित्रसंस्कार इह मुनौ स्फुरतु ॥ ३ ॥
अय बाह्याभ्यतरतपःसंस्कार इह मुनौ स्फुरतु ॥४॥
अयं चतुरगवीर्यसंस्कार इह मुनौ स्फुरतु ॥ ५ ॥
अयं अष्टमातृमंडलसंस्कार इह मुनौ स्फुरतु ॥ ६ ॥
अयं शुद्ध्यष्टकावष्टंभसंस्कार इह मुनौ स्फुरतु ॥ ७ ॥
अयं अशेषपरीषहजयसंस्कार इह मुनौ स्फुरतु ॥ ८ ॥
अयं त्रियोगसंगमनिवृत्तिशीलतासंस्कार इह मुनौ स्फुरतु ॥ ९ ॥
अयं त्रिकरणसंयमनिवृत्तिशीलतासंस्कार इह मुनौ स्फुरतु ॥ १० ॥
अयं दशासंयमनिवृत्तिशीलतासंस्कार इह मुनौ स्फुरतु ॥ ११ ॥
अयं चतुःसंज्ञानिग्रहशीलतासंस्कार इह मुनौ स्फुरतु ॥ १२ ॥

अयं पंचेंद्रियजयशीलतासंस्कार इह मुनौ स्फुरतु ॥ १३ ॥
अयं दशधर्मधारणशीलतासंस्कार इह मुनौ स्फुरतु ॥ १४ ॥
अयं मष्टादशसहस्रशीलतासंस्कार इह मुनौ स्फुरतु ॥ १५ ॥
अयं चतुरशीतिलक्षणसंस्कार इह मुनौ स्फुरतु ॥ १६ ॥

इति प्रत्येकमुच्चार्य शिरसि लवंगपुष्पाणि क्षिपेत 'णमो अरहंताणं' इत्यादि ओ परमहंसाय परिमेष्ठिने हंस ह्स ह्रं ह्र। ह्रं ह्रौं ह्रीं ह्रै ह्रः जिनाय नमः जिन स्थापयामि संवौषट् ऋषिमस्तके न्यसेत् अथ गुर्वावली पठित्वा अमुकस्य अमुकनामा त्वं शिष्य इति कथयित्वा संयमाद्युपकरणानि दद्यात्।

णमो अरहंताणं भो अन्तेवासिन्! षड्जीवनिकायरक्षणाय मार्दनादि-गुणोपेतमिद पिच्छिकोंपकरणं गृहाण गृहाणेति ।

ओं णमो अरहंताणं मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलज्ञानाय द्वादशांग-श्रुताय नमः भो अन्तेवासिन् । इदं ज्ञानोपकरणं गृहाण गृहाणेति ।

कमंडलु वामहस्तेन उद्धृत्य ओं णमो अरहंताणं रत्नत्रयपवित्रकरणाय बाह्याभ्यंतरमलशुद्धाय नमः भो अन्तेवासिन् ! इद शौचोपकरणं गृहाण गृहाणेति ।

तत्पश्चात् समाधि-भक्ति पठेत् । ततो नवदीक्षितो मुनिर्भक्त्या गुरुं प्रणम्य अन्यान् मुनीन् प्रणम्योपविशतियावद् व्रतारोपणं न भवति ताव-दन्ये मुनयः प्रतिवन्दना न ददति ततो दातृप्रमुखा जना उत्तमफलानि अग्रे निधाय तस्मै नमोऽस्त्वति प्रणामं कुर्वंति ।

ततस्तत्पक्षे द्वितीयपक्षे वा सुमुहूर्ते व्रतारोपणं कुर्यात् । तदा रत्न-त्रयपूजां विधाय पाक्षिकप्रतिक्रमणपाठः पठनीयः तत्र पाक्षिकनियमग्रहणसमयात पूर्वं यदा वदसमदीत्यादि पठ्यते तदा पूर्वव्रतव्रतादि दद्यात् । नियमग्रहण समय यथायोग्यं एकं तपो दद्यात् (पल्यविधानादिकम्) दातृ-प्रभृतिश्रावकेभ्योऽपि एक एक तपो दद्यात् ततोऽन्ये मुनयः प्रतिवन्दना ददति ।—

अथ मुखशुद्धि मुक्तकरणे विधिः—

त्रयो दशसु पंचसु त्रिषु वा कच्चोलिकासु लवंगएलापूगोफलादिकं

निक्षिप्य ताः कच्चोलिकाः गुरोरग्रे स्थापयेत् 'मुखशुद्धिमुक्तकरणपाठक्रिया-यामित्याद्युच्चार्य सिद्ध योगी आचार्य शांति-समाधि भक्तिर्विधाय ततः पश्चान्मुखशुद्धिं गृह्णीयात् ।

इति महाव्रतदीक्षा विधिः

क्षुल्लक दीक्षा विधिः

अथ लघुदीक्षायां सिद्ध-योगी-शांति-समाधिभक्तीः पठेत् । "ओं ह्रीं श्रीं क्लीं ऐं अर्हं नमः" अनेन मन्त्रेण जाप्यं वार २१ अथवा १०८ दीयते ।

अन्यच्च विस्तारेण लघुदीक्षाविधिः

अथ लघुदीक्षानेतृजनः पुरुषः स्त्री वा दाता संस्थापयति । यथा-योग्यमलंकृतं कृत्वा चैत्यालये समानयेत्, देव वंदित्वा सर्वै सह क्षमां कृत्वा गुरोरग्रे च दीक्षां याचयित्वा तदाज्ञया सौभाग्यवतीस्त्री विहितस्व-स्तिकोपरि श्वेतवस्त्रं प्रच्छाद्य तत्र पूर्वाभिमुखः पर्यंकासनो गुरुश्चोत्तरा-भिमुखः संघाष्टं संघं पृच्छ्य च परिपृच्छ्य लोचं······ओं नमोऽर्हते भगवते प्रक्षीणाशेषकल्मषाय दिव्यतेजोमूर्तये शांतिनाथाय शांतिकराय सर्वविघ्नप्रणाशकाय सर्वरोगापमृत्युविनाशनाय ओं ह्रां ह्रीं ह्रूं ह्रौं ह्रः अ सि आ उ सा अमुकस्य सर्वशांतिं कुरु कुरु स्वाहा, अनेन मंत्रेण गंधोद-कादिकं त्रिवारं शिरसि निक्षिपेत् । शांतिमंत्रेणं गधोदकं पारंत्रि परिषिंच्य वामहस्तेन स्पृशेत् । ततो दध्यक्षतगोमयतन्दुल दुर्वांकुरान् मस्तके वर्धा-पनमंत्रेण निक्षिपेत् "ओं णमो भयवदो वड्ढयमाणस्सेत्यादि वर्धापनमत्रः पूर्वं कथितः । लोचादिविधि महाव्रतंव्विधाय सिद्धभक्ति योगभक्ति पठित्वाव्रतं दद्यात् ।—

दंसणवयेत्यादि वारत्रयं पठित्वा व्याख्यायां विधाय च गुर्वावलीं पठेत् । ततः संयमाद्युपकरणं दद्यात् । ओं णमो अरहंताणं भो क्षुल्लक ! (आर्ये-ऐलक) क्षुल्लके वा षट्जीवनिकायरक्षणाय मार्दवादिगुणोपेतमिदं पिच्छो-

पकरणं गृहाण गृहाण इत्यादि पूर्ववत्कमडण्लु ज्ञानोपकरणादिकं च मत्र पठित्वा दद्यात्।

इति लघुदीक्षा विधान समाप्तम्

—*—

अथोपाध्यायदीक्षादानविधिः

शुभ मूहूर्ते दाता गणधरवलयार्चनं च कारयेत्। ततः श्रीखंडादिना छटान् दत्वा तन्दुलैः स्वस्तिकं कृत्वा तदुपरि पट्टकं संस्थाप्य तत्र पूर्वाभिमुख तमुपाध्यायपदयोग्यं मुनिमासयेत् अथोपाध्यायपदस्थापनक्रियायां पूर्वाचार्येत्याद्युच्चाय सिद्ध श्रुतभक्ति पठेत्। तत आह्वानादिमत्रानुच्चार्य शिरसि लवग पुष्पाक्षतं क्षिपेत् तद्यथा-ओं ह्रौं णमो उवज्झायाणं उपाध्यायपरमेष्ठिन्! अत्र एहि एहि संवौषट आह्वानन स्थापनं सन्निधिकरणं। ततश्च "ओं ह्रौं णमो उवज्झायाण उपाध्यायपरमेष्ठिने नमः" इमं मत्रं सहेंदुना चन्दनेन शिरसि न्यसेत। ततश्च शान्तिसमाधिभक्तीः पठत्। ततः स उपाध्यायो गुरूभक्ति दत्वा प्रणम्य दात्र आशिष दद्यादिति।

इत्युपाध्यायपदस्थानविधिः

—*—

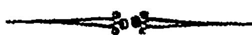
अथाचार्यपदास्थापनाविधिः

सुमुहूर्ते दाता शांतिकं गणधरवलयार्चनं च यथाशक्ति कारयेत्। ततः श्रीखंडादिना छटादिकं कृत्वा आचार्यपदयोग्यं मुनिमासयेत्। आचार्यपदप्रतिष्ठापनक्रियायां इत्याद्युच्चार्य सिद्धाचार्यभक्ति पठेत्। "ओं ह्रूं परमसुराभिद्रव्यसन्दर्भपरिमलगर्भतीर्थाम्बुसम्पूर्णसुवर्णकलशपचकतोयेन परिषेचयामीति स्वाहा" इति पठित्वा कलशपचकतोयेन पादौपरिसेचयेत्। ततः पंडिताचार्यो "निर्वेद सौष्ठीइत्यादि महर्षिस्तवन पठनपादौ समंतात्परामृश्य गुणारोपण कुर्यात्। ततः ओं ह्रूं णमो आइरियाणं आचार्यपरमेष्ठिन्! अत्र एहि एहि संवौषट्ट आह्वानं स्थापन सन्निधिकरणं। ततश्च "ओं ह्रूं णमो आइरियाणं धर्माचार्याधिपतये नमः" अनेन मंत्रेण

सहेन्दुना चन्दनेन पादयोर्द्वयोस्तिलक दद्यात। ततः शान्तिसमाधिभक्तिं कृत्वा गुरुभक्त्या गुरुंप्रणम्योपविशति। तत उपासकास्तस्य पादयोरष्टत-मिमिष्ठि कुर्वंति। यतयश्चै गुरुभक्तिं दत्वा प्रणमंति। स उपाककेभ्य आशीर्वादं दद्यात्।

इत्याचार्यपददानविधिः

ओं ह्रां ह्रीं श्रीं अर्हं हं सः आचार्यायनमः आचार्यवचनमंत्रः अन्यच्च-
ओं ह्रीं श्रीं अर्हं हं सः आचार्याय नमः आचार्यमंत्रः।



मुनि एक स्थान पर कितने दिन रह सकते हैं?

मासं वासोऽन्यदैकत्र योगक्षेत्रं शुचौ व्रजेत्।
मार्गेऽतीते त्यजेच्चार्थवशादपि न लंघयेत्॥

अर्थ—चातुर्मासके सिवाय हेमन्तादि ऋतुओंमें मुनिगण एक नगरादि स्थानमें एक महीने तक ठहर सकता है। आषाढ़के महीने में वह श्रवणसक्त वर्षायोग स्थानको चला जाय और कार्तिकका महीना बीतते ही उस वर्षायोग स्थानको छोड़दे।

—क्रियाकलापे पृ० ३२६

